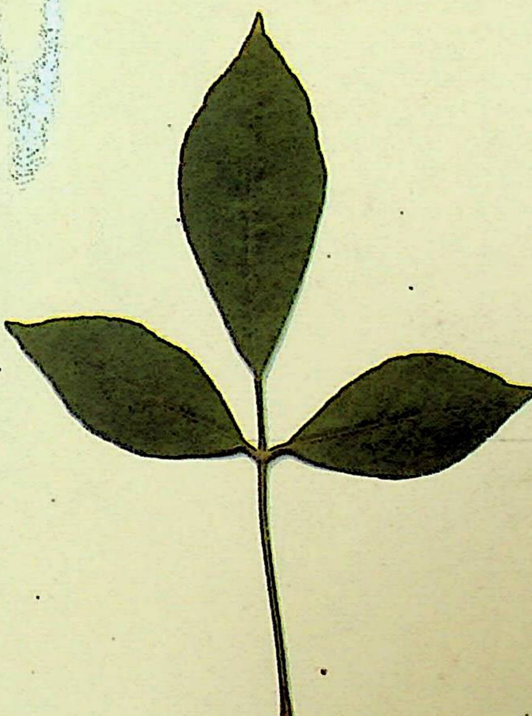
शिवप्रकाशम्

सन्त उमापति शिवाचार्य

(भावार्थ एवं व्याख्या सहित)



डॉ० रमा घोष

शिवप्रकाशम्

सन्त उमापति शिवाचार्य

(भावार्थ एवं व्याख्या सहित)

डॉ० रमा घोष

शिवप्रकाशम्

सन्त उमापति शिवाचार्य

(भावार्थ एवं व्याख्या सहित)

डॉ० रमा घोष
रीडर एवं विभागाध्यक्ष (अवकाश प्राप्त)
दर्शनशास्त्र
आर्य महिला पी.जी. कालेज, वाराणसी
एवं सदस्या परामर्शदातृसमिति
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठान
जंगमबाड़ी मठ, वाराणसी-२२१००१

PILGRIMS

पिल्ग्रिम्स पब्लिशिंग
वाराणसी

शिवप्रकाशम्

डॉ० रमा घोष

प्रकाशक
पिल्ग्रिम्स पब्लिशिंग
बी 27/98 ए-8, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी - 221010
दूरभाष - (91-542) 2314060
e-mail : pilgrimspublishingvns@gmail.com
website : www.pilgrimsonlineshop.com
www. pilgrimspublishing.in

प्रथम संस्करण – सन् 2019

संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी टाईप सेटिंग
अदिति भट्टाचार्या

लेआउट – सुरेश जायसवाल

ISBN : 978-93-5076-145-8

मुद्रण – भारत

सूची पत्र

प्राक्कथन
शैवसिद्धान्त

भारतीय शैव दर्शनों में शैवसिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि अन्यान्य शैवदर्शनों की तरह यह भी 'सिद्धान्तागमो' पर मौलिक रूप में आधारित है, परन्तु तमिल भाषा में लिखित परम्परागत शास्त्र आधारित प्रामाणिक कई ग्रन्थ शैवसिद्धान्त दर्शन के आधार माने जाते हैं। ये विभिन्न सन्तों द्वारा प्रतिपादित कुछ ऐसे आध्यात्मिक एवं रहस्यात्मक ग्रन्थ हैं, जो समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं। शैवसिद्धान्त के इन प्रामाणिक ग्रन्थों में सन्त तिरूमूलर द्वारा रचित 'तिरूमन्तिरम्' का विशेष स्थान है, क्योंकि उक्त ग्रन्थ को आगमाश्रित बताते हुए लेखक ने स्वयं उसे शैवसिद्धान्त के तात्त्विक, नैतिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों के विवेचन का आधार बताया है। तमिल भाषा के सम्पूर्ण शैवशास्त्र को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—स्तोत्र एवं शास्त्र। स्तोत्र साहित्य को चौदह ग्रन्थों के अन्तर्गत समाहित किया गया है, ये इस प्रकार हैं—१. निरूबुन्दियार, २. तिरूक्कलिदुप्पडियार, ३. शिवज्ञानबोधम्, ४. शिवज्ञानसिद्धियार, ५. इरूपाविरूपदु, ६. उणमैविलक्कम्, ७. शिवप्पिरकाशम्, ८. तिरूवरूट्पयन्, ९. वीणाबेनबा, १०. पोट्रीपर्होदई, ११. कोडिक्कवि, १२. नेञ्जुविडुतुतु, १३. उणमैनेरिविलक्कम्, १४.संकर्पनिराकरणम्।

शैवसिद्धान्त में पति, पशु, पाश तीन तत्त्व माने गये हैं। पति परमतत्त्व, नित्य, शाश्वत, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द शिव है। पशु अनादिकाल से आणवाघृत आत्मतत्त्व है। आणव वह पाश है, जो अनादि काल से आत्मा की स्वाभाविक ज्ञानसत्ता को आच्छादित करता हुआ आत्मा में ही विद्यमान रहता है। पाश त्रिरूप है—आणव, कर्म, मायीय। आणव मल जो अज्ञानता स्वरूप अन्धकार है, इसने अनादि काल से आत्मा को अज्ञानता के अन्धकार में आबद्ध किया हुआ है। शैव सिद्धान्त के अनुसार इस अन्धकार स्वरूप मूल पाश के कारण आत्मा ईश्वर से विच्छिन्न होकर अर्थात् ईश्वर-चैतन्य से लुप्त होकर जड़वत् रहती है। आत्मा का इस स्थिति से उद्धार करने के लिए ही माया एवं कर्म का संयोग होता है। शैव सिद्धान्त के अनुसार पाश यद्यपि त्रिरूप है अर्थात् आणव, कर्म एवं माया, तथापि इनमें कर्म एवं माया आंशिक प्रकाश को प्रदान करने में समर्थ है। क्योंकि ये दोनों ही शिव-शक्ति से संचालित होते हैं। शिव-शक्ति जिसे शैव सिद्धान्त में तिरोधान शक्ति कहा जाता है, अर्थात् जो शक्ति अपने को आच्छादित रखती हुई क्रियाशील होती है, उसी से सृष्टि एवं पालन का कार्य होता है। चित्-शक्ति विश्वव्यापी वह शक्ति है जो सृष्टि के प्रकाशन से प्रत्येक कण-कण में विद्यमान रहकर सारे विषयों का संचालन करती है। शैवसिद्धान्त के अनुसार शक्तितत्त्व के इस प्रकाशन की अत्यधिक महत्ता है। क्योंकि यही माया और कर्मरूपी पाशों में अन्तर्निहित रहकर जीवों के कल्याण के लिए

इन्हें संचालित करती है। यह तिरोधान शक्ति ही है जो जीव में अज्ञानता रूपी आणव मल को परिपक्व स्थिति में लाती है। कर्म वह मल है जो आत्मा को जन्म मृत्यु के चक्र में आबद्ध करता है। मायीय वह पाश है जिससे आत्मा को तनु-करण-भुवन-भोग इत्यादि उपभोग की सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं। कर्म एवं माया मल में आंशिक प्रकाशकत्व है, क्योंकि ये चित्-शक्ति के द्वारा प्रेरित होकर इस विश्व-संसार में कार्य करते हैं। ईश्वर की कृपा से आत्मा पाशमुक्त होती है। अज्ञानरूपी इस मूल मल की तुलना अन्धकार (ईरुल) से की गई है। ईश्वरीय कृपा को प्रकाश-स्वरूप-मार्ग (ओलिनेरी) कहा गया है। भक्ति एवं कृपा रूपी साधन शिव-शक्ति की ही अभिव्यक्ति है, जो उक्त दो धाराओं में प्रवाहित होती है। चित्-शक्ति के संचालन से माया रूपी उपादान कारण से सृष्टि होती है, जिसमें कर्मबन्धन से आवद्ध होकर आत्मा पाशबद्ध (पशु) स्थिति में जन्म-मृत्यु के आवर्तन के बन्धन में रहती है। क्रमश: मलपरिपाक, कर्मसाम्य होते हैं। मलपरिपाक पाश-बन्धन का शिथिल होना है एवं कर्मसाम्य कर्म की गतिशीलता को उत्पन्न करने के कारण की साम्यावस्था है। यह वह अनासक्त, निष्काम कर्म की स्थिति है जो बन्धन को उत्पन्न करने में असमर्थ रहती है। कर्म साम्य और मल-परिपाक होने पर शक्ति-निपात होता है, जो चार स्तर के हैं—मन्दतर, मन्द, तीव्र, तीव्रतर। साधक के आध्यात्मिक उत्कर्ष के अनुसार ही शक्ति-निपात के ये चार भेद हैं। यह सम्पूर्ण व्यापार ही चित्-शक्ति के द्वारा सम्पादित होता है। चित्-शक्ति की इस स्थिति को तिरोधान या तिरोधायी कहा जाता है। वास्तव में चित्-शक्ति वह तत्त्व है जो परम तत्त्व शिव से तादात्म्य है। शिव-तत्त्व ही जब सृजनात्मक क्रियाशीलता की स्थिति में होता है तव उसे शक्ति कहा जाता है। वास्तव में ये दोनों एक ही तत्त्व की दो स्थितियाँ हैं। शैव सिद्धान्त तिरोधान शक्ति का विशद विवेचन करता है। तिरोधानशक्ति के कर्तृत्व में ही आत्मा क्रमश: मोक्ष के मार्ग में अग्रसर होती है। इस स्थिति में तिरोधान शक्ति अपने स्वरूप को आच्छादित रखकर ही इस कार्य को सम्पन्न करती है। उपयुक्त समय पर यही शक्ति अपने स्वरूप को प्रकाशित करती हुई आत्मा को परमप्राप्ति को प्रदान करती है। वास्तव में तिरोधान एवं अनुग्रह एक ही शक्ति की दो स्थितियाँ हैं। शक्तिनिपात (अनुग्रहशक्ति) चित्-शक्ति का वह प्रकाशन है जिसमें वह अपने इस स्वरूप को उद्घाटित करती है। वह शिव की ही तादात्म्य शक्ति है जिसे शिव-शक्ति या अरूल शक्ति के नाम से अभिहित किया जाता है। शैवसिद्धान्त चित्-शक्ति की इन दो भूमिकाओं के माध्यम से अशुभ की समस्या, जीव स्वातन्त्र्य एवं दैवी-स्वातन्त्र्य जैसी समस्याओं का सुसंगत समाधान करता है। अनुग्रह शक्ति-निपात से पशु 'शिवोऽहम' स्थिति में पहुँचता है, जिसके दस स्तर (दश कार्यानि) क्रमश: इस प्रकार हैं—तत्त्व-रूप, तत्त्व-दर्शन, तत्त्व-शुद्धि, आत्म-रूप, आत्म-दर्शन, आत्म-शुद्धि, शिव-रूप, शिव-दर्शन, शिव-योग, शिव-भोग। इन दस साधन क्रमों का केन्द्रबिन्दु आत्मा ही है। आत्मा के सीमित-अहं का त्याग, असीमित पूर्ण अहं की प्राप्ति से ही हो सकता है। आत्मा और

अनात्मा की भिन्नता के सम्यक् ज्ञान से ही आत्मबोध की उत्पत्ति होती है। पशु, जो पति एवं पाश के मध्य स्थित रहता है, इन साधन क्रमों में क्रमशः पाश से अपने को अलग करता हुआ पति में सम्मिलित हो जाता है। 'तत्त्वरूप', 'तत्त्वदर्शन' एवं 'तत्त्वशुद्धि' क्रमशः आत्मरूप में उन्नीत होती हैं। उसी प्रकार से पशुज्ञान एवं पतिज्ञान को भी प्राप्त करने वाली अधिकारी आत्मा ही है। ज्ञान के इन विभिन्न क्रमों को आत्मा अपनी स्थिति के अनुसार शिव-शक्ति से समन्वित होकर ही प्राप्त करती है। ज्ञान के प्रकाशन के विभिन्न चरणों में शिव-शक्ति सामान्य, सार्वभौम, आश्रय तथा निमित्त के रूप में क्रियाशील रहती है। आत्मा ही साधक है। शैव सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान ही वह सन्मार्ग है, जिसे अन्य सभी साधन पद्धतियों के द्वारा प्राप्त किया जाता है। कर्म, भक्ति, दीक्षा इत्यादि सभी प्रणालियाँ ज्ञान से समन्वित होकर उसी में परिसमाप्त होती हैं। ज्ञान के क्रम में सर्वोच्च ज्ञान पतिज्ञान को ईश्वर स्वयं ही प्रदान करता है एवं वही ज्ञान वास्तविक मोक्ष ज्ञान है। पाशज्ञान एवं पशुज्ञान 'अज्ञान' के क्रम में ही माने जाते हैं और इसीलिए मोक्ष प्रदान नहीं कर सकते। अज्ञान का आवरण दूर कर आत्मबोध को प्राप्त करना ही आत्मदर्शन है। जो चित्-शक्ति की व्यक्तावस्था है उसे ही अनुग्रह शक्ति कहा जाता है। साधक साधना के द्वारा शुद्धावस्था को प्राप्त करता है जिसकी पूर्णता पतिज्ञान से प्राप्त होती है। गरुड़ मन्त्र से 'गरुड़ भाव' को प्राप्त होकर सर्पविष को दूर करना काल्पनिक नहीं, वरन् वास्तविक तथ्य है। 'शिवोऽहमस्मि' में ज्ञान और क्रियाशक्ति का पूर्ण समन्वय है। जिसमें ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय के 'अनन्यत्व', भावना-मन्त्र-क्रिया के एकत्व से अद्वैत स्थिति में परिणत होते हैं। मल, माया इत्यादि पाश के क्षय होने से आत्मा की स्वानुभूति अर्थात् 'आत्म-लाभ' होता है। तदनन्तर पतिज्ञान से सम्पूर्ण पाशक्षय होने पर ईश्वर-चैतन्य प्राप्त होता है। मोक्ष में निम्नलिखित क्रम पाये जाते हैं–तत्त्वशुद्धि अर्थात् अनात्म तत्त्व से मुक्ति ही 'आत्मरूप' है। तदनन्तर आत्मशुद्धि अर्थात् सीमित आत्मा से मुक्ति 'शिवदर्शन' है। पुनः साधक अहंकार तत्त्व से उत्पन्न 'मैं' एवं 'मेरे' के अनुभूति से मुक्त होकर शिवयोग की स्थिति को प्राप्त करता है। शिव-योग आत्मा का शिव-शक्ति के साथ समन्वय एवं शिव-भोग, शिव के साथ 'अनन्य-भाव' को सूचित करता है। यह 'अनन्यत्व' ही अद्वैत स्थिति है। शैवसिद्धान्त का समग्र दर्शन ईश्वर के कृपा-तत्त्व का विवेचन है।

मैं स्व. कृष्णमूर्ति अय्यर से शिवप्रकाशम् की तमिल व्याख्या पढ़ी हूँ तदनन्तर पं. राधेश्याम पाण्डेजी ने पुस्तक की भाषा शुद्ध करते हुए पूरी पुस्तक का प्रूफ भी देखा है। मैं इनके प्रति बहुत आभारी हूँ। इन दोनों महानुभावों को मेरा प्रणाम। इस पुस्तक की पूर्णता के लिए डॉ. कृष्णानन्द ने बहुत परिश्रम किया है, ईश्वर इनका कल्याण करे। इस ग्रन्थ के प्रकाशक सनातनी रामानन्द एवं मेरी परम मित्र डॉ. श्रीमति असिमा रानी लखोटिया को हृदय से आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने भाषागत त्रुटियों का कुशलतापूर्वक संशोधन कार्य सम्पन्न किया।

शिवप्रकाशम् ग्रन्थ की एक संक्षिप्त भूमिका

शैव सिद्धान्त के चौदह ग्रन्थों में उमापति शिवाचार्य ने आठ ग्रन्थों की रचना की। शैव सिद्धान्त का धर्म दर्शन एवं उसकी विशिष्टताओं के प्रतिपादन में उनका महनीय योगदान है। शैव सिद्धान्त के मुख्य तत्त्वों को अत्यन्त सुचारू रूप से तार्किक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रतिष्ठित करने का श्रेय निश्चित रूप से उमापति शिवाचार्य को दिया जाना चाहिए। शिवप्रकाशम् की विशेषता आत्मा के आध्यात्मिक अनुभव का एवं मोक्ष के साधनों का वर्णन है। आत्मा का स्वरूप एवं उसकी आध्यात्मिक उपलब्धि का भी वर्णन संत उमापति ने विस्तृत एवं स्पष्ट रूप से किया है। संत उमापति संत मरैज्ञान समन्दर के शिष्य एवं शैव सिद्धान्त परम्परा के चतुर्थ संत थे। जिन्होंने इस दर्शन के प्रथम प्रतिपादक मयैकण्ड देव, जो एक बाल संत थे एवं शैव सिद्धान्त दर्शन के प्रतिपादक के रूप में माने जाते हैं, उनके मुख्य दृष्टिकोण को सिद्धान्त दर्शन के रूप में अपने ग्रन्थों के माध्यम से प्रतिपादित किया है। ईश्वर बौद्धिक विवेचन या अन्य किसी व्यवहारिक उपायों के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। केवल उनकी कृपा ही उन्हें प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। सम्पूर्ण शैव सिद्धान्त दर्शन ही इस दृष्टिकोण के समानान्तर है–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधाश्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँस्वाम् ।।

कठोपनिषद ११.२.२२

सर्वोच्च सत्ता शिव न तो प्रवचन से न ही बौद्धिक उपाय से जाने जा सकते हैं, वह परम सत्ता जब अपने को प्रकाशित करती है तभी व्यक्ति उसे जान सकता है।

सन्त उमापति संस्कृत एवं तमिल दोनों भाषाओं में निष्णात् पण्डित थे। उन्होंने शैव सिद्धान्त को एक व्यापक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया। उनके प्रस्तुतीकरण में उपनिषद के एवं ब्रह्मसूत्र के आचार्यों के भाष्य एवं त्रिरुमुरै ग्रन्थों के विवरण दोनों ही पाये जाते हैं। वे एक पारम्परिक तथा विषय को दार्शनिक दृष्टिकोण से अग्रसारित करने वाले ऐसे सन्त विद्वान थे जिनमें प्रबुद्ध दार्शनिक एवं धर्म-परम्परा की विशेषताएँ प्राप्त होती है। उन्होंने सशक्त रूप से यह प्रतिपादित किया है कि शिवप्रकाशम् ग्रन्थ, जिसे उन्होंने ईश्वर की कृपा से लिखा है, प्रथम दार्शनिक प्रतिपादक मयैकण्डदेव द्वारा प्रतिपादित किया गया है। यद्यपि संत तिरुमूलर एवं अरुलनन्दि शिवाचार्य द्वारा प्रयुक्त शब्द 'सिद्धान्तम्' का प्रयोग इस अर्थ में किया गया है कि यह दर्शन आगम तन्त्र का सार है। परन्तु उमापति शिवाचार्य ने शिवप्रकाशम् ग्रन्थ में इस दर्शन को 'मात्रशिवसिद्धान्तम्' न कहकर इसे वेदान्त का सार भी कहा है।[१]

---

१. शिवप्रकाशम् ७

शिवप्रकाशम् जो कि पूर्व ग्रन्थ 'शिवज्ञानबोधम्' एवं 'शिवज्ञान सिद्धिपार' का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है, दो भागों में विभाजित है–(१) पोदु अर्थात् सामान्य जो बाह्य जगत के अनुभव का एक व्यवहारिक विवरण है। (२) 'उण्मयी' जो जीवन के सत्य का वर्णन करता है। यह ग्रन्थ शिवज्ञानबोधम् के १२ सूत्रों के आधार पर विभाजित किया गया है।

सूत्र	शिवज्ञानबोधम्	शिवप्रकाशम्
१.	प्रमाण	१३-१८ (६ पद)
२.	सृष्टि	१९-५० (३२ पद)
३.	ईश्वर से पृथक् आत्मतत्त्व	५१-५८ (८ पद)
	का अस्तित्व एवं बन्धन	५९ (१ पद)
४.	आत्मतत्त्व का स्वरूप	६०-६२ (३ पद)
५.	पाश	६३-६७ (५ पद)
६.	सत्, असत्	६८ (१ पद)
७.	आत्मा की विशिष्टता	६९-७० (२ पद)
८.	ज्ञान	७१-७५ (५ पद)
९.	पञ्चाक्षर	७६-७९ (३ पद)
१०.	बन्धन का विमोचन	८०-९२ (१३ पद)
११.	शिवज्ञानानन्दानुभव	९३-९७ (५ पद)
१२.	जीवनमुक्ति की स्थिति	९८-१०० (३ पद)

पति–परमेश्वर शिव ही पति है वह नित्य, शाश्वत, सर्वव्यापक तथा सभी विषयों में अन्तर्लीन है; परन्तु हम उसकी स्थिति को जानते नहीं है। द्वितीय पर्याय में सन्त उमापति कहते हैं कि अज्ञात होने पर भी यह परमेश्वर सत्य तत्त्व एवं सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान है। कोई भी विषय उनके अस्तित्व के बिना विद्यमान नहीं रह सकता है। सत्यज्ञान के आविर्भाव से अज्ञानता का अन्धकार दूर हो जाता है एवं सभी विषय एक ही आधार में अस्तित्ववान प्रतीत होते हैं।

सन्त उमापति के बारे में कहते हैं कि यद्यपि यह परम तत्त्व सम्पूर्ण रूप से पर है परन्तु इसकी अभिव्यक्ति इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के माध्यम से होती है। शक्ति समन्वित होकर पति पंचकृत्य (सृष्टि, स्थिति, प्रलय, निग्रह एवं अनुग्रह) का सम्पादन करता है, जिससे आत्मतत्त्व अज्ञानता से मुक्ति प्राप्त कर उसी में विद्यमान हो जाता है। परत्व एवं स्वातन्त्र्य ही ईश्वरतत्त्व का स्वरूप है। आणवमल के कारण जीव उसका अनुभव नहीं कर सकता इसीलिए कृपा परवश होकर ईश्वर जीव को मूल ज्ञान प्रदान करने के लिए पंचकृत्य का संपादन करता है। जो कि केवल उन्हीं का अधिकार है। बाह्य विश्व वस्तुगत

होने के कारण स्वयं अपने आप न तो प्रकाशित हो सकता है, न तो विद्यमान ही रह सकता है। ईश्वर ही सत्यस्वरूप, कर्ता एवं आधार है जिसके माध्यम से विश्व का (सृष्टि का) आविर्भाव एवं अस्तित्व बना रहता है। अत: ईश्वर ही सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता, संहारकर्ता है। शैव सिद्धान्त स्पष्टत: प्रतिपादित करता है कि संहार सृष्टि से पहले होता है क्योंकि सृष्टिकर्ता वही हो सकता है जिसमें सब विषयों का समावेश होता है। संहार का तात्पर्य मूल मल (आणवमल) का नाश है। चित्-शक्ति जो शिव का ही क्रियात्मक रूप है, अनादि आणवमल को ध्वंस कर आत्मा को मौलिक ज्ञान प्रदान करने के लिए सृष्टि करती है। शिव एवं शक्ति अभेद हैं। शक्ति शिव का ही क्रियात्मक पक्ष है जो शिव से सदैव ही अभिन्न रहती है। आत्मा अनादि काल से आणवमल के द्वारा आबद्ध होने के कारण स्वयं अपने प्रयास से उससे मुक्त नहीं हो सकती है। सृष्टि वह स्थिति है जिसके माध्यम से आत्मा में अन्तर्भूत अज्ञानता परिपक्व होती रहती है एवं अन्त में चित्-शक्ति की कृपा से वह तिरोहित भी हो जाती है मूल मल को तिरोहित करने के लिए माया एवं कर्म का प्रयोग किया जाता है। ये दोनों पाश होने पर भी अपरोक्ष रूप में मूल मल अर्थात् आणवमल को निवृत्त करने के लिए सहायक के रूप में काम करते हैं। शैव सिद्धान्त के अनुसार चित्-शक्ति ही पंचकृत्य करती है, क्योंकि यह शिव की ही स्वरूप शक्ति है। उसी के द्वारा वह सृष्टि में समवेत रहती है।[१] चित्-शक्ति के द्वारा आणवमल का छेदन न होने पर सृष्टि नहीं हो सकती है। इसीलिए इस दर्शन के अनुसार सृष्टि से पहले संहार माना जाता है। संहार का तात्पर्य अनादि आणवमल में प्रविष्ट होकर चित्-शक्ति उसकी अन्धकारमय शक्ति को नष्ट करके सृष्टि का प्रकाशन करती है। इसे ही तिरोधान भी कहा जाता है। तिरोधान शक्ति ही विभिन्न उपायों से क्रमश: आत्मतत्त्व को मोक्ष के मार्ग में ले जाती रहती है। परन्तु आत्मा उसे अनुभव नहीं कर सकती है। जब मल परिपाक पूर्ण हो जाता है तब तिरोधान शक्ति ही अपने को (स्वयं को) प्रकाशित करती है जिसे अनुग्रह शक्ति कहते हैं। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया ही ईश्वर-कृपा (अरुल शक्ति) के द्वारा संपादित होती है। अर्थात् सृष्टि एवं स्थिति में ईश्वर चित्-शक्ति के रूप में नित्य शाश्वत एवं सार्वभौम है, शिव-कृपा स्वरूप है। उसकी प्रत्येक प्रक्रिया कृपा की स्वाभाविक एवं अनायास अभिव्यक्ति है, जिसे ईश्वर की लीला[२] भी कहा जाता है।

सृष्टि एवं संहार दोनों ही ईश्वर की कृपा है। क्योंकि सृष्टि के कारण माया एवं कर्म के द्वारा मल परिपाक होता है, तदनन्तर कर्म-साम्य एवं अनुग्रह शक्ति का आविर्भाव होकर शिवज्ञान का अनुभव होता है, जो 'शिवोऽहम् चेतना' है। अत: तिरोधान एवं अनुग्रह दोनों

---

१. अक्षराणाम् अकारोऽस्मि–भगवत गीता

२. शिवप्रकाशम् १८। लोकवत्तु लीला कैवल्यम्–ब्रह्मसूत्र २ अध्याय, १ पाद, ३३

ही शिव-शक्ति के कार्य है जो आत्मतत्त्व की आन्तरिक स्थिति के अनुसार सम्पादित होते हैं। शैव सिद्धान्त के अनुसार पंचकृत्य ही ईश्वर स्वरूप अर्थात् ईश्वर कृपा की अभिव्यक्ति है। इसके बिना जीव या आत्मा स्वयं अपने प्रयास से मोक्ष का कोई कार्य सम्पादित नहीं कर सकता है। सांसारिक अनुभव एवं परा सांसारिक स्थिति दोनों ही चित्-शक्ति से ही प्राप्त होती है।

पशु (आत्मा)—पाशबद्ध आत्माएँ ही पशु कहलाती है। शैव सिद्धान्त में पशु का बहुत्व माना गया है। यह अनेक, सर्वव्यापक चित् सत्ता है, जो बन्धनयुक्त होकर पशु नाम से जाना जाता है। अनादिकाल से आत्माएँ मूल मल (आणवमल) से आबद्ध होकर जड़वत पड़ी रहती हैं। आणवमल उसके चैतन्य को बिल्कुल आच्छादित कर उसे अणुरूप पाशयुक्त एवं अचल बना देता है, जो कि अपने प्रयास से अज्ञानता के अन्धकार से कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। वह केवल अज्ञानता से ही आबद्ध नहीं रहता बल्कि उसकी निवृत्ति के उपाय का अवलम्बन करने में भी असमर्थ रहता है क्योंकि उसका चैतन्यस्वरूप आणवमल के द्वारा पूर्ण रूप से आच्छादित हो जाता है। आत्मा उसकी इस स्थिति से भी अनभिज्ञ रहती है। अरुल शक्ति अर्थात् ईश्वर कृपा एकमात्र साधन है जो कि आत्मा के आच्छादित ज्ञान को पुन: प्रकाशित करती है। कृपा शक्ति ही अज्ञानता रूपी मूल मल को निवृत्त कर शिवानुभव को प्रदान कर सकती है। सृष्टि की इस अनादि स्थिति को चित्-शक्ति खण्डित करती हुई आत्मा को क्रमश: और दो पाशों (माया एवं कर्म) से आबद्ध करती है एवं क्रमश: संसार के उपभोग के द्वारा उसे आसक्ति से निवृत्तकर अनासक्त निष्काम स्थिति में ले आती है, अर्थात् पशु के रूप में जीव की आबद्ध स्थिति का सम्पूर्ण निवारण ईश्वर शक्ति ही करती है इसलिए जीव का एकमात्र आश्रय या आधार ईश्वर शक्ति ही है। उसके बिना वह स्वतन्त्र प्रयास से बन्धन मुक्त नहीं हो सकता। इस क्रम में जीव की तीन अवस्थाएँ मानी गयी है–(१) विज्ञानाकल (२) प्रलयाकल (३) सकल। केवल आणवमल से संयुक्त स्थिति विज्ञानाकल होती है। प्रलयाकल में आणवमल के साथ माया मल भी रहता है एवं सकल स्थिति में आत्मा के साथ आणव, माया एवं कर्म तीनों मल संयुक्त रहते है। अत: ईश्वर शक्ति ही आच्छादित ज्ञान स्वरूप आत्मा में सत्यज्ञान प्रदीप्त करती है[१] एवं शिवानुभव को शिवानन्द के रूप में प्रदान करती है।[२]

आणवमल (मूल मल)—सामान्य रूप से आणव शब्द का अर्थ अणुत्व है अर्थात् यह मल सार्वभौम चित्-शक्ति सम्पन्न आत्मा को अणु में परिणत कर देता है। अन्धकार अन्य विषयों को आच्छादित करता हुआ अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है। परन्तु

१. उलनील्वुम ओली अदनाल इरुल अगत्रि–शिवप्रकाशम् १९
२. पदं पदं उट्रीदेम–शिवप्रकाशम् १९

आणवमल अपने स्वरूप को भी आच्छादित कर देता है। वह अनादि काल से आत्मा के चैतन्य को तो आच्छादित कर ही देता है। साथ ही अपने स्वरूप को भी आवृत्त कर देता है। मल आत्मा में विद्यमान एक ऐसा विषय है जो कि आत्मा के चैतन्य को आवृत्त करता हुआ अपनी अन्धकारमय स्थिति को ही आत्मा के स्वरूप में प्रकाशित करके भ्रम उत्पन्न करता है। जैसे–तांबे के ऊपर की गन्दगी तांबे के मूल रंग को ढक देती है एवं अपने विकृत रंग को ही तांबे के स्वरूप में प्रकाशित करती है। अत: यह मल केवल मात्र नकारात्मक नहीं है परन्तु आत्मचैतन्य को आवृत्त करके एक सकारात्मक भ्रमात्मक तत्त्व के रूप में प्रकाशित होता है जो कि आत्मा के चित्स्वरूप को आच्छादित करके किसी भी प्रकार से मुक्त होने की सम्भावना को नष्ट कर देता है। आणवमल सम्पूर्ण अन्धकारमय है जो कि अनादिकाल से आत्मा को आवृत्त करके रखता है। संत उमापति कहते हैं कि जैसे तांबे की गन्दगी को विशेष द्रव्य से हटाया जाता है। उसी प्रकार से चित्-शक्ति ही आणवमल द्वारा उत्पन्न आवरण को निवृत्त कर सकती है।[१] आत्मा तथा आणवमल का सम्बन्ध (द्रव्य एवं गुण) की तरह नहीं वरन् आणवमल आत्मा के ऊपर जंग या गन्दगी की तरह आच्छादित रहता है, जैसे–तुष तण्डुल के ऊपर रहता है। आणवमल आत्मा को सम्पूर्ण रूप से आवृत्तकर अन्धकारमय स्थिति उत्पन्न करता है जो कि सदैव ही विभिन्न बन्धनों के माध्यम से आत्मा के चेतन स्वरूप को ढक देता है।

माया—माया सृष्टि का उपादान कारण है। जीव के संसार का उपभोग करने के लिए तनु, करण, भुवन तथा भोग अर्थात् शरीर इन्द्रियाँ एवं उपभोग के विषय सभी प्रदान करती है। जीव इन विषयों के द्वारा विश्व का उपभोग करता हुआ कर्मफल को प्राप्त करता है। माया यद्यपि एक तत्त्व है परन्तु वह विभिन्न प्रकार से जीव को बन्धन में आबद्ध करता है। माया का स्वरूप सूक्ष्म, अविनाशी, एक, आकारहीन, सर्वव्यापी एवं जड़ है। यह यद्यपि अज्ञान रूप है, परन्तु चित्-शक्ति द्वारा संचालित होने के कारण यह ज्ञान का साधन भी बनता है। ईश्वर द्वारा यह काँटे की तरह प्रयुक्त होता है, जिससे वह मूल मल रूपी अज्ञानता को दूर करता है। माया एवं कर्म पूर्ण अन्धकार नहीं है, वरन् आंशिक प्रकाशकत्त्व को प्रदान करने में सहायक सिद्ध होते हैं। वे चैतन्य को निमित्त कारण की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं, जो आधारभूत तत्त्व के रूप में सृष्टि की सम्पूर्ण प्रक्रिया को सम्पादित करता है। माया के सभी उत्पादनों में अन्त:करण मनोवैज्ञानिक तत्त्व तथा अन्य सब भौतिक तत्त्व होते हैं। माया अपनी मूल स्थिति में शुद्ध माया, सूक्ष्म स्थिति में अशुद्ध माया एवं अन्तत: कर्मफल के साथ मिश्रित होकर प्रकृति माया के रूप में जानी जाती है। शुद्ध एवं अशुद्ध माया सुख-दु:ख, शुद्ध एवं अशुद्ध ज्ञान उत्पन्न करती है। यह शुद्ध एवं अशुद्ध

---

१. शिवप्रकाशम् २०

प्रपञ्च का कारण भी बनती है। माया तत्त्व के विकास के द्वारा ही सृष्टि होती है।

'माया' शब्द का तात्पर्य उस तत्त्व से है जिसमें सम्पूर्ण सृष्टि अन्तर्भूत रहती है एवं पुनः प्रकाशित होती है। 'मा' शब्द से सृष्टि का अन्तर्लीन होना तथा 'या' शब्द पुनः प्रकाशन समझाता है। क्या माया स्वयं विश्व की सृष्टि कर सकती है? शैव सिद्धान्त में स्पष्टतः इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि जड़ होने के कारण यह न तो सृष्टि और न संहार कर सकती है। शिव-शक्ति ही कृपा परवश होकर जीव के मोक्ष प्राप्त करने में सहायक बनाने के लिए माया से सृष्टि करती है। जीव चैतन्य स्वरूप होने पर भी आणवमल से ग्रसित होकर अज्ञानता के अन्धकार से ग्रसित होकर जड़वत पड़ा रहता है। ईश्वर-शक्ति ही जीव के कल्याण के लिए इसका उपयोग करती है। माया स्वरूपतः आध्यात्मिक जीवन की विपरीत स्थिति को उत्पन्न करनेवाली है, परन्तु उसमें अन्तर्भूत चित्-शक्ति आधार के रूप में जीव को सत्य ज्ञान प्रदान करती है। अन्तः प्रकाश के रूप में चित्-शक्ति विषय के मूल स्वरूप को प्रकाशित करती है, जिससे आत्मा सत्य एवं असत्य में भेद कर सकती है। ईश्वर-शक्ति ही सभी जीवों को उसके लक्ष्य तक उचित प्रकार से संचालित करती है। माया को विभिन्न विषयों का उपादान कारण माना जाता है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से माया का शाब्दिक अर्थ है जिससे सभी वस्तुयें उत्पन्न होती है और फिर जिसमें अन्ततः विलीन भी होती है। 'मा' का तात्पर्य है प्रति प्रसव जबकि या से प्रसव या सृजन अभिप्रेत है। ऐसे में प्रश्न उठता है–क्या माया स्वतः में सृष्टि सम है? इस विषय में परम्परा यह कहती है कि चूँकि माया जड़ तत्त्व है अतः बिना किसी निमित्त की सहायता से यह स्वयं सृष्टि नहीं कर सकती। अतः ईश्वरीय संकल्प जो परम कारुणिक एवं चिद्रुप है, बद्ध आत्माओं को उनके स्वरूप का यथार्थ बोध कराने की सदिच्छा से माया को सृष्टि हेतु अनुप्राणित करता है। ये बद्ध आत्मायें सर्वव्यापी चैतन्य सत्ता होने के उपरान्त भी आणवमल के चलते अणुत्व को प्राप्त हुई होती है। माया शब्द के दोनों घटक मा और या परस्पर एक दूसरे के ठीक विपरीत है। यह एक ओर सृष्ट्यात्मिका है तो वही दूसरी ओर छलनात्मिका भी है। तथापि ईश्वरीय संकल्प इसे अनुप्राणित कर बद्ध जीवों के उद्धार हेतु विनियुक्त करता है। आत्मा का निवास स्थान शरीर है तथा यह दृश्यमान जगत, सब माया के ही उत्पाद है इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं। माया आध्यात्मिक जीवन में अपने छलनात्मक और प्रपंचात्मक आचरण से प्रतिरोध उत्पन्न करती है। तथापि ईश्वरीय प्रेरणा से यह स्वरूप ज्ञान की प्राप्ति में सहायक भूमिका का भी निर्वहन करती है क्योंकि इस स्थिति में आत्मा और अनात्मा का भेद ज्ञान प्रदान करते हुये स्वरूप स्थिति की प्राप्ति में सहायक होती है। इस दृष्टि से देखा जाय तो ईश्वरीय इच्छा विभिन्न अणु आत्माओं के भिन्न-भिन्न प्रयोजनों की सिद्धि हेतु माया के माध्यम से उन्हें नियंत्रित एवं उन्नत करती है। माया, प्रकृतिजन्य विभिन्न उत्पादों की शृंखला के पार्श्व

में स्थित आधारभूत अवधारणा है। उदाहरणार्थ–शुद्ध माया–जो शुद्धाध्वा अथवा ध्वन्यात्मक सृष्टि यथा वर्ण, मंत्र, कला और तत्त्व इत्यादि की जननी है। शुद्ध माया को महामाया, कुण्डलिनी, बोध शक्ति, बिन्दु इत्यादि नामों से भी अभिहित करते हैं। यही महामाया–गुण, तत्त्व तारतम्य से विभिन्न उपादानों की सृष्टि करती है। शुद्ध माया, नाद, बिन्दु, सादाख्य, माहेश्वरी और शुद्ध विद्या इन सबको मिलाकर शिव तत्त्व या 'प्रेरक काण्ड' कहा जाता है जो कि सीधे ईश्वर के नियंत्रण में कार्य करते हैं। इसके बाद अशुद्ध माया अथवा अधो माया का क्षेत्र है, जिसमें मिश्राध्वा अथवा अशुद्धाध्वा का क्षेत्र आता है। इसमें तनु, करण, विश्व एवं विश्व का भोग समाहित है। यहाँ तनु का अर्थ शरीर एवं करण का अर्थ इन्द्रियाँ है। चूँकि यह मिश्र अथवा अशुद्ध क्षेत्र है अत: ईश्वर यहाँ सीधे नहीं क्रिया करते, विभिन्न देवताओं के माध्यम से परिचालन करते हैं।

पंच कंचुक अर्थात् पाँच आवरण यथा–काल, नियति, कला, विद्या और राग, ये अशुद्ध मायाजनित उत्पाद है।

(१) काल कुछ अंशों में आत्मा के ऊपर पड़े अज्ञान के आवरण को हटाते हुये उसे स्वरूप प्राप्ति हेतु प्रयत्न करने के लिए प्रेरित करता है।

(२) नियति, प्रत्येक आत्मा को उसके शुभाशुभ कर्मों के अनुरूप फलभोग की व्यवस्था सुनिश्चित करती है।

(३) कला–आत्मा की क्रिया शक्ति को जागृत करते हुये उसे कर्म एवं तद्‌जन्य अनुभव में प्रवृत्त करती है एवं इस प्रकार जड़ता में सो रही आत्मा को एक सीमा तक जड़ता की परिधि से बाहर लाना इसका मुख्य प्रयोजन है।

(४) विद्या–विद्या तत्त्व आत्मा में सीमित ज्ञान शक्ति का संचार करती है जिससे आत्मा में क्रियाकारित्व की क्षमता उत्पन्न होती है।

(५) राग–वह तत्त्व है जिससे प्रेरित होकर आत्मा में भोक्तृत्व का भाव जाग्रत होता है जिसके परिणामस्वरूप वह अपने कर्मों के फल का भोग करता है एवं भोक्ता बनता है।

प्रकृति माया को मूल प्रकृति अथवा अव्यक्त भी कहते हैं। प्रकृति माया सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों का समावेश हैं। इसी से आगे चल कर चौबीसं तत्त्वों की उत्पत्ति होती है जो इस प्रकार है–

१. मन, बुद्धि, अहंकार जिन्हें अन्त:करण की संज्ञा दी गई है।

२. पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ यानी कुल दस इन्द्रियाँ।

३. पाँच महाभूत।

४. पुरुष तत्त्व जो अशुद्ध माया के उत्पादों में कर्तृत्व का आधान करता है। इस

प्रकार माया के कुल ३६ उत्पाद हैं। (शिव तत्त्व–६, कंचुक–५ तथा २५ प्रकृति तत्त्व) जो आत्मा के प्रशिक्षण केन्द्र की तरह व्यवहार करते हैं, जहाँ आत्मा संसार के वास्तविक क्षणभंगुर छलनात्मक इन्द्रिय सन्निकर्ष सापेक्ष स्वरूप का साक्षात् अनुभव प्राप्त कर उससे उपरत होती है एवं परिणामस्वरूप शाश्वत सत्य की खोज हेतु प्रवृत्त होती है। स्वयं शिव शुद्ध माया के अभिकर्ता है। अशुद्ध माया का नियमन सदाशिव से सम्पन्न होता है। जबकि प्रकृति माया से चौबीस तत्त्वों के निगमन में रुद्र कारक है। शिव सर्वोच्च नियंता है, जो सदाशिव एवं रुद्रादि का भी नियमन करते हैं। ऐसी आत्मायें जिनमें पर्याप्त चैतन्य जागृत है तथापि पूर्ण जागृति अवशेष है अतः अविमुक्त नहीं हो सके है। उन्हें अधिकार मुक्त अथवा अपर मुक्त कहा गया है–ये शुद्ध माया के साम्राज्य में अधिष्ठित रहते हैं, जो सर्वथा शुद्ध होने के कारण मात्र आनन्द का विधान करती है, जबकि अशुद्ध माया अपनी अशुद्धता के चलते आत्मा के शुभाशुभ कर्मों के अनुरूप सुख-दुःख उभयात्मक फल प्रदान करती है।

(१) शुद्ध माया अथवा शिव तत्त्व का विकास क्रम–

शुद्ध माया (केवल ज्ञान शक्ति)
|
नाद (केवल क्रिया शक्ति)
|
बिन्दु (ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति सममात्रा में)
|
सादाख्य (क्रिया शक्ति का आधिक्य)
|
माहेश्वरी (ज्ञान शक्ति का आधिक्य)
|
शुद्ध विद्या

(२) अशुद्ध विद्या के उत्पादों का विकास क्रम–

अशुद्ध विद्या

काल नियति कला

कला → विद्या, राग

(काल, नियति, कला, विद्या, राग) – पंच कंचुक

(३) प्रकृति माया एवं इसके उत्पादों का विकास क्रम–

प्रकृति
|
महत
|
अहंकार
|

तैजस (सात्विक)	बैखरी (राजस)	भूतादि (तामस)
ज्ञानेन्द्रियाँ	कर्मेन्द्रियाँ	तन्मात्रा (सूक्ष्म तत्त्व)
मनस्	मुख	शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध
चक्षु	हस्त	आकाश, वायु, तेज, अप, पृथ्वी
श्रोत्र	पाद	महाभूत (स्थूल भूत)
नासिका	पायु	
जिह्वा	उपस्थ	
त्वक्	अंग	

कर्म–कर्म का आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध है। कर्म बन्धन के चलते ही आत्मा सांसारिक भोगों का आनन्द भोग करती है। कर्म सिद्धान्त ही मन वाणी और शरीर को अनुप्राणित एवं परिचालित करता है। मन वाणी और इन्द्रियों द्वारा किया गया प्रत्येक कर्म तदनुरूप फल उत्पन्न करता है, जिसे कर्ता को भोगना पड़ता है। भारतीय दर्शन में कर्म का अर्थ कर्म के साथ-साथ कर्म फल भी होता है। कर्म सिद्धान्त का आशय ऐसे सिद्धान्त से है, जिसके अनुसार कर्त्ता कृत कर्म के फल भोग हेतु बाध्य है। हर कर्म का कर्मानुरूप फल होता है तथा यह कर्त्ता के चरित्र को प्रभावित करता है। कर्मफल भोग की इच्छा से ही कर्त्ता कर्म विशेष में प्रवृत्त होता है। किन्तु इसी अन्तराल में अन्यान्य कर्म उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार कर्म और कर्मफल भोग की एक शृंखला चल पड़ती है। शैव सिद्धान्तानुसार कर्म की उपस्थापना का रहस्य यह है कि कर्म के द्वारा बद्ध जीव अपनी पूर्व संचित वासनाओं का उन्मोचन कर सके। कृत शुभाशुभ कर्मों के अनुरूप पुरस्कार या दण्ड विधान के माध्यम से ईश्वर जीव को त्याज्य कर्मों से विरत रहने की प्रेरणा देता है। यह ठीक उसी प्रकार है, जैसे माता-पिता अपने बच्चों को योग्य बनाने हेतु पुरस्कार अथवा दण्ड विधान करते हैं। कर्म सिद्धान्त ही मनुष्य के जीवन को नियमित एवं अनुशासित करने का

माध्यम है। इस प्रकार देखा जाय तो कर्म न्याय का ईश्वरीय विधान है। कर्तव्याकर्तव्य कर्मों के बारे में श्रुतियों में विस्तृत मार्ग दर्शन उपलब्ध है। ये श्रुतियाँ साक्षात् ईश्वर की ही वाणी है।

भागवत् आदेशानुसार जीव सुख-दुखादि का अनुभव करता है और परिणामस्वरूप सुख का अंगीकार एवं दुख का बहिष्कार करता है। ईश्वर नियामक और आदेष्टा है, जबकि जीव ईश्वरीय विधान का अनुपालक। जिस प्रकार कमल परिस्थितियों के अनुसार खिलता है, ठीक उसी प्रकार जीव भी अपनी अवस्था के अनुरूप ईश्वरीय विधान पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। जीव पूर्णता की यात्रा में जिस समय जिस विशिष्ट अवस्था अथवा पड़ाव पर रहता है, उसके आधार पर उनका वर्गीकरण किया जाता है। जीव के ऊर्ध्वारोहण में अन्तःप्रेरणा ही कारक होती है। सांसारिक सुखों की नश्वरता का बोध जीव को शाश्वत जीवन की खोज हेतु उद्वेलित करती है। क्षणभंगुर भौतिक सुखों के स्वभाव को भलीभाँति समझ लेने के उपरान्त वह इनकी अतिशय निरर्थकता के प्रति पूर्ण आश्वस्त हो जाता है। परिणामस्वरूप ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण से ओतप्रोत हो उठता है तथा पूर्ण मुक्ति और परिपूर्ण आनन्द की प्राप्ति के पथ का अन्वेषक बन जाता है।

आत्मा की अवस्थायें–पूर्णता की यात्रा में आत्मा विभिन्न अवस्थाओं से गुजरती है। यथा–**केवलावस्था, सकलावस्था और शुद्धावस्था।**

केवलावस्था–इस अवस्था में आत्मा अनादि मल से ग्रस्त होने के कारण जड़वत् मूढ़ स्थिति में रहती है। इस स्थिति में अज्ञान तिमिर इतना गहन होता है कि इसमें अनुभविता की प्रेरणा का भी सर्वथा अभाव होता है। जिस प्रकार गहन अन्धकार की अवस्था में आँखें भी तिमिराच्छन्न हो जाती हैं और कुछ भी देख सकने में सर्वथा असमर्थ होती हैं। ठीक उसी प्रकार केवलावस्था में आत्मा भी पूर्णतः अज्ञान तिमिराच्छन्न होकर ज्ञातृत्व की चेष्टा से भी विरहित हो जाता है। इस अवस्था में आत्मा माया एवं कर्म के प्रभाव से भी अस्पष्ट रहता है। अतः ज्ञान-कर्म विषयक किसी चेष्टा का प्रश्न ही नहीं उठता। यह आत्मा की पूर्ण सुषुप्ति की अवस्था होती है। जहाँ ज्ञान की किसी किरण की भी कोई संभावना कदापि नहीं होती। आत्मा का आणवमल से यह साहचर्य तात्त्विक दृष्टि से दो भिन्न पदार्थों में निकटतम सम्बन्ध एवं सहवर्ती क्रिया के सिद्धान्त के आधार पर व्याख्यायित किया गया है।

सकलावस्था–इस अवस्था में आत्मा आणव, कर्म, माया, मायेय और तिरोधायी इन पाँच बन्धनों के पूर्ण प्रभाव में रहती है। इनमें से आणवमल के अलावा शेष चार, आत्मा के शुद्धावस्था की प्राप्ति में सहायक की भूमिका निभाते हैं। सकलावस्था में आत्मा के विकास की तीन स्थितियाँ हैं–(१) अभावात्मक दशा (२) संक्रमण काल (३) भावात्मक अवस्था।

आत्मा उन्नयन पथ पर चलते हुये पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मफलानुरूप इस नश्वर और अनात्मरूप संसार में चौरासी लाख योनियों में भटकते हुये सुख दुखादि की लम्बी शृंखला का अनुभव प्राप्त करती है। प्रकृति के उत्पादों के सन्निकर्ष से आत्मा जो ज्ञान प्राप्त करती है, उससे उसे प्रज्ञान से सन्धि किया गया है। अनुभव जगत के प्रति वितृष्णा का भाव इस बात का प्रथम संकेत है कि आत्मा के विकास का प्रथम चरण प्रारम्भ हो चुका है क्योंकि उसे यह बोध हो चुका होता है कि दृश्यमान जगत असत् है। दृश्यमान जगत की असत्ता, जड़ता और निरर्थकता आत्मा को स्वरूपानुसंधान में उपनीत करती है और तब उसे वस्तु जगत से पृथक स्वयं के चैतन्यस्वरूप का आभासन होता है। पाश ज्ञान से पशु ज्ञान के इस संक्रमण को ईश्वरीय अनुकम्पा के रूप में समझना चाहिए क्योंकि आत्मा जो पाशवद्ध होने के कारण संसार दृष्टि तक सीमित थी, वह ईश्वरीय अनुकम्पावश अपने पाश को समझते हुये उसे शिथिल कर प्राप्त ईश्वरीय कृपानुदान के बोध से युक्त हो समस्त अवरोधों को पार कर पशुपति का साक्षात्कार करने में समर्थ होती है। इसी को पतिज्ञान भी कहा गया है। जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति में सबसे बड़ा हेतु पति ज्ञान है ऐसा श्री उमापति ने बार-बार बल देकर स्पष्ट और पुष्ट किया है, तथा इसे सर्वथा अपरिहार्य हेतु बताया है। ईश्वरीय अनुकम्पा का उदय और मल परिपाक एवं कर्म साम्य सभी समकालीन घटनायें हैं। चित्-शक्ति के जागरण के उपरान्त आत्मा की अनुभव यात्रा का प्रारम्भ होता है तथा यह क्रमिक रूप से पहले विश्व तदुपरान्त स्वात्मस्वरूप का अनुभव प्राप्त करती है। इस अन्तराल में अनादि अणुत्व दोष इतना क्षीण हो चुका होता है कि ईश्वरीय अनुकम्पा के वेग को सहन नहीं कर पाता और एक ही झटके में छिन्न-भिन्न हो जाता है सदा सर्वदा के लिए। सन्त उमापति इसकी तुलना ऐसे परिपक्व फल से करते हैं, जो उचित समय पर डाली से स्वयं टपक पड़ता है। ईश्वरीय अनुकम्पा अज्ञान की निवारक तथा प्रसादकर (आह्लादक) होती है। मल परिपाक के कारण शुभाशुभ कर्मों के फल संतुलन को प्राप्त कर लेते हैं। कर्म चाहे शुभ हो अथवा अशुभ वे कर्म में अर्न्तनिहित भावना के अनुरूप फलों की सृष्टि हेतु बाध्य होते हैं। भारतीय दर्शन में सर्वत्र यह सिद्धान्त उद्घोषित किया गया है। प्रत्येक कर्म भावना के अनुरूप शुभाशुभ फल की सृष्टि करते ही हैं। केवल निष्काम कर्म अथवा कर्म के लिए कर्म किसी कर्म फल का सृजन करने में अक्षम होते हैं, क्योंकि फल सृष्टि का अधिकार कर्म में निहित न होकर कर्म की प्रेरक शक्तिभूत कामना अथवा भावना में निहित होती है। बिना किसी कामना के किया गया निष्काम कर्म उस भूने हुए वीज की तरह होता है जिससे कभी अंकुर नहीं प्रस्फुटित हो सकता। भारतीय दर्शन में कर्म सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार शुभाशुभ कर्मों की फलोत्पादकता सदैव अप्रतिहत रहती है। अत: कर्ता कृत कर्मों के फलभोग हेतु बाध्य है, वे चाहे शुभ हो अथवा अशुभ। अत: कर्मफल से मुक्ति का एकमात्र उपाय है निष्काम कर्म

अर्थात् बिना फल की कामना–केवल कर्म के लिए कर्म का सम्पादन। अत: साम्यावस्था में स्थित निष्काम मन आत्मा को कर्म साम्य की स्थिति में उपनीत कर देता है। यद्यपि अनुग्रह ईश्वर का स्वातंत्र्य है तथापि मल परिपाक एवं कर्म साम्य के अभाव में ईश्वरीय अनुग्रह को आत्मसात करने की क्षमता अथवा पात्रता आत्मा के नहीं बन पाती। अस्तु मल परिपाक, कर्म साम्य और ईश्वरीय अनुग्रह सभी समकालीन और समवेत है, और इसके साथ ही वास्तविक स्वात्मस्वरूप पूर्णतया अनावृत्त हो उठता है। वास्तविक ज्ञान जिसे पति ज्ञान कहा गया है वही अज्ञान तिमिर का नाश एवं मुक्ति का सम्प्रदान कर सकता है। साथ ही पति ज्ञान की प्राप्ति बिना ईश्वरीय अनुग्रह कदापि संभव नहीं है यह भी सुनिश्चित है।

शुद्ध अवस्था–मल परिपाक एवं कर्म साम्य के फलस्वरूप आत्मा शुद्ध अवस्था में उपनीत हो जाती है, जिसका अर्थ है कि चर्या, क्रिया और योग की व्यवस्था से पारंगत हो जाना। इस स्थिति में आत्मा ईश्वर की तरह स्वप्रकाश हो उठती है। जैसा कि शैवदर्शन को ज्ञान-धर्मात्मक कहा गया है, ईश्वर स्वयं गुरु के रूप में सम्यक् ज्ञान प्रदान करते हुये अपने तीव्र शक्तिपात से समग्र मल समुदाय का सम्पूर्ण नाश करता है। यही ईश्वर की अनुग्रह शक्ति का अहैतुक व्यापार है। शुद्धावस्था में उपनीत आत्मा की मुख्य विशेषता यह है कि एक बार जगत प्रपंच से ऊपर उठने और ईश्वर-सारूप्य की प्राप्ति के उपरान्त उस अवस्था से स्खलित होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओं में उपलब्ध मान्यता के अनुरूप सन्त उमापति भी जीवन मुक्ति की अवधारणा से पूर्णतया सहमति रखते हैं अर्थात् आत्मा के वर्तमान शरीर में रहते हुए उसकी मुक्ति सम्भव है, उसके लिए शरीरपात आवश्यक नहीं है।

ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया में–आत्मरूप, आत्मदर्शन, आत्मशुद्धि अर्थात् आत्मलाभ, शिव दर्शन, शिव योग और शिव भोग इतनी अवस्थायें समाहित हैं।

किस मात्रा में आत्मा को स्वस्वरूप का ज्ञान अथवा उपलब्धि हुई है एवं उसके क्या निहितार्थ हैं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि आत्मा ने किस सीमा तक अपने स्वरूप का साक्षात्कार किया है। यद्यपि परवर्त्ती अवस्थायें ईश्वर विषयक ज्ञान की अवस्था होने के कारण एकीकृत एवं समग्र ज्ञान की कोटि में आती है, ईश्वर से ऐक्य का सीधा सा अर्थ है समष्टि के कण-कण से ऐक्य। जब आत्मा सर्वातिशायी विभु चेतना से तादात्म्यापन्न होती है जो कि उसकी सीमित अहमता का सर्वांश में ईश्वर में समर्पण का परिणाम होता है, तो सर्व स्वतन्त्र हो जाती है और इस असीम स्वातंत्र्य के चलते सच्चिदानन्द के आनन्द तत्त्व के भोग हेतु सर्वाधिकार सम्पन्न हो उठती है। पंचाक्षर मंत्र का जाप एवं प्रगाढ़ समाधि इस सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति में महत्वपूर्ण योगदान करने में सक्षम है।

शैव सिद्धान्त के मुख्य प्रतिपाद्य विषयों के स्पष्टीकरण के लिए सन्त उमापति ने विभिन्न दृष्टिकोणों के प्रयोग किये हैं। अतः पदों की व्याख्या में भी पुनरावृत्ति हुई है।

टिप्पणी एवं सन्दर्भ

१. शिवप्रकाशम्। ७

२. शिवप्रकाशम्। १७

३. शिवप्रकाशम्। १८ "लोकवत्तु लीला कैवल्यम्"। ब्रह्मसूत्र। ११/१/३३

४. उलामल्वम् ओली अदनाल इरुल अकात्री, शिवप्रकाशम्–१९

५. शिवप्रकाशम्। २०

६. पदम उसीदेम–शिवप्रकाशम्। १९

७. शिवप्रकाशम्। २०

८. शिवप्रकाशम्। ५-४७

*

शिवप्रकाशम्

मंगलाचरण

मैं उस ज्योतिस्वरूप परमेश्वर को प्रणाम करता हूँ जो सुन्दर फूलों से पूजा करने से सारे कर्म बन्धन को नष्ट कर देते हैं।

पद नं. १–नटराज

भावानुवाद

कृपा स्वरूप ज्ञानमूर्ति प्रकाशरूप विश्व-प्रपंच को उत्पन्न एवं पालन करने वाला शिव, श्री उमा माहेश्वरी, जो उसके साथ नित्य तादात्म्य रूप में विद्यमान रहती हैं, के साथ समन्वित रूप में प्रकाशित होता है। वह (शिव) कनेर फूल की माला, उज्ज्वल-ज्ञान माला युक्त चन्द्रमा, पवित्र गंगा, भयंकर सर्प एवं जटा से विभूषित होकर जीवों को अनन्त जन्म-मृत्यु की शृंखला से मुक्ति प्रदान करने के लिये जीवों के हृदय कमल में नृत्य करता है। सभी देव उस परमेश्वर के ज्ञान एवं कृपा को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हैं। श्री उमापति, देवों के आराध्य उस परम उज्ज्वल चरण कमल को अपने मस्तक पर धारण करने के लिए एवं शिवप्रकाशम् नामक पवित्र ग्रन्थ की रचना निर्दोष रूप से करने के लिए प्रार्थना करते हैं।

व्याख्या–परम्शिव का स्वरूप निर्मल है। पराशक्ति परमशिव से तादात्म्य है। पराशक्ति के रूप में ही परमशिव का वैभव प्रकाशित होता है। अनुकम्पा से ही वह (पराशक्ति) सृष्टि करती है एवं इच्छा, ज्ञान, क्रियाशक्ति के माध्यम से पालन (रक्षा) करती है। सृष्टि का उद्देश्य जीवों का बन्धनमोचन है। चिदम्बरम् में ईश्वर नटराज रूप में विद्यमान है एवं समस्त देवगण उनकी उपासना करते हैं। श्री उमापति शिवाचार्य कहते हैं कि मैं उनके श्रीचरणों को अपने मस्तक एवं हृदय में धारण करके इस रचना को सफलतापूर्वक सम्पूर्ण करने के लिए प्रार्थना करता हूँ।

श्री उमापति शिवाचार्य ईश्वर एवं ईश्वर-शक्ति के अभिन्नत्व तथा जगत् कारणत्व एवं अनुकम्पा से पूर्ण स्वरूप को बतलाते हुए "शिवप्रकाशम्" नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ रचना के प्रारम्भ में उस पराचैतन्य को प्रणाम करते हैं।

ईश्वर ज्ञानस्वरूप एवं कृपास्वरूप है। ईश्वर की नटराज मूर्ति जीवों के प्रति ईश्वर की करुणा को सूचित करती है। शिव का आनन्द-ताण्डव जीवों की मुक्ति के लिये है। शिव का वर्णन करते हुए श्री उमापति कहते हैं कि वह उज्ज्वल ज्ञानकला से प्रकाशमान चन्द्रमा को, पवित्र गंगा को एवं विषधर सर्प को धारण किये हुए है। उसकी तादात्म्य शक्ति

जननी उमा माहेश्वरी इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया-शक्ति के रूप में इस जगत्-प्रपंच में जीवों के कल्याण के लिए विद्यमान रहती है। परमेश्वर देवाधिदेव महादेव समस्त देवों के आराध्य हैं। वह जीवों को जन्म, मृत्यु की शृंखला से मुक्ति प्रदान करता है, अन्तरात्मा के रूप में जीवों के हृदय कमल में आनन्द-नृत्य करता है। श्री उमापति, शिवप्रकाशम् नामक महान् ग्रन्थ की रचना के प्रारम्भ में परमेश्वर से कृपा प्रार्थना करते हुए उनको प्रणाम करते हैं।

पद नं. २—शक्ति

भावानुवाद

परमेश्वरी सर्वव्यापिनी है। वह तिरोधान, इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति, क्रिया-शक्ति के रूप में परम करुणा से पूर्ण होकर तनु, करण, भुवन, भोग को शुद्ध एवं अशुद्ध माया से उत्पन्न करती है। बिन्दु शुद्ध माया से, मोहिनी अशुद्ध माया से एवं जागतिक पशु इत्यादि (मान, हिरण) प्रकृति माया से उत्पन्न होते हैं। वह मगर एवं असुरों से संघर्ष करने वाली, वर्षा से भी अधिक नुकीली तेजोद्दीप्त नयनवाली, परमेश्वर के जीवों को जन्म-मृत्यु के चक्र से मोक्ष प्रदान करने वाली आनन्द ताण्डव की प्रत्यक्षदर्शी (विश्व की) जननी रूपा है। मैं उसकी कृपा की प्रार्थना करता हूँ।

परा शक्ति के प्रति प्रणति प्रदर्शित करते हुए श्री उमापति उसे सर्वव्यापी एवं तिरोधान शक्ति के रूप में वर्णित करते हैं। वह परमेश्वर की इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति एवं क्रियाशक्ति है। उसकी अनुकम्पा से साधक, शिव-भोग (ईश्वरानन्द) की स्थिति को प्राप्त करता है। इस स्थिति को प्रदान करने के निमित्त यह परा-शक्ति, इच्छा, ज्ञान एवं क्रियाशक्ति के रूप में प्रकाशित होती है। वह अपने को बिन्दु एवं मोहिनी से संयुक्त करती हुई शुद्ध तथा अशुद्ध माया के द्वारा जीवों को तनु, करण, भुवन, भोग प्रदान करती है। इन तत्त्वों से सम्बन्धित होकर वह आधारभूत प्रथम कारण के रूप में प्रतिष्ठित होती है। वह मन से सम्पूर्ण अप्रभावित रहती है। वह पंचकृत्य का बीज अथवा मूल स्रोत (कारण) है। चिदम्बरम् में नटराज का नृत्य विश्व की आसक्तियों से जीवों को मुक्त करने वाला है, जो शिव-शक्ति के साक्षित्व में ही अनुष्ठित होता है।

श्री उमापति कहते हैं कि इस आधारभूता मातृशक्ति के चरण कमल को मैं अपने मस्तक पर धारण करता हूँ एवं उक्त कार्य को सम्पन्न करने के लिए उनसे प्रार्थना करता हूँ।

उक्त श्लोक में श्री उमापति शिवाचार्य शैव-सिद्धान्त के महत्वपूर्ण तथ्य का प्रतिपादन करते हैं कि ईश्वर शक्ति के रूप में सर्वव्यापी है। ईश्वर के सर्वव्यापकत्व को ही तिरोधान शक्ति कहा जाता है जो जीवों के निकट अप्रकाशित रहकर विश्वव्यापी रहता

है। ईश्वर शक्ति इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया इन तीनों रूपों में जीवों के कल्याण के लिए सतत प्रकाशित रहती है। केवल ईश्वर-शक्ति ही जीवों को इस संसार बन्धन से मुक्ति प्रदान कर सकती है एवं ईश्वरानन्द का आस्वादन करा सकती है। इस संसार के लिए शिव-शक्ति तनु, करण, भुवन, भोग इत्यादि शुद्ध एवं अशुद्ध माया के द्वारा निर्मित प्रपंचों के माध्यम से जगत का उपभोग कराती है एवं अन्ततः निस्सार जगत के प्रति अनासक्त भाव को उत्पन्न करते हुए शिवानन्द अर्थात् शिव-ज्ञान को प्रदान करती है। शिव-शक्ति ही पंचकृत्य अर्थात् सृष्टि, स्थिति, प्रलय तिरोधान एवं अनुग्रह का सम्पादन करती है। नटराज का नृत्य रस रूप शिव-शक्ति की इस अभिव्यक्ति को सूचित करता है। शिव-शक्ति ही वह मूल कारण या स्रोत है जो पंचकृत्य के माध्यम से जीवों को शिवानन्द रूपी लक्ष्य को प्रदान करती है। उक्त श्लोक में श्री उमापति शैव-सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर तत्त्व के क्रियात्मक स्वरूप की व्याख्या करते हैं।

ईश्वर-शक्ति ईश्वर से तादात्म्य है जो सृष्टि प्रक्रिया में ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं संकल्पात्मक शक्ति के रूप में प्रकाशित होता है। ईश्वर चित् शक्ति के रूप में ही विश्वव्यापी रहता है एवं जीवों को नित्य, शाश्वत्, ज्ञानानन्द को प्रदान करता है। शिव-शक्ति ही सृष्टि का निमित्त कारण है जिसकी अन्तःप्रेरणा से जीवों के कल्याण के लिए अचेतन माया की विभिन्न प्रकार की सृष्टि होती है। पंचकृत्य ईश्वर का अनुग्रह है। जीवों के कल्याण के लिए ईश्वर नटराज के रूप में आनन्दनृत्य करता है। ईश्वर का यह नटराज रूप परम करूणामय है जो मल को दूर करता हुआ अज्ञानता के आवरण से जीव को ज्ञान-प्रकाश की ओर ले जाता है। नटराज रूप में शिव आणवाधृत पशुआत्मा के बन्धन मोचन के लिए आनन्द नृत्य करता है जो जीव के प्रति उसकी असीम करुणा की अभिव्यक्ति है। श्री उमापति कहते हैं कि शिव के इस आनन्द ताण्डव में स्वयं उमा साक्षी रूप में विद्यमान रहती है, अर्थात् जीव के प्रति कृपा परवश होकर ईश्वर अपनी शक्ति को पूर्णरूप से जाग्रत करता हुआ आत्मा को ज्ञानानन्द प्राप्त कराता है। श्री उमापति ईश्वर की इस पूर्ण कृपाशक्ति के प्रति आत्म समर्पण करते हुए प्रार्थना करते हैं। उक्त पद में उमापति ईश्वर एवं जीव के सम्बन्ध को सार्थक बनाने वाली कृपा-शक्ति, जो ईश्वर से तादात्म्य होते हुए भी विभिन्न रूपों में प्रकाशित होती है, का वर्णन करते हुए उसके प्रति प्रणति ज्ञापन करते हैं।

पद नं. ३—विनायक

भावानुवाद

अच्छी कविता की रचना पाँच प्रकार के दोषों से मुक्त होती है। मैं श्री विनायक के

निकट निर्दोष रचना के लिए प्रार्थना करता हूँ। मैं जननी उमा-माहेश्वरी, जिनका वशी की तरह विशाल नयन असुरों से संघर्षरत होने के कारण लालिमा से युक्त हो गया है, एवं जो परमेश्वर के आनन्द नृत्य का दर्शन करती है, के निकट प्रार्थना करता हूँ। गणपति जो गजानन है एवं जिसके दोनों दन्तों के पास से प्रवाहित होने वाला मद पर्वत से प्रवाहित झरने की तरह प्रतीत होता है, पार्वती एवं परमेश्वर की प्रथम सन्तान गणेश नाम से जाना जाता है। मैं उक्त ग्रन्थ की निर्दोष रचना के लिए उनका नमन करता हूँ।

उक्त श्लोक में श्री उमापति शिवाचार्य विघ्न विनायक श्रीगणेश की वन्दना करते हुए प्रार्थना करते है कि उनकी कृपा से सभी प्रकार के शुभ को प्राप्त करें एवं पाँच प्रकार के दोषों से मुक्त हो जाएँ। लेखन में अक्षर-दोष, शब्द-दोष, अर्थ-दोष, छन्द-दोष एवं अलंकार दोष ये पाँच प्रकार के दोष माने जाते हैं अर्थात् उपयुक्त शब्द, अर्थ, छन्द और अलंकार का प्रयोग ही निर्दोष लेखन है। श्री उमापति निर्दोष लेखन एवं सब बाधा विपत्तियों से रक्षा पाने के उद्देश्य से गणपति की वन्दना करते हुए कहते हैं कि विघ्न विनायक गजानन के चरण कमल की कृपा से इस लेखन कार्य में वे सफलता को प्राप्त करें।

गजानन, विनायक के रूप की वर्णन करते हुए श्री उमापति कहते हैं कि विशाल दन्त की दोनों ओर प्रवाहित मद से युक्त गण्ड-स्थल ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे मानों पर्वतों से जल धाराएं झरनों के रूप में प्रवाहित हो रही हो एवं ऋषिगण मधुमक्खी रूप धारण करके उस मद का आस्वादन करते हों। गणपति विघ्नविनायक सिद्धिदाता, उमा महेश्वर के प्रथम सन्तान गणेश के नाम से अभिहित होते हैं। श्री उमापति ज्ञान-सिद्धि प्रदान करने वाले देवता गणपति की कृपा को प्राप्त करने के लिए उनके चरण-कमल का वन्दन करते हैं, क्योंकि उनकी कृपा से ही रचना उपरोक्त छः दोषों से मुक्त हो सकती है। उक्त पद में श्री उमापति गणपति के साथ ही उमा माहेश्वरी की कृपा को प्राप्त करने के लिए भी पुनः प्रार्थना करते हैं।

पद नं. ४—सुब्रह्मण्यम्

भावानुवाद

देवलोक के सेनाधिपति, जो नीले मयूर को वाहन बनाते हुए उसके ऊपर अधिष्ठित है, बालक रूप में परम ज्ञानी, सूर-पद्मासूर के वक्षस्थल को अपने तीव्र शूल आयुध के द्वारा चीर देने वाला है। हे देवः मुरूगन आप के कृपा से समस्त बाधाएँ एवं विपत्तियाँ उसी प्रकार से कट जाँय। आपकी पत्नी व्याध कन्या वल्ली जिनके साथ, क्रीड़ा करते समय आपके वक्ष में चन्दन का लेपन लग जाता है, ऋषि अगस्त आपसे छः विद्याओं को प्राप्त करते हैं, हे! कन्द स्वामी सुब्रह्मण्यम्, मैं आपके चरण कमल का वन्दन करता हूँ।

सुब्रमण्यम् अथवा कार्तिकेय का वन्दन

सुब्रमण्यम् या कार्तिकेय जिसका वाहन नीले रंग का मोर है, सब देवों का रक्षक है। कार्तिकेय शिव की दिव्य संतान है। कार्तिकेय की कृपा से ही ऋषि अगस्त्य वेद एवं वेद के छः अंगों में पारंगत हुए। कार्तिकेय सुर पद्मासुर का संहार करता है एवं जीवों के सांसारिक दु:खों का निवारण करता है। प्रभु सुब्रमण्यम् की दो पत्नियाँ हैं जिसमें दूसरी पत्नी वल्ली से उनका विशेष स्नेह है। उक्त ग्रन्थ के निर्दोष सम्पादन के लिए श्री उमापति शिवाचार्य कार्तिकेय के प्रति प्रणति ज्ञापन करते हैं।

श्री उमापति उमा-महेश्वर के कनिष्ठ सन्तान कार्तिकेय के गुण एवं शौर्य वीर्य का वर्णन करते हुए उनका वन्दन करते हैं। बालक रूप में परम-ज्ञानी, ऋषि अगस्त को छः शास्त्रों–शिक्षा, नृत्य, छन्द, ज्योतिष, कर्मकाण्ड एवं व्याकरण के ज्ञान को प्रदान करने वाले कार्तिकेय देव लोक के सेनाधिपति है। उनका शौर्य एवं वीर्य विशेष महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपने उज्ज्वल, तीव्र शूल-आयुध से सुरपद्मासुर के वक्ष स्थल को दो भाग में चीर दिया। श्री उमापति स्वामी सुब्रमण्यम् के प्रति प्रार्थना करते हुए निवेदन करते हैं कि हे कृषक व्याध-कन्या प्रिय पत्नी वल्ली से क्रीड़ारत, चन्दन समाविष्ट स्वामी सुब्रमण्यम् आप अपनी कृपा से समस्त बाधाओं को वैसे ही दूर कर दें, जैसे कि आपने पद्मासुर के वक्षस्थल को चीर दिया। कार्तिकेय के प्रति उक्त प्रार्थना को करते हुए ग्रन्थ के निर्विघ्न निर्दोष समापन के लिए श्री उमापति उनको प्रणाम करते हैं।

पद नं. ५–गुरु परम्परा

भावानुवाद

प्रधान देव नन्दी कैलाश की देखभाल करते हैं क्योंकि श्रीकण्ठ परमेश्वर यहाँ सतत् विराजमान रहते है। उनके शिष्यों में सबसे योग्य, ज्ञानी, सनत् कुमार है। तदनन्तर उनका (सनत् कुमार का) शिष्य सत्य ज्ञान दर्शिन् है। उनका शिष्य परॉज्योति मुनिवर, उनका शिष्य तिरूवनैनल्लुर के निवासी सन्त मैकण्ड देव, उनका शिष्य, सन्त अरूल्नन्दी नायनार, उनका शिष्य सन्त मरैज्ञानसम्बदर है। उपरोक्त सात निष्कलुष महान सन्त, कृपामूर्ति गुरु परम्परा है।

श्री नन्दी–श्री कण्ठ परमेश्वर जो कैलाश पर्वत में रहते हैं उनका परम भक्त है। वे सतत् परमेश्वर के प्रति अनन्य भक्ति को रखते हुए कैलाश पर्वत की रक्षा करते हैं। शिव ज्ञान बोध का मौलिक ज्ञान सर्वप्रथम श्री नन्दी देव के माध्यम से ही सनत् कुमार को प्राप्त हुआ। सनत् कुमार से सत्यज्ञान दर्शन एवं पराज्योति मुनिवर को गुरु परम्परा से प्राप्त हुआ। तदन्तर तिरुवेन्नैनल्लूर के सन्त मैकन्द देव ने प्राप्त किया। मैकन्द देव वह महान बाल-

संत है जो शैव सिद्धान्त शास्त्र के जनक माने जाते हैं। बाल्यावस्था में ही उन्होंने तिरुवेन्नैनल्लूर के अरुलतुरे मन्दिर में प्रभु गणपति के सानिद्धय में दैवी ज्ञान को साक्षात रूप में प्राप्त किया एवं बारह प्रसिद्ध सूत्रों के माध्यम से शैव सिद्धांत दर्शन के सार तत्त्व को प्रदान किया। उन्होंने वार्तिकम् के रूप में इन बारह सूत्रों का सफल भाष्य लिखा। उनके शिष्यों में अरुलनंदी शिवाचार्य, जो एक महान सकलागम्य पण्डित थे, शिष्यों में प्रधान थे। अरुलनंदी शिवाचार्य बालसन्त श्री मैकन्द देव की आध्यात्मिक चेतना से अत्यधिक प्रभावित हुए एवं उनसे दीक्षा ग्रहण करके शिव ज्ञान को प्राप्त हुए। उत्तर काल में मैकन्द देव का महान् ग्रन्थ "शिवज्ञानबोधम्" के सार्थक भाष्य के रूप में उन्होंने "शिवज्ञान सिद्धियाइ" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। उक्त ग्रन्थ के दो भाग हैं। प्रथम भाग ३०१ पद में अन्यान्य दार्शनिक सिद्धान्तों का समीक्षात्मक विवेचन है जिसे परपक्कम् कहते हैं। द्वितीय भाग ३२८ पदों में शिव ज्ञान बोधम् में अन्तर्निहित दार्शनिक तथ्यों का विशद् विवेचन है जिसे सुपक्कम् कहा जाता है। यद्यपि ये दोनों भाग एक ही ग्रन्थ के दो भाग हैं परन्तु ये दोनों में स्वतंत्र भिन्न विषय प्रतिपादित होने के कारण स्वतंत्र ग्रन्थ की तरह हैं। गुरु परम्परा में तृतीय स्थान मरैज्ञानसम्बन्द नायनार का है, जो श्री उमापति शिवाचार्य के गुरु हैं। मरैज्ञानसम्बन्दर द्वारा लिखित कोई विशेष ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता है। गुरु परम्पराओं में उमापति शिवाचार्य उपरोक्त सन्तों को प्रणाम करते हुए कहते हैं कि इन गुरुओं के द्वारा प्रदत्त ज्ञान से प्रेरित होकर ही वे इस ग्रन्थ की रचना करने में समर्थ हुए हैं।

पद नं. ६—मरैज्ञानसम्बन्दर

भावानुवाद

यह जो सामवेद के ज्ञान को विकसित करने वाला, पराशर गोत्र, ज्ञान प्रवाह का मूल स्रोत, शैव सन्तान रूपी श्रेष्ठ मणियों में एक, मरूदु गाँव, जिस स्थान में सुन्दर लतायुक्त बगीचे के ऊपर पूर्णिमा की रात्रि में चन्द्रमा की किरण एवं शीतल मेघ दृष्टिगोचर होता है का प्रधान व्यक्ति मरूदुर एवं पेन्नाकडम् गाँव में मेरे प्रति कृपा करने वाले आचार्य, आपके चरन-कमल का मैं वन्दन करता हूँ।

गुरु मरैज्ञानसम्बन्दर के प्रति आत्म निवेदन करते हुए श्री उमापति कहते हैं कि गुरु की कृपा से ही वे इन पदों की रचना करने में समर्थ हुए और पराशर गोत्र विशिष्ट उनके गुरु की कृपा से ही वे शैव दर्शन के रहस्य को प्राप्त हुए एवं उसे उक्त ग्रन्थ के माध्यम से प्रकाशित करने में समर्थ हुए। ग्रन्थ को निर्विघ्न रूप से सम्पन्न करने के लिए वे पुनः गुरु के श्री पद को अपने मस्तक के ऊपर धारण करते हैं।

पद नं. ७–ग्रन्थ का विषयवस्तु

भावानुवाद

बाह्य-दर्शन अन्धकार–रूप है, आन्तरदर्शन प्रकाश रूप है। वेद तथा आगम पर आधारित दर्शन स्वर्ण एवं आभूषण, शब्द एवं अर्थ, देह एवं आत्मा, सूर्य प्रकाश एवं चक्षु-प्रकाश के रूप में वर्णन करते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना शैव-सिद्धान्त में वर्णित सत्य के प्रतिपादन के लिये की जा रही है, जो वेदान्त का सार है।

इस पद से ही शैव सिद्धान्त के दार्शनिक विषय वस्तु का विवेचन प्रारम्भ होता है। शैव सिद्धान्त का रहस्यात्मक तथ्य लोकायत से पंचरात्रों तक बाह्य दार्शनिकों को ज्ञात नहीं है। अर्थात् जो दर्शन सिद्धान्त शैव से सम्पूर्ण भिन्न प्रकार का चिन्तन है वह शैव सिद्धान्त के दार्शनिक विज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता, परन्तु कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जो शैव सिद्धान्त के दार्शनिक तथ्यों से अनेकांश में समानता रखते हैं, आन्तर-सम्प्रदाय कहे जाते हैं। ऐसे आन्तर-सम्प्रदाय आठ हैं। इन दार्शनिक विवेचनों में प्रतिपाद्य विषय को बौद्धिक तार्किक, सामन्जस्य पूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। सृष्टि एवं सृष्टि कर्ता के अभेदत्व को प्रतिपादित करना ही इन दार्शनिक सिद्धान्तों का लक्ष्य है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से सृष्टि कर्ता सृष्टि में अनुस्यूत है परन्तु फिर भी सृष्टि से सम्पूर्ण अप्रभावित रहता है। सृष्टि से सृष्टिकर्ता का सम्बन्ध शब्द एवं अर्थ की तरह है जैसे अर्थ स्वाभाविक रूप से शब्द में अन्तर्निहित रहता है अर्थात् शब्द एवं अर्थ का अविनाभाव सम्बन्ध है उसी प्रकार से सृष्टिकर्ता शक्ति के माध्यम से सृष्टि में अविच्छेद्य रूप से अन्तर्लीन है। इस मौलिक सत्य के ज्ञान के लिए वेद एवं आगम प्रमाण में चर्या, क्रिया ज्ञान एवं योग को साधन के रूप में निर्णीत किया गया है। ईश्वर तत्त्व एवं जीव के सम्बन्ध को सूचित करने के लिए कई दृष्टान्तों को प्रस्तुत किया गया है जैसे–शरीर से युक्त होकर अर्थात् शरीर रूपी साधन को अपनाकर आत्मा बाह्य विषयों के ज्ञान को प्राप्त करती है, जैसे चक्षु-इन्द्रिय प्रकाश से सम्बन्धित होकर दृष्टि संवेदन को प्राप्त करती है वैसे ही ईश्वर शक्ति से अनन्य-भाव से युक्त होकर जीवज्ञान को प्राप्त करता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो रहा है कि ईश्वरतत्त्व से आत्म तत्त्व के अद्वैत, अभेद, एवं अनन्य सम्बन्ध को सूचित करने के लिए दार्शनिकों ने तीन दृष्टान्तों के प्रयोग किये हैं। जो इस प्रकार है–(अ) स्वर्ण एवं अलंकार। उक्त दृष्टान्त के द्वारा ईश्वर एवं आत्मा में अभेद एवं तादात्म्य सूचित होता है। जिस प्रकार स्वर्ण ही अवस्थान्तर से अलंकार के रूप में परिवर्तित होता है अर्थात् स्वर्ण एवं अलंकार में कोई उपादानगत भेद नहीं है, केवल स्वरूपगत भेद है, स्वर्ण की दूसरी स्थिति का नाम ही अलंकार है, एवं अलंकार पूर्ववत् स्वर्ण की स्थिति में परिवर्तित किये जा सकते हैं। अद्वैत दृष्टिकोण की यह व्याख्या

श्री उमापति को स्वीकार्य नहीं है। (ब) एक दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार शब्द एवं अर्थ का भेदाभेद सम्बन्ध भी अद्वैत दृष्टिकोण को सूचित करता है। शब्द अपने अस्तित्त्व में अर्थ को वहन करता है अर्थात् शब्द के उच्चारित होने से ही अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। शब्द एवं अर्थ भिन्नतामूलक प्रतीत होने पर भी वास्तव में अभिन्न है। शब्द का प्रकाशन ही अर्थ का प्रकाशन है, दोनों अविनाभाव रूप से सम्बन्धित है, उक्त अद्वैत दृष्टिकोण को भेदाभेद कहा जा सकता है। (स) इस सन्दर्भ में तीसरा दृष्टिकोण सूर्य का प्रकाश एवं चक्षु इन्द्रिय के समन्वय की तरह है। दृष्टि संवेदन में कई तत्त्वों के समन्वय आवश्यक हैं। केवल चक्षु इन्द्रिय के अस्तित्त्व मात्र से ही दृष्टि संवेदन की प्रक्रिया सम्भव नहीं हो सकती। सूर्य का प्रकाश अर्थात् वाह्य प्रकाश के साथ चक्षु-इन्द्रिय-प्रकाश का संमिश्रण होना आवश्यक है। यह संमिश्रण मात्र दो विषयों का मिलन नहीं है, वरन एक के साथ दूसरे की सहयोगिता पूर्ण मिलन है, सूर्य का प्रकाश इन्द्रिय-प्रकाश के साथ इस प्रकार से समन्वित हो जाता है कि मानो चक्षु इन्द्रिय स्वयं ही देखती है वास्तव में चक्षु इन्द्रिय सम्पूर्ण निर्दोष रखने पर भी सूर्य के प्रकाश की सहयोगिता के बिना विषय को देखने में समर्थ नहीं होती है। सूर्य का प्रकाश चक्षु इन्द्रिय के साथ इस प्रकार से समन्वित रूप में क्रियाशील होता है कि उसकी भिन्नता, स्वतन्त्रता का कोई बोध ही उत्पन्न नहीं होता। उसी प्रकार से शिव-शक्ति सूर्य के प्रकाश के तरह सर्वव्यापी होकर बाह्य विषयों को उद्‌भासित करती है एवं आत्मा से संयुक्त होकर उसे भी ज्ञान प्राप्त करने में सहयोग देती है। अनादि काल से आणवाधृत आत्मा वास्तव में शिव प्रकाश के अन्तर्भूत होने से ही सत्य-ज्ञान को प्राप्त कर सकती है। शिव-शक्ति आत्मा में इस प्रकार से अन्तर्लीन हो जाती है कि उसका कार्य आत्मा के कार्य के रूप में प्रकाशित होता है। शिव-शक्ति एवं आत्मा अनन्य रूप से सम्वन्धित होते हैं। आत्मा के साथ शिव-शक्ति का सहयोग अविनाभाव है। वास्तव में शिव-शक्ति की अन्तः प्रेरणा के बिना मलाधृत पशु आत्मा के लिए अज्ञानता के अन्धकार से मोक्ष प्राप्त करना सम्पूर्ण रूप से असम्भव है। श्री उमापति कहते हैं कि आत्मा एवं ईश्वर चक्षु-इन्द्रिय एवं सूर्य के प्रकाश की तरह अनन्य रूप से सम्बन्धित है, उक्त अनन्य सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हुए श्री उमापति शैव-सिद्धान्त दर्शन को "सिद्धान्तों का सिद्धान्त" अर्थात् सार-सिद्धान्त कहते है। उनके अनुसार वेदागम में जितने प्रकार के अद्वैत दृष्टिकोण प्रतिपादित किये गये हैं, उनमें शैव-सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित व्याख्या ही सर्वोत्कृष्ट एवं सभी सिद्धान्तों के सार, मौलिक दृष्टिकोण के रूप में प्रतिष्ठित होती है। जैसा पहले बताया गया है कि शैव-सिद्धान्त के अनुसार दार्शनिक विवेचन चार प्रकार के माने गये हैं।

(१) बाह्यतर–जो सिद्धान्त दर्शन से सम्पूर्ण भिन्न, विपरीत मुखी दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हैं जैसे–बौद्ध, जैन लोकायत इत्यादि नास्तिक दर्शन।

(२) बाह्य सिद्धान्त–ऐसे दृष्टिकोण जो शैव सिद्धान्तों से भिन्न स्वतन्त्र दृष्टिकोण प्रतिपादित करते है–जैसे–न्याय, मीमांसा, सांख्य, योग, मायावाद इत्यादि।

(३) आन्तर सिद्धान्त–उक्त धर्म के अन्तर्गत कई प्राचीन लुप्तप्राय शैव दर्शन माने गये हैं जैसे–पाशुपत, महान्वत (कापालिक), कालामुख, वाम, भैरव, ऐक्यवाद शैव दर्शन इत्यादि।

(४) आन्तरतर–इसके अन्तर्गत पाषाणवाद, मेदवाद शैवदर्शन, शिव समवाद, शिव संक्रान्तवाद, ईश्वराधिकारवाद, शिवाद्वैतशैव दर्शन एवं परिणामवाद् शैवदर्शन माने गये हैं, जो शैव-सिद्धान्त से अधिक समानता रखते हैं।

अत: उक्त पद में श्री उमापति ने विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के वर्गीकरण एवं अद्वैत दृष्टिकोण की विशिष्टताओं का प्रतिपादन करते हुए उक्त महान 'शिवप्रकाशम्' ग्रन्थ के माध्यम से सिद्धान्त दृष्टिकोण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। वेद तथा आगम-शास्त्र के अनुकूल कई दार्शनिक दृष्टिकोणों के विकास हुए जिनमें शैव-सिद्धान्त का दृष्टिकोण सर्वोत्तम माना जाना चाहिए। उक्त मन्तव्य की पुष्टि के लिए शिवप्रकाशम् ग्रन्थ की सम्पादना की गई है–ऐसा श्री उमापति का कहना है।

पद नं. ८

भावानुवाद

जो आत्माएँ आणवमल से युक्त है, विज्ञान कल कही जाती हैं। जिसमें आणव तथा कर्म मल विद्यमान रहता है, प्रलयाकल कहा जाता है, एवं जो आणव कर्म तथा मायामल से आबद्ध है, सकल स्थिति में आत्मा को कहा जाता है, अत: आत्मा तीन प्रकार की स्थिति में रहती है। सकल स्थिति में आत्मा परमेश्वर के स्पर्श से स्पर्श दीक्षा, चक्षु दीक्षा, मन्त्र को प्राप्त करते हुए वाचक दीक्षा, कुण्ड, मण्डल इत्यादि की कल्पना करते हुए मानस दीक्षा, समय दीक्षा के उपरान्त शास्त्र ज्ञान से शास्त्र दीक्षा, प्राणायामादि योग के द्वारा योग दीक्षा, दो प्रकार की औध्री दीक्षा–कुण्ड तथा मण्डलादि के द्वारा तीन प्रकार के मलावरण को दूर करने के लिए क्रियावती एवं ज्ञानवती नामक दो औध्री दीक्षाएँ दी जाती है। कुल मिलाकर दीक्षा सात प्रकार की होती है।

सृष्टि प्रपंच में आत्मा तीन प्रकार की स्थितियों में अवस्थित रहती हैं, वे इस प्रकार हैं–विज्ञान कल–(१) इस स्थिति में आत्मा आणवमल से ही ग्रसित रहता है, (२) प्रलयाकल–इस स्थिति में आत्मा का सम्बन्ध आणव एवं कर्म मल से रहता हैं, (३) सकल–यह वह स्थिति है जिसमें आत्मा आणव मल, कर्म मल एवं माया मल तीनों

के साथ घनिष्ट रूप से सम्बन्धित रहती है। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि आत्मा कैसे एवं क्यों इन पाशों से आबद्ध हो जाती है, एवं आत्मा को पाशों के बन्धन से मुक्त होने का उपाय ही क्या है? शिव आत्माओं के इन पाशों से मुक्त होने में एक मात्र सहायक है। विज्ञानकल एवं प्रलयाकल की अवस्थाओं में मुक्त करने के लिए ईश्वर को कोई आकार धारण करने की आवश्यकता नहीं होती। ईश्वर साक्षात् रूप से ही इन आत्माओं को कृपा प्रदान करता है। परन्तु सकल आत्माओं के लिए ईश्वर गुरु के रूप में अपनी कृपा की वर्षा करता है। गुरु कई प्रकार से दीक्षा प्रदान करता है, दृष्टि के माध्यम से, स्पर्श के द्वारा, शास्त्राध्ययन, भावना (औद्री) इत्यादि दीक्षा के द्वारा ईश्वरीय कृपा को व्यक्ति प्राप्त करता है। औद्री दीक्षा दो प्रकार की होती है–(१) क्रियावती अर्थात् आचार एवं अनुष्ठानों के द्वारा एवं (२) ज्ञानवती अर्थात् भावना के द्वारा।

विज्ञान कल आत्माएँ भी दो प्रकार की हैं– पक्व एवं अपक्व। जिन आत्माओं का मल सम्पूर्ण परिपक्व स्थिति में हो गया है, ईश्वर की कृपा से वे आत्माएँ सायुज्य मुक्ति को प्राप्त होती है जिन आत्माओं का मल अपरिपक्व स्थिति में है वे आत्माएँ क्रमशः अधिकार को प्राप्त होती है। विभिन्न अधिकारों से युक्त सत्ताओं के विभिन्न नाम एवं कार्य बताएँ गये है। (१) अनुसदाशिव, (२) अष्टविद्देश्वर, (३) सप्तकोटीमहामंत्रेश्वर ऐसी सत्तायें हैं। अनुसदाशिव परम शिव की कृपा को प्राप्त करके सादाख्य तत्त्व में अवस्थित रहता है। अष्टविद्देश्वर का अवस्थान माहेश्वर तत्त्व में हैं। सप्तकोटी महामंत्रेश्वर शुद्ध विद्यातत्त्व में अवस्थित रहते हैं। ये सत्तायें दो प्रकार की हैं। कुछ सप्तकोटी महामंत्रेश्वर सकल आत्माओं की सहायता करते हैं। इन महामंत्रेश्वरों की मुक्ति अर्थात् (परम शिव में विलय) महाप्रलय में होती हैं, और एक प्रकार के महामंत्रेश्वर है जो प्रलयाकल आत्माओं की सहायता करते हैं इन महामंत्रेश्वरों की मुक्ति महाप्रलय से पहले ही होती है।

जैसा पहले बताया गया है कि सकल स्थिति में गुरु दृष्टि के द्वारा चक्षुदीक्षा, स्पर्श के द्वारा स्पर्श दीक्षा, मन्त्रोच्चारण के द्वारा वाचक दीक्षा, कुण्ड, मण्डलादि शास्त्र ज्ञान को प्रदान करते हुए शास्त्र दीक्षा, प्राणायामादि यौगिक क्रिया के माध्यम से योग दीक्षा एवं पूर्वोक्त क्रियावती तथा ज्ञानवती दो प्रकार की औद्री दीक्षा प्रदान करते हैं। उपरोक्त सात प्रकार की दीक्षाएँ साधक के अधिकार भेद के आधार पर प्रदान की जाती हैं। जिस प्रकार से मत्स्य दृष्टिपात के द्वारा अण्डे से मत्स्य को प्रस्फुटित करता है, उसी प्रकार से गुरु ज्ञानदृष्टि के द्वारा साधक के आन्तरिक ज्ञान को प्रस्फुटित करते हुए उसे नव जन्म प्रदान करता है। गुरु के स्पर्श के द्वारा साधक के चित्त से अज्ञानान्धकार तिरोहित होकर सत्य-ज्ञान प्रकाशित होता है जिसे स्पर्श दीक्षा कहते हैं। साधक के कर्ण में पंचाक्षर मन्त्रों को प्रदान करते हुए गुरु शिष्य को मन्त्र दीक्षा प्रदान करता है। गुरु से शास्त्र वचनों को प्राप्त करना शास्त्र दीक्षा कहलाती है। अष्टांग योग (यम नियमादि) के साधन के द्वारा चित्त के

विकारों का विरोध करना योग-दीक्षा है। संयम के द्वारा मानसिक चंचलताओं पर नियंत्रण प्राप्त करते हुए मन में कुण्ड एवं मण्डलम् की रचना करते हुए क्रियावती मानस दीक्षा की प्राप्ति की जाती है। तदनन्तर ज्ञानवती मानस दीक्षा से मलान्धकार तिरोहित होकर पाशक्षय को प्राप्त हो जाता है। उक्त क्रियावती एवं ज्ञानवती मानस दीक्षाएँ औद्री दीक्षा कहलाती है। साधक की आध्यात्मिक स्थिति, योग्यता तथा आवश्यकता के अनुसार गुरु उपयुक्त प्रणाली से दीक्षा प्रदान करता है। दीक्षा ही शक्तिपात रहस्य है जो मोक्ष का एक मात्र उपाय है।

पद नं. ९

भावानुवाद

तीन प्रकार की दीक्षा प्रणाली अधिकारी भेद के अनुसार मानी जाती है। समय दीक्षा मन्त्रों के अधिकारी को, विशेष दीक्षा उपासना, अनुष्ठान एवं यौगिक साधन के अधिकारी को, निर्वाण दीक्षा अध्यात्मिक ज्ञान एवं छः अध्वों, जिनके माध्यम से कर्मों के फल भोग होते हैं, से मुक्ति प्रदान करने वाली है। उक्त विधान एक ओर मन्त्र, पद वर्ण एवं दूसरी ओर भुवन, तत्त्व एवं कल के माध्यम से प्रतिफलित होता है। मन्त्र १६, पद ८१, वर्ण ५१ (अ से क्ष तक) भुवन २२४, तत्त्व २६ एवं कल ५ होते हैं। गुरु विभिन्न प्रकार के परीक्षणों के बाद निष्ठावान शिष्यों को ज्ञान प्रदान करता है।

उक्त श्लोक में चर्या, क्रिया योग एवं ज्ञान के सन्दर्भ में विशद विवेचन किया गया है। जो आत्माएँ विशेष रूप से ईश्वर की कृपा को प्राप्त करना चाहती हैं उन्हें सतत मन्त्रों का उच्चारण, मनन, पूजन एवं अधिक से अधिक योग एवं ध्यान का अभ्यास करते रहना चाहिए। जिन मनुष्यों को समय दीक्षा एवं विशेष दीक्षा प्राप्त हुयी है उन्हें इन उपरोक्त अनुष्ठानों का निरंतर पालन करते रहना चाहिए। निर्वाण दीक्षा अपने में विशेष है इसकी अन्य किसी भी प्रकार की दीक्षा से कोई तुलना नहीं हो सकती। निर्वाण दीक्षा प्राप्त आत्माओं को उपयुक्त समय में शिव-सामुज्य की प्राप्ति होती है। वे आत्माएँ स्वभावतः सोलह मन्त्र, पद एक्यासी, वर्ण एक्यावन, दो सौ चौबीस भुवनों, छत्तीस प्रपंच तत्त्व, पाँच कल एवं छः अध्वों से परें परम तत्त्व से संयुक्त होते हैं। मन्त्र केवल ज्ञानी व्यक्तियों के लिए नहीं होते, वरन् सामान्य व्यक्ति भी मन्त्र के द्वारा ही आत्मोन्नति के मार्ग में क्रमशः अग्रसर होते हैं। मन्त्र सभी के लिए उपयोगी एवं फल-प्रसू होता हैं। पूजा तीन प्रकार की होती है।

(१) गुरुपूजा, (२) शिवपूजा, (३) माहेश्वर पूजा। गुरु की आराधना एवं अर्चन ही गुरु पूजा है। शिव रूप में परमेश्वर की उपासना शिव पूजा कहलाती है। शिव-भक्तों

की आराधना माहेश्वर पूजा है। इन साधनों के साथ अष्टांग योग के साधन अवश्यम्भावी रूप से सम्बद्ध है। समय दीक्षा के द्वारा चर्या के अधिकार को प्रदान किया जाता है अर्थात् समय दीक्षा प्राप्त व्यक्तियों को चर्या के विभिन्न अंगो का संपादन करना चाहिए। विशेष दीक्षा से क्रिया एवं योग के अधिकार प्राप्त होते हैं। स्वाभाविक रूप से ही इन साधकों का साधन क्षेत्र और व्यापक, गहन एवं विविधतामूलक होते हैं। साधन जीवन में इनका उत्तरदायित्व और गहन हो जाता है। निर्वाण दीक्षा सर्वोच्च प्रकार की दीक्षा है, ऐसे तो सभी दीक्षाएँ शिव कृपा से ही प्राप्त होती है परन्तु निर्वाण दीक्षा तीव्र-शक्ति-निपात का परिणाम है, निर्वाण दीक्षा भी दो प्रकार की बतायी गयी है। (१) सद्य निर्वाण दीक्षा, (२) असद्य निर्वाण दीक्षा। सद्य निर्वाण दीक्षा तीव्रतम शक्ति-निपात का फल है जिसमें साधक तत्क्षणात् परम पद को प्राप्त हो जाता है असद्य निर्वाण दीक्षा में साधक को मोक्ष तो प्राप्त हो ही जाता है किन्तु वह शिव-कार्य में सतत नियुक्त रहकर जीवन मुक्त स्थिति में विद्यमान रहता है। दीक्षा मुख्यत: दो प्रकार की मानी जाती है :–

(१) निराधार एवं (२) साधार। निराधार दीक्षा में कोई माध्यम का आधार नहीं रहता जबकि साधार दीक्षा माध्यम जनित दीक्षा है, विज्ञान कल एवं प्रलयाकल की स्थिति में आत्मा को निराधार दीक्षा की प्राप्ति होती है जिसमें ईश्वर शक्ति का तीव्र एवं तीव्रतर निपात होता है। विज्ञानकल के लिए ईश्वर अन्तर्यामी रूप में आन्तरिक दीक्षा को प्रदान करता है एवं प्रलयाकल के लिए परमेश्वर सदाशिव के रूप में ज्ञान-दीक्षा प्रदान करता है। तीव्र शक्ति निपात से जन्म, मृत्यु की शृंखला जनित बन्धन से मुक्ति मिल जाती है। सकल स्थिति में शिव-शक्ति, गुरु रूप में मन्दतर, मन्द, तीव्र, तीव्रतर–ये चार प्रकार के शक्ति-निपात से दीक्षा प्रदान करती है। गुरु ही वह आधार है जिसके माध्यम से साधक के ऊपर शिव-शक्ति का आविर्भाव होता है। ये कई प्रकार के होते हैं–जैसे श्रवण दीक्षा, स्पर्श दीक्षा, दृष्टि दीक्षा इत्यादि। इन दीक्षाओं में हौत्री दीक्षा जो अग्नि उपासना के द्वारा प्राप्त की जाती है, मुख्य है। अग्नि दीक्षा भी दो प्रकार की होती है–अधिकारी अर्थात् सबीज एवं निरधिकारी अर्थात निर्बीज। जो साधक शैवाचार का प्रति-पालन करता है, वह सबीज दीक्षा का अधिकारी होता है। सबीज दीक्षा के द्वारा समयाचार (शास्त्र निहित आचार अनुष्ठान) का प्रतिपालन करते रहने से साधक की कर्म-शुद्धि होती है, जो असद्यो निर्वाण की दो स्थितियाँ–शिव धर्मिणी एवं लोक धर्मिणी को उत्पन्न करती है। निर्वाण दीक्षा उन साधकों के लिए है जो नियमित रूप से सभी धार्मिक आचार एवं अनुष्ठानों का सम्पादन नहीं कर सकते। निर्बीज दीक्षा भी दो प्रकार की होती है–असद्यो निर्बीज निर्वाण एवं सद्यो निर्वाण सबीज दीक्षा प्राप्त करने वाले दो प्रकार के होते हैं–साधक एवं गुरु से नित्य एवं नैमित्तिक कर्म के अधिकारी होते हैं। सबीज दीक्षा से सबीज निर्वाण की प्राप्ति होती है। सबीज निर्वाण एवं समय विशेष दीक्षा, जो साधिकार कहलाती है, विशेष योग्यता उत्पन्न करती है।

निर्बीज निर्वाण समय तथा विशेष नैमित्तिक अनुष्ठान के उपयुक्त नहीं रहते। अतः वे निरधिकारी कहे जाते हैं। उक्त दोनों प्रकार की दीक्षा पुनः क्रियावती एवं ज्ञानवती दीक्षा अर्थात् क्रमशः बाह्य अनुष्ठानों से पूर्ण एवं मानस-प्रक्रिया के द्वारा मानी जाती है। उक्त दो प्रकार की दीक्षा प्रणाली बाह्य एवं आन्तरिक उपासना प्रणाली मानी जाती है। अतः सोमशम्भु पद्धति के अनुसार दीक्षा को सर्वप्रथम साधिकार एवं निराधार के रूप में माना गया है। पुनः उसकी क्रियावती एवं ज्ञानवती प्रणाली का वर्णन पाया जाता है। समय दीक्षा प्राप्त करने वाला साधक रूद्र-लोक में जाता है एवं विशेष दीक्षा के द्वारा साधक को ईश्वर-लोक की प्राप्ति होती है। केवल निर्वाण-दीक्षा प्राप्त करने वाला साधक ही परमेश्वर के चरण कमल को प्राप्त करता है। समय-दीक्षा वह प्रथम प्रणाली है जिससे साधक शैव-धर्म का अनुसरण करने का अधिकारी बनता है। विशेष दीक्षा के द्वारा साधक वागीश्वर के माध्यम से वागीश्वरी के गर्भ में प्रविष्ट होता है जिससे साधक को वागीश्वरी के द्वारा पुनर्जन्म की प्राप्ति होती है। उक्त प्रक्रिया के द्वारा साधक परमेश्वर की सन्तान बनता है एवं शिवार्चन, शिवध्यान, तथा शैवधर्म शास्त्रों के अध्ययन का अधिकारी बनता है। निर्वाण-दीक्षा प्राप्त करने के लिए साधक को उक्त प्रथम दो प्रणालियों के द्वारा साधना करनी चाहिए। शैव-शास्त्र के अनुसार सम्पूर्ण विश्व प्रपंच छः अध्वों में विभाजित है जो वर्ण, पद, मन्त्र, कल, तत्त्व एवं प्रपंच है। उक्त छः अध्वों के माध्यम से पशुआत्मा कर्मफलों का उपभोग करता है। उक्त स्थिति में साधक क्रमशः अपने पूर्व कर्मों के प्रति सचेत होता हुआ उससे मुक्ति पाने का प्रयास करता है एवं प्रसाद योग के द्वारा परमेश्वर के षड्गुणों से सम्पन्न होता है, जैसे स्फटिक सम्बन्धित विषय के रूप एवं गुण को धारण कर लेता है। यही ज्ञान दीक्षा की स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त करने वाले साधक ही शैवधर्मों के ग्रन्थों की व्याख्या के अधिकारी माने जाते हैं; क्योंकि ईश्वर की कृपा से वह विश्व-प्रपंच के बन्धन से मुक्त होकर सत्य से समन्वित हो जाता है। अतः वही सत्य स्वरूप को जानता है एवं उसका वर्णन करने का अधिकारी है। दीक्षा आन्तरिक अन्धकार को दूर करती हुई ज्ञान के प्रकाश को प्रदान करती है जिससे कर्म बन्धन का नाश हो जाता है।[१] निर्वाण दीक्षा दो प्रकार की होती है–सद्यो-निर्वाण एवं असद्यों-निर्वाण, सद्यो-निर्वाण दीक्षा के द्वारा ईश्वर के तीव्रतर शक्ति-निपात से साधक तत्क्षण बन्धन से मुक्ति पाकर ईश्वर को प्राप्त हो जाता है। जबकि असद्यों-निर्वाण से प्रारब्ध कर्म के फल भोग के उपरान्त वर्तमान जीवन के अन्त में साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार की मुक्ति मन्दतर, मन्द एवं तीव्र, तीव्रतर शक्ति निपात से होती है। असद्यों दो प्रकार के होते हैं। उलूग् धर्मिणी एवं शिव धर्मिणी। उलूग् धर्मिणी निर्वाण में केवल पुण्य कर्म परिशोधित

१. शिवो धर्मोत्तर, सर्वोन्नुनोत्तर, ज्ञानतिलक इत्यादि आगमग्रन्थों में इसका विशेष उल्लेख प्राप्त होता है।

होते हैं जिसे भौतिक दीक्षा कहते है। शिव-धर्मिणी निर्वाण दीक्षा में पुण्य एवं पाप दोनों प्रकार के कर्म परिशोधित होते हैं जिसे नैष्ठिक-दीक्षा कहते हैं। भौतिक दीक्षा अथवा उलूग् धर्मिणी ब्रह्मचारी एवं गृहस्थ दोनों को दी जाती है, शिवधर्मिणी अथवा नैष्ठिक दीक्षा ब्रह्मचर्य व्रतधारी अथवा सन्यासी को दी जाती है। इस प्रकार चारो आश्रम के व्यक्तियों को दो प्रकार की दीक्षा प्रदान की जाती है।

पद नं. १०

भावानुवाद

क्रिया इत्यादि सभी ज्ञान के बारे में ही बताते है, जो चर्या, क्रिया एवं योग का अभ्यास करते रहते हैं वे सालोक्य, सामीप्य एवं सारूप्य को प्राप्त करते हैं। ज्ञान दो प्रकार से प्राप्त होते हैं–प्रथमत: ईश्वर की कृपा से, जिसे अपने मन में सतत् बनाए रखने से अहंकार या अभिमान स्वत: दूर हो जाता है द्वितीयत: शिवागम् का नियमित अध्ययन करते रहने से, जो स्पष्टत: एवं मुख्यत: ईश्वर की कृपा का ही वर्णन करता है।

उक्त पद में श्री उमापति शिवाचार्य सभी साधन प्रणाली एवं आगम प्रमाण की विशेषताओं को बताते हुए कहते हैं कि यद्यपि चर्या, क्रिया, योग इत्यादि भिन्न-भिन्न साधन प्रणाली है परन्तु ये सभी ज्ञान की ओर संकेत करते हुए ज्ञान को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। शैव सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान ही मोक्ष का साधन एवं साध्य है, चर्या, क्रिया, योग इत्यादि अन्यान्य सभी साधनों का लक्ष्य ज्ञान को प्राप्त करना है। इन साधनों में परस्परिक कोई विरोध न होते हुए भी ये विभिन्न स्थितियों को प्रदान करने में समर्थ है जैसे–चर्या साधन को अपनाने वाला सालोक्य, क्रिया साधन का अभ्यास करने वाला सामीप्य एवं योग साधन को संपादित करने वाला शक्ति-सारूप्य स्थिति को प्राप्त करता है। ज्ञान ही केवल शिव-सायुज्य को प्रदान करने में समर्थ होता है। श्री उमापति शिवाचार्य ज्ञान के साधन के अनुसार ज्ञान की गहनता का विवेचन करते हुए बताते हैं कि निरंतर शैवागम् इत्यादि शब्द-प्रमाण के अध्ययन से, जो ईश्वरीय कृपा की ही विशद् एवं व्यापक विवेचना करते हैं, जिससे क्रमश: मनुष्य का चित्त ईश्वरानन्द की ओर उन्मुखता को प्राप्त होता है। ईश्वर की इन महिमाओं का निरंतर मनन एवं निदिध्यासन करते रहने के फलस्वरूप चित्त से अन्यान्य विकार दूर हो जाते हैं एवं निर्मल चित्त में ईश्वरीय चैतन्य रूपी कृपा का प्रकाश उज्ज्वल से उज्ज्वलतर होता जाता है। इसी प्रक्रिया की अन्तिम स्थिति ही ईश्वरानन्द की प्राप्ति या शिव सायुज्य की अनुभूति है। अत: यह स्पष्ट है कि शिव शक्ति ही, जो ज्ञान शक्ति, चित् शक्ति या कृपा शक्ति है, शिव सायुज्य या शिवानन्द को प्रदान कर सकती है। आध्यात्मिक साधन के सभी उपाय इस अन्तिम स्थिति को ही अपना लक्ष्य

बनाते हैं। चर्या, क्रिया, योग इत्यादि सभी साधनों में ज्ञान अन्तर्निहित रहता है और इसीलिए वे क्रमशः ईश्वर का सालोक्य, सामीप्य एवं सारुप्य को प्रदान करने में समर्थ होते हैं परन्तु फिर भी जब तक ज्ञान (चैतन्य) सभी आवरणों से मुक्त होकर सम्पूर्ण रूप से उद्भासित नहीं हो जाता तब तक शिवानन्द या शिव-सायुज्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है। ज्ञान के इस पूर्ण प्रकाशन के लिए एक मात्र चित् शक्ति ही उत्तरदायी होती है। शिव-शक्ति ही शिव-स्वरूप को प्रदान करने में समर्थ है। श्री उमापति शिवाचार्य आगे क्रमशः उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन करेंगे। अहंकार या अभिमान ही शिव-ज्ञान का मूल बाधक है। इसीलिए शैवागम् इत्यादि शास्त्र ज्ञान के द्वारा सतत् ईश्वरीय सत्ता का मनन करते रहना ही एकमात्र कर्तव्य है। ईश्वर की महिमा के निरंतर अनुध्यान से ही क्रमशः अहंकार दूरीभूत होकर ईश्वरीय चैतन्य के प्रकाश से आत्मा प्रकाशित होती रहती है। यही ईश्वर की कृपा है एवं यही ईश्वर को प्राप्त करने का एकमात्र साधन है।

पद नं. ११

भावानुवाद

जैसे पहले बताया जा चुका है कि मैकण्ड देव ही प्रथम गुरु हैं जिन्होंने शिव ज्ञान बोधम् को प्रदान किया है। अरूलनन्दी शिवाचार्य ने शिवज्ञान सिद्धियार प्रदान किया। लेखक इन गुरुओं को प्रणाम करते हैं। उन्होंने इन दो ग्रन्थों का अध्ययन अत्यन्त प्रेम एवं ध्यान से किया। ईश्वर उनके हृदय में विद्यमान है। उन्होंने शैवागम् को प्रदान किया। लेखक ने इन दो शास्त्र ग्रन्थों को मिलाकर उनके सार तत्त्व को ग्रहण करके 'पोद्ध' (सामान्य) एवं 'उणमै' (सत्य) नामक दो भागों में विभाजित करते हुए वर्तमान ग्रंथ की रचना की। उक्त गहन तात्पर्य को त्रुटिहीन रूप से प्रकाशित करने वाला एक सौ श्लोकों से समन्वित यह ग्रन्थ 'शिव प्रकाशम्' नाम से जाना जाता है।

उक्त ग्रन्थ के लेखक श्री उमापति शिवाचार्य इस पद में शैव सिद्धान्त दर्शन के मूल शास्त्र ग्रन्थ की विवेचना संक्षिप्त रूप में कर रहे हैं। यद्यपि शैव सिद्धान्त दर्शन अत्यन्त प्राचीन है, परन्तु इस दर्शन का सुसंस्कृत क्रमबद्ध दार्शनिक अभिव्यक्ति सन्त मैकण्ड देव से ही मानी जाती है। सन्त मैकण्ड देव वह बाल सन्त थे जिनके मुँह से शिव-ज्ञान की अमृत धारा स्वतः प्रवाहित होती थी। ईश्वर की कृपा मूर्ति इस महापुरुष के द्वारा ही शिव-ज्ञान बोधम् नामक शैव सिद्धान्त के अत्यन्त सार गर्भित परन्तु संक्षिप्त, सूत्र के रूप में, ग्रन्थ की रचना की थी। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शिव-ज्ञान बोधम् ही शैव सिद्धान्त दर्शन का प्रथम तत्त्व-ग्रन्थ है। मात्र बारह सूत्रों में ग्रन्थकार ने शैव सिद्धान्त का तात्विक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर दिया है। मैकण्ड देव के

प्रिय शिष्य अरूलनन्दी शिवाचार्य ने शिव-ज्ञान सिद्धियार की रचना की। वास्तव में इस ग्रन्थ को शिव-ज्ञान बोधम् का भाष्य-ग्रन्थ कहा जा सकता है। सन्त मैकण्ड देव ने शिव-ज्ञान बोधम् में शैव सिद्धान्त के जिन दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोणों को संक्षिप्त सूत्राकार में रक्खा उन्हें ही श्री अरूलनन्दी शिवाचार्य ने स्पष्ट रूप से स्वपक्ष एवं परपक्ष के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया। शिव-ज्ञान सिद्धियार ग्रन्थ के दो भाग है–

(१) परपक्कम् एवं (२) सुपक्कम्। परपक्कम् नामक भाग में लेखक ने विपक्ष वादियों के दृष्टिकोण एवं उनके तर्कों की आलोचना की है। तदनन्तर द्वितीय भाग सुपक्कम् में स्वपक्ष अर्थात् शैव सिद्धान्त के विभिन्न दार्शनिक तथ्यों की यौक्तिकता एवं बौद्धिकता के द्वारा पुष्टि की गयी है।

यह सर्वजन विदित है कि शैवागम् सभी शैव दर्शन का आधारभूत मौलिक ग्रन्थ हैं। उक्त पद में श्री उमापति शिवाचार्य शैव सिद्धान्त के महान ग्रन्थों के रूप में शैवागम् के साथ-साथ शिव-ज्ञान बोधम् एवं शिव-ज्ञान सिद्धियार इन दोनों ग्रन्थों की विशिष्टता एवं प्रधानता की प्रतिष्ठा करते हैं एवं यह भी कहते हैं कि उनके द्वारा सम्पादित यह शिव प्रकाशम् नामक ग्रन्थ शैवागम् के ऊपर आधारित एवं शिव-ज्ञान बोधम् तथा शिव-ज्ञान सिद्धियार का अनुसरणकारी है। प्रसंगत: यह उल्लेख किया जाना चाहिए कि उक्त ग्रन्थ के लेखक श्री उमापति शिवाचार्य, श्री मैकण्ड देवकी धारा के वाहक हैं। मैकण्ड देव के शिष्य अरूलनन्दी शिवाचार्य, अरूलनन्दी शिवाचार्य के शिष्य मरैज्ञान सम्बन्दर एवं उनका शिष्य श्री उमापति शिवाचार्य हैं, जिन्होंने शैव सिद्धान्त दर्शन के चौदह ग्रन्थों में आठ ग्रन्थों की (सिद्धान्त अष्टकम्) रचना की है। अत: यह स्पष्ट है कि उमापति शिवाचार्य उनके पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रवाहित दार्शनिक धारा के सुयोग्य वाहक है। शिव प्रकाशम् के सौ सूत्रों को दो भागों में विभाजित कर उन्होंने प्रथम भाग का नाम पोदु अर्थात् (सामान्य) एवं द्वितीय का उणमें (सत्य) अर्थात् सत्य के विशेष सिद्धान्त के रूप में विभाजित किया। अन्तत: श्री उमापति शिवाचार्य विनयावनत होकर कहते हैं कि शैवागमों के ऊपर आधारित शिव-ज्ञान बोधम् एवं शिव-ज्ञान सिद्धियार इन ग्रन्थों के अनुसरणकारी ग्रन्थ शिव प्रकाशम् की रचना शिवकृपा से उनके द्वारा की गई है।

पद नं. १२–पाठकों के प्रति

भावानुवाद

यदि प्राचीन ग्रन्थ में पति, पशु एवं पाश नामक सत्य तत्त्वों का वर्णन नहीं किया जाता, तो उससे पाठक का कोई उपकार नहीं होता परन्तु एक नवीन ग्रन्थ जिसमें पति पशु एवं पाश के समुचित वर्णन किये गये हैं, दूसरों के लिए हानिकारक नहीं होते हैं।

उनकी पुस्तक ग्रहणीय है, वह सिद्धान्त दर्शन के अध्ययनशील ज्ञाता हैं। वे सज्जन हैं एवं ऐसे ग्रन्थों को अस्वीकार नहीं करते हैं जिनमें पति, पशु एवं पाश का वर्णन रहता है। यदि अन्य पत्थरों के साथ मूल्यवान कोई पत्थर लगा रहता है तो मनुष्य उसे ग्रहणीय समझता है। उसी प्रकार से ज्ञानी व्यक्ति सत्य को प्रतिपादित करने वाले आधुनिक ग्रन्थ को भी स्वीकार्य मानता है। सामान्य व्यक्ति ज्ञानी व्यक्ति की तरह ग्रन्थ की विशिष्टता को मात्र एक झलक देखकर जानने में समर्थ नहीं होता वे आगम् इत्यादि शास्त्र ग्रन्थों से उसकी तुलना करने के उपरान्त ही उसकी विशिष्टता का निर्धारण करता है। अज्ञानी व्यक्ति सत्य ज्ञान के अभाव के कारण स्वयं किसी प्रकार का निर्णय लेने में समर्थ नहीं होता एवं ज्ञानी व्यक्ति का अनुसरण करता है।

उक्त पद में श्री उमापति प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों की तुलना करते हुए कहते हैं कि पति, पशु एवं पाश के तात्विक स्वरूप को प्रतिष्ठित करने वाला ग्रन्थ ही मनुष्य के ज्ञान के लिए महत्वपूर्ण है। ग्रन्थ की प्राचीनता एवं अर्वाचीनता से ग्रन्थ का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। यदि प्राचीन ग्रन्थ ही पति, पशु, पाश नामक तथ्यों की सत्यता को प्रतिपादित नहीं करता तो उस ग्रन्थ से मनुष्य जीवन लाभान्वित नहीं हो सकता है क्योंकि सत्य ज्ञान ही मनुष्य के लिए उपकारी है। पति, पशु, पाश इन तत्त्वों का स्वरूपज्ञान ही सत्य ज्ञान है। इसीलिए श्री उमापति कहते हैं कि यदि अर्वाचीन ग्रन्थ इन तत्त्वों के सम्यक स्वरूप को प्रकाशित करता है तो वह अवश्य ही ग्रहणीय है। ज्ञानी व्यक्ति ग्रन्थ की महत्ता का आकलन उसमें प्रतिपादित तथ्य के आधार पर ही करता है, न की उसकी रचना के कारण के अनुसार। सामान्य व्यक्ति ग्रन्थ में प्रतिपादित सत्य को सम्यक् रूप से समझने में समर्थ नहीं होता है। इसीलिए वह आगम् इत्यादि शास्त्र ग्रन्थों की वाणी के साथ तुलनात्मक विवेचन करने के उपरान्त सत्य एवं असत्य का निर्धारण करने का प्रयत्न करता है अर्थात् शास्त्र ग्रन्थों को आधार मानते हुए अन्यान्य ग्रन्थों की समीक्षात्मक विवेचना करता है। अज्ञान या अल्पबुद्धि व्यक्ति कुछ भी निर्णय नहीं कर सकता एवं ज्ञानी व्यक्ति का अनुगमन करने का प्रयत्न करता है।

श्री उमापति शिवाचार्य कहते हैं कि जैसे कई पत्थरों के बीच में एक मूल्यवान पत्थर शोभायमान होता है, उसी प्रकार से अन्यान्य तथ्यात्मक ज्ञान के द्वारा पति, पशु, पाश नामक सत्य ज्ञान सुशोभित होता है, श्री उमापति के अनुसार सत्य ज्ञान कालजयी है, सत्य को प्रतिष्ठित करने वाला ग्रन्थ ही मूल्यवान है। ग्रन्थ की प्राचीनता या अर्वाचीनता उसे मूल्य प्रदान नहीं कर सकती क्योंकि सत्य ही मुख्य है।

सामान्य अधिकार

प्रथम सूत्र

पद नं. १३—पति का स्वरूप

भावानुवाद

समस्त प्रकार की कला, वेद एवं आगमों का सार पति, पशु एवं पाश का वर्णन करते हैं। सर्वोच्च सत्ता अरूप, विशेषताओं से रहित, निर्मल, एक, शाश्वत, सभी आत्माओं का ज्ञान स्वरूप, सदातृप्त, अखण्डित, आनन्द स्वरूप है, जो सत्य मार्ग में नहीं रहता, वह उसे प्राप्त नहीं कर सकता। जो उसकी आराधना करता है, वह सरलता से ही लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त करता है जो क्षुद्रतम एवं महानतम है वही शिव है—ऐसा सिद्धान्त दार्शनिक कहता है।

उमापति शिवाचार्य कहते हैं कि सभी कलाओं का जन्म नटराज रूपी ईश्वर के प्रत्यय से हुआ है। ईश्वर सच्चिदानन्द है जो सत् है वही चित् है तथा वही आनन्द भी है। ये एक में तीन या तीन में एक हैं। विश्व की विभिन्नता की अभिव्यक्ति एक ही से होती है। अर्थात् वही सभी प्रकार के वैचित्र का आधार है। इसीलिए कहा गया है कि ईश्वर के आनन्द अंश से सब कलाओं की उत्पत्ति होती है, कलायें आनन्द की ही अभिव्यक्ति है। वेद उपनिषद एवं आगम इत्यादि शास्त्र ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय सत्य तत्त्व पति, पशु एवं पाश हैं। सर्वोच्च सत्ता परम तत्त्व सब रूपों से परे अर्थात् अरूप हैं। उस अनन्त असीम सत्ता को किसी भी निर्धारित रूप में सीमित नहीं किया जा सकता है इसीलिए उसे अरूप बताया जाता है वह निर्धारित गुणों के द्वारा भी वर्णित नहीं हो सकता है, अर्थात् वह रूप एवं गुण की परिधि के परे हैं इसीलिए उसे निर्गुण, निर्विशेष बताया जाता है।[१] परम तत्त्व ईश्वर निर्मल अर्थात् मल रहित है। अनन्त, असीम सच्चिदानन्द सत्ता सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञ है। उसके मलाधृत होने का कोई प्रश्न ही नहीं आता। उस अनन्त चैतन्य सत्ता को मल अर्थात् अज्ञानता कभी भी स्पर्श नहीं कर सकती। सर्वशक्तिमान ज्ञान सत्ता के प्रभाव से मल बिल्कुल ही प्रभावहीन होकर ईश्वरीय सत्ता के कर्तृत्वाधीन होकर रहती है। मल आत्माओं को अपने प्रभाव से प्रभावित कर लेता है परन्तु ईश्वर को कदापि नहीं। ईश्वर सदैव ही निर्मल है। अनन्त, असीम, सर्वव्यापक होने के कारण ईश्वर अद्वितीय अर्थात् एक है वह नित्य, शाश्वत्, अज, अकारण, सनातन तत्त्व है वह आत्माओं की आत्मा अर्थात् परम चैतन्य है। आत्म चैतन्य उसी में विलीन होकर अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। वह सर्वज्ञानी, सर्वशक्तिमान होने के कारण नित्य तृप्त अर्थात्

---

१. निष्कलं निष्क्रियम् शान्तम्—पौष्कर भाष्य।

आप्तकाम है। अभाव से इच्छा की सूचना होती है। ईश्वर पूर्ण है, इसीलिए ईश्वर में कोई अभाव जनित इच्छा की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। ईश्वर अपनी पूर्णता के कारण नित्य तृप्त, निरवयव या आप्तकाम, सिद्ध संकल्प है। अनन्त, असीम सत्ता होने के कारण अविभाज्य है। सावयव सत्ता का ही विभाजन सम्भव है। निरवयव सत्ता निश्चित रूप से अविभाज्य है। परम तत्त्व सच्चिदानन्द अनन्त या असीम होने के कारण आनन्द स्वरूप है। अभाव से ही दुःख की उत्पत्ति होती है। जिसमें कोई अभाव नहीं, जो पूर्ण सत्ता हैं वह निर्दोष, आनन्द स्वरूप है। अनन्तता ही आनन्द स्वरूप को सिद्ध करती है। केवल सन्मार्गी ही उसे प्राप्त कर सकता है। चूँकि ईश्वर निर्मल हैं इसलिए शुद्ध सत्य साधन से ही वह प्राप्य हो सकता है। उमापति शिवाचार्य कहते हैं कि केवल उसकी उपासना से ही उसे प्राप्त किया जा सकता है, वही साध्य या मोक्ष है। वह सर्वत्र विद्यमान अर्थात् सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान तत्त्व होने के कारण क्षुद्रतम् एवं महानतम् दोनों ही हैं। उपनिषदकार कहते हैं कि 'अणोरणीयान, महतो महीयान' अर्थात् वह अणु से भी अणु है, महान से भी महान है। उसके लिए कुछ भी असंभव नहीं है क्षुद्रतम् एवं महानतम् यह तत्त्व ही सत्य है, शिव है। इस आधारभूत परम सत्ता को ही सिद्धान्त दार्शनिकों ने शिव कहा है।

पद नं. १४

भावानुवाद

शाश्वत पराशक्ति इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्ति के रूप में प्रकाशित होती है। निर्मल ईश्वर इन रूपों को ग्रहण करता है। हम उनके पास नहीं जा सकते। वह करूणा की प्रतिमूर्ति है। उसने सभी तत्त्वों का निर्माण किया–नाद, बिन्दु इत्यादि। वह अपनी कृपा के द्वारा तनु, करण, भुवन, भोग इत्यादि की सृष्टि करके एवं इस महत्त्व को प्रदान करने के उपरान्त ध्वंसकर्ता भी है। उसे निष्कल एवं सकल बताया जाता है।

शिव को निष्कल एवं सकल दोनों ही बताया जाना तात्पर्य पूर्ण हैं। स्वरूपतः परम तत्त्व निष्कल है अर्थात् किसी प्रकार के कल, भाग या अवयव से उसे सूचित नहीं किया जा सकता। अनन्तता और असीमता एवं सर्वव्यापकता को सूचित करने के लिए ही निष्कल शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु यही उसका एकमात्र वर्णन नहीं है। अपनी शक्ति के माध्यम से वह विभिन्न रूपों को धारण करता है। उससे तादात्म्य उसकी शक्ति की मुख्यतः तीन अभिव्यक्तियाँ हैं, जिन्हें इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति एवं क्रिया-शक्ति के नाम से जाना जाता है।[१] ये शक्तियाँ यद्यपि ईश्वर से तादात्म्य एवं अभेद है परन्तु ये

१. जगज्जन्मस्थितिध्वंस तिरोभाव विमुक्तयः ।
कृत्यं सकारकफलं ज्ञेयमस्यैतदेव हि ॥३॥ –मृगेन्द्र तन्त्र, विद्यापाद, पटल ३

निर्विकार, निष्कल तत्त्व को अनेक रूपों में अभिव्यक्त करती हैं। ईश्वर चित् सत्ता है चैतन्य ही ज्ञान है एवं ज्ञान ही कृपा है। अनन्त कृपा से प्रेरित होकर ही ईश्वर अपनी शक्ति के द्वारा अपने को अनेक रूपों में प्रकाशित करता है। जिससे क्रमशः वह सृष्टि की विभिन्नता का निमित्त कारण बनता है। शुद्ध माया को प्रेरित करके ईश्वर नाद बिन्दु इत्यादि शुद्धाध्व की सृष्टि करता है। उसी शुद्धाध्व से मंत्रेश्वर, मंत्र, वेद, आगम इत्यादि शुद्ध सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है। पुनः तनु, करण, भुवन, भोग इत्यादि अशुद्ध तत्त्वों की अभिव्यक्ति अशुद्ध माया से होती है। ये सभी प्रकार की सृष्टि अर्थात् सृष्टि के ये विभिन्न पर्याय आत्मा के लिए ही है। इन विभिन्न पर्यायों से गुजर कर आत्मा क्रमशः ऊर्ध्व गति को प्राप्त होती है, एवं अन्ततः ईश्वर की कृपा से पाश बन्धों से अपने को मुक्त कर शुद्ध चैतन्य स्थिति में ईश्वर से सम्बन्धित होती हैं।

शिव-शक्ति शिव से अभिन्न है। ये दोनों तादात्म्य है। ये एक ही तत्त्व की दो अवस्थायें हैं। अर्थात् शिव ही शक्ति है एवं शक्ति ही शिव है। शिव-शक्ति को पराशक्ति वताया गया है। इस पराशक्ति (आदि शक्ति) की विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति होती है। इच्छा शक्ति आदि शक्ति की प्रथम अभिव्यक्ति है। इच्छा शक्ति क्रमशः ज्ञान शक्ति एवं ज्ञान शक्ति पुनः क्रियाशक्ति के रूप में विकसित होती है। अभिव्यक्ति की इस प्रक्रिया में पराशक्ति जो शिव से तादात्म्य है, शिव को अरूप तत्त्वों के रूप में प्रकाशित करती है। जब पराशक्ति ज्ञानशक्ति के रूप में परम तत्त्व से अभिन्नता को प्राप्त करती है तब परम तत्त्व निष्कल शिव के रूप में प्रकाशित होता है। जब निष्कल शिव ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति के माध्यम से प्रकाशित होता है तब वह अरूप-रूप अर्थात् निष्कल-सकल कहलाता है। शिव के इस रूप को सदाशिव, भोग शिव अथवा निष्कल-सकल शिव कहा जाता है, जब ज्ञान शक्ति से क्रिया शक्ति का आधिक्य होता है। तब शिव रूप के माध्यम से प्रकाशित होता है एवं उसे महेश्वर कहा जाता है। महेश्वर को अधिकार-शिव एवं सकल-शिव वताया गया है। वास्तव में इन विभिन्न रूपों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। शिव, सदाशिव एवं महेश्वर ये सभी परम तत्त्वों की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ है। जब शिव अरूप-रूप के रूप में प्रकाशित होता है, तब वह अर्धनारीश्वर अथवा सदाशिव कहलाता है। इस अवस्था में वह पंचवक्त्र कहलाता है। ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव एवं सद्योजात क्रमशः इनके केन्द्र, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर के मुखमण्डल है। पाँच मुखमण्डल से विभिन्न प्रकार की सृष्टि होती है। चार वेदों का प्रकाश एवं अट्ठाईस आगमों की अभिव्यक्ति ईशान नामक मुखमण्डल से हुई है सम्पूर्ण वाक् जगत एवं अन्य शास्त्र ग्रन्थों का निर्माण आगमों से ही हुआ है।

पद नं. १५

भावानुवाद

वह यहाँ की इन वस्तुओं से परे है। इसका कोई आदि, मध्य एवं अन्त नहीं है। वह स्वयं में सतत् विकासशील ज्ञान है। कोई उसकी सत्यता एवं स्वरूप को जान नहीं सकता। उसकी कोई इच्छा एवं अनिच्छा नहीं है। इसीलिए वह प्रथम या मूल है उसे प्राप्त करना कठिन है। उसके बिना कुछ भी जीवित नहीं रह सकता वह प्राणों का प्राण है वह जो भी स्वरूप चाहे धारण कर सकता है वह पवित्र है।

ईश्वर सब तत्त्वों से परे अनन्त असीम सत्ता है। प्रपंच के सभी विषय सीमित, सावयव एवं उत्पत्ति विनासशील है जबकि ईश्वर असीमित, अरूप, निखयव, उत्पत्ति विनाश रहित अनादि, अज परम तत्त्व है इस दृष्टिकोण से उसके साथ प्रपंच के किसी भी तत्त्व की तुलना नहीं हो सकती है। ईश्वर पर तत्त्व है, विश्व जगत के परे अनादि है अर्थात् उसका प्रारम्भ नहीं हुआ। वह कालातीत, नित्य, शाश्वत, अज, मूल सत्ता है। जैसे उसका आदि नहीं है वैसे उसका अन्त भी नहीं है। अर्थात् परम तत्त्व आदि, अन्त विहीन, सर्वव्यापी, शाश्वत तत्त्व है। उसका कोई परिणाम नहीं हो सकता। यद्यपि सामान्य मनुष्य किसी न किसी प्रकार से उसके परिमापन की प्रणाली को प्राप्त करना चाहता है परन्तु वह सर्वथा असंभव है। इसीलिए उपनिषदकार कहते हैं कि वह पूर्ण है इतना पूर्ण है कि पूर्ण से पूर्ण ले लेने पर भी पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है।[१] यह पूर्णता सांसारिक विषयों की पूर्णता की तरह नहीं है अर्थात् जिसे हम सांसारिक पूर्णता कहते हैं वह निश्चित ही अपूर्णता या सीमितता है। प्रपंच के सभी विषय उत्पत्ति-विनाशशील होने के कारण अपूर्ण है। एक मात्र ईश्वर ही परिपूर्ण अर्थात् अनन्त असीम है। उपनिषद की इस वाणी की प्रतिध्वनि के रूप में ही श्री उमापति ईश्वर को नित्य विकसित चैतन्य के रूप में कहते हैं। ईश्वर वेद-ज्ञान या चैतन्य है जो निरंतर विकासशील अर्थात् परिवर्धमान है। इसीलिए कोई उस अतल के तल को नाप नहीं सकता। यह असम्भव है इसीलिए कहा गया है कि जीव परम तत्त्व को प्राप्त तो करता है परन्तु उसकी संपूर्णता कभी जान नहीं सकता। उसका स्वरूप, उसकी सत्यता अपरिमेय एवं अगोचर है चूँकि ईश्वर पूर्ण तत्त्व है इसलिए उसमें कोई इच्छा अनिच्छा का द्वन्द्व नहीं है। अभाव से ही इच्छा की उत्पत्ति होती है ईश्वर में कोई अभाव न होने के कारण वह आप्त काम या सिद्ध संकल्प है और इसीलिए उपनिषदकार ईश्वर की इच्छा (ईक्ष्यते) को ही ईश्वर की लीला कहते हैं। (लीला, वत्तु कैवल्यम्[२]) वह प्रथम तत्त्व 'मूदलवन' है अर्थात् उससे पहले या उसके परे और कुछ नहीं

---

१. ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

२. ब्रह्मसूत्र २.१.३३

है। उसे प्राप्त करना असम्भव है। केवल उसकी कृपा से ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। वह प्रयत्न-साध्य नहीं है। सीमित सापेक्ष मनुष्य अपने प्रयत्न के द्वारा उस असीमित अनन्त शाश्वत सत्ता को प्राप्त नहीं कर सकता। वह सर्वव्यापी आधारभूत तत्त्व है, इसीलिए इस सृष्टि प्रपंच में जो कुछ भी है वह उसी में विद्यमान है। उसके अस्तित्त्व के बिना अन्य किसी का अस्तित्त्व सिद्ध नहीं हो सकता है। सब विषयों का अन्तिम कारण वही है। वह प्राणों का प्राण, अन्तरलीन, आधारभूत सत्ता है। वह सर्वव्यापी सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान होने के कारण किसी भी प्रकार का आकार धारण करने में समर्थ है। उसमें मल का कोई आभास नहीं है मल उसे स्पर्श भी नहीं कर सकता है। वह सदा उज्ज्वल शाश्वत प्रभा है। इसीलिए उसे मल-रहित अर्थात् निर्मल बताया गया है अर्थात् ईश्वर सच्चिदानन्द पूर्ण सत्ता है। जो सृष्टि का आधार होते हुए भी सृष्टि के परे हैं।

पद नं. १६

भावानुवाद

जगत प्रपंच सब पुलिंग, स्त्रीलिंग एवं नपुंसक लिंग से बना हुआ है। वे कुछ समय तक रहते हैं एवं अन्त में तिरोहित (विनाश प्राप्त) होते हैं, यदि मल का अस्तित्त्व रहता है तो विभिन्न आकार एवं रूपों के परिवर्तन होते हुए आवागमन होता रहता है। पुनः जब आत्माएँ अस्थिर अचेतन माया से, सम्बन्धित रहती है तथा उनको कोई सम्यक् ज्ञान नहीं रहता है, तो जो कुछ वह प्राप्त करता है उसी के अनुकूल वह रहता है। शिव उसे रखते हैं, सभी विषयों को प्रदान करते हैं एवं अन्त में संहार करते हैं। शिव निर्मल है।

जगत प्रपंच वैचित्रपूर्ण है। उसमें व्यवहारिक अनुभव के अनुसार पुरुष-स्त्री एवं नपुंसक अर्थात् अचेतन तत्त्वों की विभिन्नता पायी जाती है। सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय के माध्यम से प्रपंच की परिवर्तनशीलता प्रतिपादित होती है। उत्पत्ति, विनाशशीलता का यह क्रम अनादिकाल से जारी है। सृष्टि के साथ ही विभिन्न विषयों की उत्पत्ति अनेक वैचित्र-पूर्ण आकार एवं रंग रूप में होती है। परन्तु कोई भी सावयव पदार्थ अपरिवर्तनीय एवं स्थिर नहीं है आकाश एवं काल चक्र में अवस्थित सभी विषय परिवर्तनशील है। यही स्थिति की विशेषता है कि माया तत्त्व से अवयव प्राप्त कर एवं कर्म तत्त्व से क्रियाशीलता को प्राप्त कर चित् अचित् सभी विषय परिवर्तनशीलता के आवर्तन में अवस्थित रहते हैं। परन्तु यह प्रक्रिया अनन्तकाल तक जारी नहीं रहती, क्योंकि ईश्वर द्वारा प्रतिपादित संहार क्रिया के साथ ही परिवर्तनशीलता के चक्र का अन्त होता है। परन्तु यह अन्तिम अन्त नहीं है, क्योंकि संहार तो पुनः सृष्टि की पूर्वावस्था है जिसका उद्देश्य सृष्टि को विश्राम देते हुए पुनः आत्माओं को नये कर्म के द्वारा उसी प्रक्रिया में आबद्ध कर देना है, जिनसे वह

पूर्ण स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में समर्थ हो सकती है। आणवमल से अज्ञानतारूपी अन्धकार उत्पन्न होकर आत्मा के ज्ञान स्वरूपता को आच्छादित कर देता है, जिससे आत्मा न केवल अपने स्वरूप से अनभिज्ञ हो जाती है वरन् सर्वव्यापी ईश्वर-चैतन्य के बोध को भी प्राप्त नहीं कर सकती। अज्ञानता के अन्धकार से आच्छादित होकर आत्मा जड़वत हो जाती है। इस अवांच्छित दयनीय स्थिति से आत्मा का उद्धार करने के लिए ईश्वर ने मायारूपी उपादान कारण से विश्व की सृष्टि की एवं आत्मा को कर्म से संयुक्त कर दिया। फलस्वरूप आत्मा इस विश्वप्रपंच में निरन्तर क्रियाशीलता को अपनाते हुए अज्ञानता से उत्पन्न विभिन्न वृत्तियों के कारण भ्रमित होकर जन्मजन्मान्तर विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करती हुयी आवागमन के चक्र में आबद्ध रहती है। आत्मा को माया कर्म से उत्पन्न विभिन्न अवस्थाओं को चित् शक्ति ही प्रदान करती है। चित्-शक्ति की यह क्रिया आत्मा को अन्ततः पाशों से मुक्त करने के उद्देश्य से ही प्रणोदित होती है। यह उद्देश्य ईश्वर कृपा स्वरूप की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। ईश्वर आत्मा को अज्ञानता के घनघोर आवरण से मुक्त करने के लिए स्वयं को आच्छादित रखते हुए कृपा-शक्ति की वर्षन करता रहता है। चित्-शक्ति की यह प्रक्रिया तिरोधायी कहलाती है। शैव सिद्धान्त के अनुसार आत्मा की मुक्ति-प्रक्रिया में ईश्वर की इस आच्छादित तिरोधायी शक्ति की अत्यन्त महत्ता है। यह वह निमित्त कारण है जिससे प्रेरित होकर आत्मा क्रमशः लक्ष्य की ओर अग्रसर होती रहती है। माया को सहायक कारण के रूप में प्रयुक्त करता हुआ ईश्वर चित्-शक्तिरूपी निमित्त कारण के द्वारा सृष्टि-प्रक्रिया में संलग्न होता है। चित्-शक्ति वह सर्वव्यापक आधारभूत आश्रय एवं प्रेरक तत्त्व है, जो विभिन्न विषयों को अनुकूल एवं उपयुक्त दिशा में प्रेरित करती हुई आत्मा को मोक्षरूपी लक्ष्य तक पहुँचाती है।[१] सामान्य रूप से अन्यान्य भारतीय दर्शन की तरह वैदिक एवं आगमिक शास्त्रगत दृष्टिकोण के अनुसार शैव सिद्धान्त भी ईश्वर को ही एकमात्र कर्मफल प्रदान कर्ता मानता है।[२] कर्मफल को प्रदान करता हुआ आत्मा को क्रमशः निष्काम, अनासक्त, स्थिति में ले जाते हुए अन्ततः स्वरूप ज्ञान को प्रदान करना एकमात्र ईश्वर का ही अधिकार जन्य कार्य है। जब तक आत्मा में पूर्ण अनासक्ति नहीं आती अर्थात् शुभ एवं अशुभ कर्म के प्रति सम-भाव उत्पन्न नहीं होता, तब तक आत्मा को इस जगत प्रपंच के आवागमन चक्र में आबद्ध रहना पड़ता है। सृष्टि-स्थिति की प्रक्रिया में आत्मा जब अनेक जन्म-मृत्यु को प्राप्त करती हुयी निरन्तर परिभ्रमण करती रहती है, तब ईश्वर सृष्टि-प्रपंच का संहार करते हुए आत्मा को कुछ अवधि के लिए विश्राम प्रदान करता है। यह संहार प्रक्रिया है, जो पुनः सृष्टि की

---

१. तासां माहेश्वरी शक्तिः सर्वानुग्राहिका शिवा। धर्मानुवर्तनादेव पाश इत्युपचर्यते।
–मृगेन्द्रतन्त्र, विद्यापाद, पटल ११

२. कमण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन–भगवत्गीता

पूर्वावस्था है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार संहार को प्राक्-सृष्टि प्रक्रिया माना गया है, एवं स्वयं शिव ही संहार कर्ता है। जो सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान सत्ता है, वही सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया को अपने में संहत करता हुआ विश्राम प्रदान करता है एवं जीवों के कर्म फलानुसार पुन: सृष्टि भी करता है। जिससे जीव पुन: लक्ष्य की ओर अग्रसर होने की सम्भावना को प्राप्त करता है। अत: ईश्वर की ये प्रक्रियायें उसकी स्वरूप शक्ति अर्थात् कृपा-शक्ति प्रसूत स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। ईश्वर निर्मल अर्थात् मल रहित है। ज्ञान स्वरूप होने के कारण मल का कोई प्रभाव ईश्वर पर पड़ने की सम्भावना नहीं होती। ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है। अत: वही एकमात्र निमित्त कारण है जो जीवों को माया-कर्म रूपी आंशिक साधनों को प्रदान करता हुआ अपनी चित्-शक्ति रूपी पूर्ण साधन के द्वारा सम्यक् ज्ञान को प्रदान करता है एवं अपने स्वरूप से अनन्यता को प्रदान करता है।

पद नं. १७

भावानुवाद

सूर्य को दोषी नहीं बनाया जा सकता। शिव भी ब्रह्मा एवं विष्णु सहित समस्त सृष्टि के संहार के लिए दोषी नहीं बनाये जा सकते। जब वह इच्छा करता है पुन: ब्रह्मा एवं विष्णु सहित सम्पूर्ण सृष्टि को आर्विभूत कर देता है। आकाश में सूर्य उदित होने पर उसकी सन्निधि मात्र से कमल का फूल अपनी स्थिति के अनुसार क्रमश: खिलकर अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है एवं पुन: मुरझा जाता है। सूर्य उससे प्रभावित नहीं होता।

यद्यपि सृष्टि, स्थिति एवं संहार ईश्वर का ही कृत्य है परन्तु उक्त कृत्य के सम्पादन के लिए ईश्वर कई अधिकारी नियुक्त करता है। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, पालनकर्ता विष्णु हैं। परन्तु शिव का पूर्ण नियन्त्रण है। सृष्टि एवं स्थिति के साथ ही इनका आर्विभाव होता है, तथा परमेश्वर संहार के समय विश्राम प्रदान करने के लिए सबका तिरोभाव कर देता है। अर्थात् वही एकमात्र सर्व शक्तिमान कर्ता है, जो पंचकृत्य का अधिकारी है। जैसा पहले बताया जा चुका है कि संहार सृष्टि चक्र मे विश्रान्ति का सूचक है, एवं परमेश्वर शिव ही एकमात्र सर्वशक्तिमान अधिकारतत्त्व का द्योतक है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार संहारकर्ता ही सृष्टिकर्ता हो सकता है, क्योंकि संहारकर्ता, वह आधार या आश्रय है जो अपने में सभी तत्त्वों को तात्विक रूप में बनाये रखता है तथा उपयुक्त समय में जीवों के कर्मफल के अनुसार जगत प्रपंच को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। यही परमेश्वर शिव के सर्व-नियन्ता एवं सर्वशक्तिमान होने को सूचित करता है। ईश्वर के ये कार्य उसकी कृपा एवं न्याय को अभिव्यक्त करते हैं। जीवों को मुक्ति प्रदान करने के लिए उन्हें कर्मानुसार उपर्युक्त माया कर्म इत्यादि उपादानों से संयुक्त कर देना ईश्वर की कृपा एवं जीवों के प्रति उसके

पक्षपातित्त्व रहित न्यायपूर्ण उपयुक्त प्रतिक्रिया को सूचित करता हैं। भारतीय-चिन्तन परम्परा में ईश्वर को जीवों के कर्मफल प्रदानकर्ता एवं सृष्टि, स्थिति, प्रलय के अधिकारी मानकर, ईश्वर को सर्वशक्तिमान, नियन्त्रणकर्ता तथा 'ऋत्' रूपी न्यायपूर्ण व्यवस्था का अधिकारी माना गया है। ईश्वरीय चित् शक्ति की जो सर्वव्यापक अभिव्यक्ति होती है, वह ईश्वर का स्वरूप या स्वभाव है। परन्तु प्रत्येक जीव उसे अपनी आन्तरिक स्थिति के अनुसार ग्रहण करता है। जैसे सूर्य की किरणें प्रत्येक विषय पर सामान्यरूप से ही पड़ती है, परन्तु उससे प्रभावित होकर कोई कली प्रस्फुटित होती है तो कोई प्रस्फुटित होने के उपरान्त मुरझा जाती है। विभिन्न फूलों की स्थिति के ऊपर सूर्य की किरण का प्रभाव पड़ता है अर्थात् फूल अपनी अवस्था के अनुसार ही सूर्य की किरण के प्रति प्रतिक्रियाशील होता है। उसी प्रकार आत्मा अपनी आन्तरिक स्थिति के अनुसार चित्शक्ति को अपने में धारण करने में समर्थ होती है। पाशबन्धन जितना शिथिल होता रहता है, चित्-शक्ति उसी क्रम में आत्मा को प्रकाशित करती रहती है। आणवमल परिपक्व होने पर चित्-शक्ति के प्रभाव से उसकी विषक्रिया (आच्छादक-शक्ति) नष्ट हो जाती है, एवं आत्मा ईश्वरानन्द में निमज्जित हो जाती है। ये सभी परिवर्तन आत्मा की अवस्थाओं के अनुसार ही होते हैं। जैसे विभिन्न फूलों की विभिन्न अवस्थाओं के कारण सूर्य की किरण को दोषी ठहराया नहीं जा सकता उसी प्रकार से विभिन्न आत्माओं की अवस्थाओं के वैचित्र के लिए भी चित्-शक्ति के प्रति कोई दोष आरोपित नहीं किया जा सकता।

चित्-शक्ति सार्वभौम सामान्य अविकृत, ईश्वरीय चेतना है, जिसकी सन्निधि मात्र से आत्माएँ विभिन्न अवस्था प्राप्त कमल की तरह विभिन्न प्रकार से प्रस्फुटित होती है यह आत्मा की आन्तरिक अवस्था है जो चित्-शक्ति को अपने अनुसार धारण करने में समर्थ होती है। प्रस्फुटन की विभिन्न अवस्थाएँ आत्माओं की आध्यात्मिक स्थिति को सूचित करती है।

पद नं. १८

भावानुवाद

सब कार्य ही कृपा के प्रकाशन है। उसकी लीला है, उसके द्वारा किया गया स्वत: प्रकाशित लीला है–ऐसा ज्ञानी व्यक्तियों का कहना है। दु:ख के सागर से वही उद्धार करता है। उसकी महिमा अपार है। उसकी कृपा ही एक मात्र कारण है। संहार कर्म से विरत होना, कर्म की थकावट से विश्रान्ति प्रदान करना, उससे मुक्त करना एवं सृष्टि मल को तिरोहित करने के लिए जीवों को तनु करण-भुवन-भोग इत्यादि को प्रदान कर पालन करना एवं अन्त में संहार करना ही ईश्वर का कार्य है। संहार सब विषयों को एक ही स्थिति में वनाए रखता है। कृपा का स्वरूप अवर्णनीय है। उसके बिना अन्य सभी विषय वताये जा सकते हैं।

ईश्वर द्वारा प्रतिपादित पंचकृत्य ईश्वर की कृपा की अभिव्यक्ति है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि, स्थिति एवं संहार, तिरोधान, अनुग्रह–ये सभी कृत्य जीवों की मुक्ति के लिए ही ईश्वर द्वारा सम्पादित किये जाते हैं। अनादि काल से जीव आणवाधृत होकर अज्ञानता के गहन अन्धकार में जड़वत् डूबा हुआ रहता है। ईश्वर अपनी चित्-शक्ति रूपी निमित्त कारण एवं मायाकर्मरूपी उपादान कारण के माध्यम से जो सृष्टि करता है, उससे आत्मा को अज्ञानता के आवरण से क्रमशः मुक्त होने का अवसर प्राप्त होता है। माया एवं कर्म के उपयोग से चित्-शक्ति क्रमशः आत्मा को मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर करवाती है। विभिन्न अवस्थाओं के माध्यम से आत्मा का मल तत्त्व क्रमशः परिपक्व होता रहता है एवं अन्ततः मल के पूर्ण परिपक्व हो जाने पर चित्-शक्ति के प्रभाव से उसका बन्धन इतना शिथिल हो जाता है कि वह और आत्मा को अज्ञानता के आवरण में आबद्ध नहीं रख सकता। अर्थात् मल तत्त्व निष्क्रिय हो जाता है। यह ईश्वर की कृपा या लीला है। चित्-शक्ति जो इस सम्पूर्ण व्यापार में निमित्त कारण के रूप में नियन्त्रण कर्त्तृ है, परमेश्वर की स्वरूपशक्ति है, इसीलिए शैव-सिद्धान्त के अनुसार पंचकृत्य ईश्वर की लीला-रूपी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, जो जीवों के लिए कृपा स्वरूप है। जैसे रजक अन्य मैलों को मिलाकर कपड़े के मूल मैल को दूर करता हुआ अन्ततः सभी मैलों को पानी से धोकर कपड़े को सम्पूर्ण परिष्कृत बनाता है, उसी प्रकार से ईश्वर माया, कर्मरूपी पाशों को प्रदान कर आत्मा को मूल-पाश अर्थात् आणवमल से मुक्त करने के लिए ही सृष्टि इत्यादि कृत्यों का सम्पादन करता है अन्ततः इन सभी पाशों से मुक्त करके, परमेश्वर आत्मा को अपने स्वरूप ज्ञान के द्वारा अनन्यता की स्थिति को प्रदान करता है। यही तीव्र-शक्ति निपात है। आणवाधृत अज्ञानता की स्थिति ही वास्तविक दुःख की स्थिति है। सृष्टि के साथ ही दुःख के निवारण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है, इसीलिए आत्मा के प्रति यह ईश्वर की कृपा है। इसी कृपा की तीव्रतम अभिव्यक्ति से ही आत्मा का ईश्वर से मिलन होता है। ईश्वर-कृपा की यह रहस्यात्मक महिमा अपार है। इसके बिना आत्मा के लिए अज्ञानता के अन्धकार से मुक्ति प्राप्त करना असम्भव है। माया एवं कर्म यद्यपि अचेतन एवं पाश रूप है परन्तु चित्-शक्ति के द्वारा संचालित होने के कारण ये आंशिक प्रकाशकत्व को प्रदान करते हैं, एवं बन्धन मोचन की दिशा में सहायक सिद्ध होते हैं जैसा कि पहले बताया गया है, संहार आत्मा को विश्राम प्रदान करने के लिए ही किया जाता है। संहार की स्थिति अपरिवर्तनीय स्थिति है। इस स्थिति में सभी विषय ईश्वर में विद्यमान रहते हैं तथा पुनः सृष्टि की प्रतीक्षा करते रहते हैं। पूर्व कर्मों के अनुसार ही पुनः सृष्टि होती है। अतः संहार विश्रान्ति की स्थिति है एवं सृष्टि मल रूपी अज्ञानता को दूर करते हुए मोक्ष को प्राप्त करने की प्रक्रिया है। संहार में माया अपने मूल तात्त्विक स्वरूप में लौट जाती है। सृष्टि में उसी माया के द्वारा निर्मित तनु, करण, भुवन एवं भोग को ईश्वर आत्मा के लिए उत्पन्न करता

है, एवं आत्मा को प्रदान भी करता है। आत्मा इन साधनों के उपयोग से जीवन के विभिन्न अनुभवों के माध्यम से मल की परिपक्वता को प्राप्त करती है एवं अन्ततः ईश्वर की कृपा से ही परम धाम को प्राप्त करती है। ईश्वर की कृपा अवर्णनीय है। ज्ञानी व्यक्तियों ने बताया है कि केवल जीवन के विभिन्न अनुभवों में विद्यमान ईश वर की कृपा की चेतना भी आत्मा की कृपा की अभिव्यक्ति के कारण ही होती है। कृपा की महिमा अवर्णनीय एवं अचिन्तनीय है। अन्य विषयों के बौद्धिक युक्ति पूर्ण तार्किक विवेचन हो सकते हैं परन्तु ईश्वर-स्वभाव कृपा के प्रत्यय की विवेचना साधारण सापेक्ष ज्ञान बुद्धि के द्वारा असम्भव है–ऐसा ज्ञानी व्यक्तियों का कहना है।

पद नं. १९–पशु (आत्म तत्त्व) की स्थिति
द्वितीय सूत्र

भावानुवाद

यह बताना कठिन है कि आत्मा की संख्या कितनी है, गणना करना अथवा उसका परिमाप करना अत्यन्त कठिन है। आत्माएँ शाश्वत, इरुल्ल मल अर्थात् अज्ञानता के द्वारा आवृत है। वे उनके अच्छे एवं बुरे कार्यों के अनुसार शरीर इत्यादि को प्राप्त करते हैं। कृपा के कारण वे (स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक लिंग सभी) सब प्रकार के उपभोग को प्राप्त करते हैं एवं पाप तथा पुण्य को अर्जित करते हैं। इसी प्रकार से आणव मल से आवृत्त होने के कारण उनकी निरंतर जन्म मृत्यु की पुनरावृत्ति होती है। वे शरीर प्राप्त करते हैं, एवं ज्ञान शक्ति की कृपा से आन्तरिक ज्ञान को प्राप्त करते हुए शुद्ध स्थिति को प्राप्त कर ईश्वर के चरण को प्राप्त करते हैं–ऐसा ज्ञानी व्यक्तियों का कहना है–

शैव-सिद्धान्त के अनुसार आत्माएँ अनेक हैं। जो शाश्वत, नित्य, चित् स्वरूप होने पर भी अनादि काल से आणवावृत होकर अज्ञानता के अन्धकार से आवृत हैं। यह अन्धकार इतना गहन है कि आत्माओं का स्वरूप बिल्कुल आच्छादित होकर जड़वत प्रतीत होता है। अन्यान्य भारतीय दर्शन के तरह शैव-सिद्धान्त में भी कर्मवाद के नियम की बहुत महत्ता है।[१] इस दर्शन की विशेषता यह है कि इसमें कर्मवाद से ईश्वर की कृपा का अत्यन्त ही सुन्दर तथा सफल सामंजस्य स्थापित किया गया है। कर्म दो प्रकार के होते हैं–शुभ एवं अशुभ कर्म। कर्म के सम्पादन के लिए मायारूपी साधन से संयुक्त होना आवश्यक है एवं ये दोनों ही ईश्वर द्वारा प्रदत्त होते हैं। अर्थात् जीवों को मोक्ष प्रदान करने

---

१. देहान्योऽनश्वरो व्यापी विभिन्न समलोऽजडः ।
स्वकर्मफल भुक्कर्ता किंचिज्ज्ञः सेश्वरः पशुः ॥१५॥ –पराख्य तन्त्र, प्रथम पटल

के लिए माया से ईश्वर तनुकरण, भुवन-भोग प्रदान करता है एवं कर्मों के सम्पादन के द्वारा आत्मा शुभ एवं अशुभ फलों को प्राप्त करती है, जिसे पुण्य एवं पाप कहा जाता है। मल परिपाक के लिए माया कर्म जनित उपभोगों को प्राप्त करना आवश्यक है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही आत्मा निरन्तर जन्म मृत्यु के चक्र में आवर्तित होती रहती है। परन्तु यह क्रम अनन्त नहीं है। चित्-शक्ति द्वारा संचालित होने के कारण माया कर्म के माध्यम से आत्मा को जो आंशिक प्रकाशकत्व प्राप्त होता है उससे इन सांसारिक विषयों की नि:सारता का बोध क्रमशः उत्पन्न होता रहता है। अन्त में आत्मा में शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है, इसे ही समभाव कहते हैं। यह आत्मा की वह अनासक्त-स्थिति है, जिस स्थिति के परिपक्क होने से आत्मा इस व्यावहारिक सृष्टि तत्त्वों के प्रति सम्पूर्ण अनासक्त या विरक्त होकर चित्-शक्ति के शरण में चली जाती है। इसे इस प्रकार से कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे आत्मा में अवस्थित अज्ञानता रूपी अन्धकार दूर होता जाता है वैसे-वैसे आत्मा में चित्-शक्ति का ओत-प्रोत प्रभाव उत्पन्न होता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार इसका क्रम कुछ इस प्रकार है–चित्-शक्ति ही वह निमित्त या नियन्त्रक कारण है, जिसकी प्रेरणा से ही अज्ञानता का आवरण क्रमशः दूर होता जाता है। अर्थात् चित्-शक्ति ही वह प्रेरक तत्त्व है, जिसके स्वतन्त्र एवं मौलिक प्रेरणा से आत्मा अज्ञानता के अंधकार से मुक्त हो सकती है। चित्-शक्ति की प्रेरणा के बिना अपने प्रयास से आत्मा के लिए अज्ञानता से मुक्ति पाना कदापि सम्भव नहीं है। इसीलिए शैव सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया कृपा-प्रसूत है। उपभोग की प्रक्रिया के माध्यम से कर्म-साम्य एवं मल-परिपाक की स्थिति को प्राप्त होना ईश्वर का जीव के प्रति न्याय की अवधारण को भी सूचित करता है, क्योंकि उपभोग की प्रक्रिया के माध्यम से ही ईश्वर जीवों को उपयुक्त कर्मफल को प्रदान करता है, एवं क्रमशः कर्मों के प्रति वैराग्य की स्थिति को उत्पन्न करके समत्व भाव को प्राप्त करने में सहयोग प्रदान करता है। इसे "इरूविनै ओप्पु" अथवा कर्मसाम्य कहा जाता है। मल परिपाक एवं कर्म साम्य को संघटित करने के लिए चित्-शक्ति का अन्तराल में रह करके सहयोग करने की इस प्रक्रिया को तिरोधान कहा जाता है। मल-परिपाक एवं कर्म साम्य के साथ ही तिरोधान शक्ति का कार्य सम्पन्न होता है एवं अनुग्रह शक्ति के तीव्र-शक्ति निपात के द्वारा परमपद की प्राप्ति होती है। चित्-शक्ति आत्मा को उसकी अवस्था के अनुसार तनुकरण, भुवनभोग के द्वारा जन्म मृत्यु के आवर्तन के माध्यम से मोक्ष-ज्ञान को प्राप्त करने की पूर्वावस्था तक संचालित करती हुयी ले जाती है। चित्-शक्ति की यह लीला तिरोधायी कहलाती है। तत्त्वज्ञ व्यक्तियों ने चित्-शक्ति की तिरोधान प्रक्रिया का बड़ा ही सूक्ष्म एवं गहन विवेचन प्रस्तुत किया है।

पद नं. २०—पाश लक्षण (आणव एवं तिरोधायी)

भावानुवाद

यह आणव एक प्रतीत होते हुए आत्माओं को सीमा में आबद्ध रखता है। काल की परिधि में रखते हुए आत्मा के सम्मुख आवरण डालते हुए उसमें काई या जंग उत्पन्न कर देता हैं जो आत्मा के प्रकाश को आवरित कर देता है यह अनादि मूल मल आत्मा की इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति को आवरित करता है। तिरोधान आत्मा में आच्छादित कृपा-शक्ति के रूप में विद्यमान रहती है, जिसे केवल उसकी कृपा से ही उसे जो सर्प, गंगा, चन्द्रमा एवं सुन्दर जटा से युक्त है, को प्राप्त किया जा सकता है।

आत्मा स्वरूपत: चित् तत्त्व है। परन्तु अनादि काल से वह आणवाधृत स्थिति में जड़वत् रहती है। आणव आत्मा के चैतन्य स्वरूप के ऊपर एक आच्छादन डाल देता है। जिससे आत्मा का ज्ञान आच्छादित, सीमित तथा भ्रमयुक्त हो जाता है। केवल इतना ही नहीं अज्ञानता-जनित आणवमल का प्रभाव इतना व्यापक तथा गहन होता है कि वह आत्मचैतन्य को केवल आच्छादित या सीमित ही नहीं करता वरन आत्मा के ऊपर सख्त जंग अथवा काई की तरह अशुभ तत्त्व का प्रभाव रहता है। अर्थात् आणवमल के प्रभाव को दूर करना आत्मा के लिए अत्यन्त ही कठिन प्रयाससाध्य विषय बन जाता है। अनादि काल से मूल-मल अर्थात् आणवमल के प्रभाव से आत्मा का चैतन्य शक्ति आवरित रहती है। इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति तीनों ही मूल चैतन्य शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। अत: चैतन्य-शक्ति के आवरित होने से ये सभी अभिव्यक्तियाँ कुण्ठित हो जाती है। जैसा पहले बताया गया है कि आणवमल आत्मा की स्वरूपशक्ति को इस प्रकार से आवृत्त कर देता है कि वह चैतन्य-शक्ति आच्छादित, अनभिव्यक्त एवं अप्रकाशित रूप में अन्तर्निहित तो रहती है परन्तु आत्मा अपनी स्वरूप शक्ति के उपयोग से अपने को प्रकाशित करती हुयी आत्मोन्नति करने में समर्थवान नहीं होती। आणवमल का इतना दुष्प्रभाव रहता है कि वह आत्मा को बिल्कुल जड़वत्, निष्क्रिय, अज्ञान स्थिति में रख छोड़ता है। आत्मा स्वत: इसके प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं कर सकती। शिव-शक्ति जो सार्वभौम, सामान्य, सर्वशक्तिमान, कृपा-स्वरूप तत्त्व है, आत्मा को आणवमल के इस कठिन प्रभाव से मुक्त कराने के लिए माया एवं कर्म का प्रयोग करते हुए विश्व प्रपंच की सृष्टि करती है।[१] माया, जो विश्व का उपादान कारण है, अचेतन तत्त्व है। अत: वह स्वत: क्रियाशील होकर विश्व प्रपंच के रूप में अपने को परिणत नहीं कर सकती। शिव-शक्ति ही वह संचालिका, निमित्त कारण है जो अचेतन माया तत्त्व से विश्व-प्रपंच की

---

१. निमित्तमीश्वराख्यां यत्तद्दृष्टं सहकारणम्।
उपादानं च यत्सूक्ष्मं सर्वकार्येषु संहितम्॥२९॥ —पराख्य तन्त्र, द्वितीय पटल

सृष्टि करती है। यह सृष्टि सोद्देश्यपूर्ण है। आत्मा को आणवमल के प्रभाव से मुक्त करने के लिए ही शिव-शक्ति विश्व-प्रपंच का निर्माण करते हुए आत्मा को कर्मरूपी-क्रियाशीलता को प्रदान करती है। आत्मा कर्म को प्राप्त करती हुयी विश्वप्रपंचरूपी क्षेत्र में क्रियाशील रहती है। कर्म के उपयोग से आत्मा निरन्तर भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में विविध अनुभवों को प्राप्त करती है, जिससे उसमें क्रमशः मल-परिपाक होता रहता है। कर्म शुभ एवं अशुभ ये दो प्रकार से प्रयुक्त होकर उक्त दो परिणामों को उत्पन्न करता है, जिसे आत्मा को उपभोग करना पड़ता है। इन दो परिणामों के उपभोग से ही आत्मा में क्रमशः सत् एवं असत् अर्थात् नित्य एवं अनित्य तत्त्वों का बोध उत्पन्न होने लगता है। अचेतन मायाजनित सभी विषय निःसार, अनुपयोगी, भ्रमात्मक अर्थात् त्याज्य है। कर्म भी, जो सांसारिक विषयों के सन्दर्भ में शुभ, अशुभ परिणाम को उत्पन्न करता है, अन्ततः व्यर्थ है। माया एवं कर्म की निःसारता का अनुभव करना आत्मा के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है। क्योंकि शिव-शक्ति, जो एकमात्र, सर्वशक्तिमान्, सार्वभौम, उपयोगी तत्त्व है–इस सत्य ज्ञान का प्रकाश आत्मा को क्रमशः प्राप्त होता है। यद्यपि माया-कर्म पाश तत्त्व है परन्तु ये सम्पूर्ण अज्ञानताजनित नहीं है क्योंकि इनके प्रयोग से ही आत्मा को तत्त्व ज्ञान के सन्दर्भ में इनकी अनुपयुक्तता सूचित होती है। यद्यपि शिव-शक्ति ही वह आधारभूत अन्तर्निहित मूल तत्त्व है, जिसकी प्रेरणा से ही आत्मा में सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति होती है, परन्तु चूँकि शिव-शक्ति ने आत्मा में नित्य एवं अनित्य वस्तु विषयक ज्ञान को उत्पन्न कराने के लिए माया एवं कर्म को साधन के रूप में प्रयुक्त करती है, इसीलिए ये दोनों शिव-शक्ति से संचालित होने के कारण आंशिक प्रकाशकत्व को प्रदान करने में समर्थ होते हैं। जिस प्रकार से रजक एक दूसरे मैल के द्वारा मूल मैल को दूर करने का प्रयत्न करता है एवं अन्ततः सभी मैलों को दूर करते हुए वस्त्र को परिष्कृत करता है, उसी प्रकार से शिव-शक्ति माया कर्मरूपी पाशों के द्वारा मूल-मल (आणवमल) जनित अज्ञानता के अन्धकार को दूर करती हुयी अपने (शिव-शक्ति के) स्वरूप से आत्मा को प्रकाशित कर देती है। जब तक आणवरूपी अज्ञानता आत्मा को व्याप्त करती हुयी विद्यमान रहती है, तब तक आत्मा अपने में शिव-शक्ति के चैतन्य-प्रकाश को धारण करने में समर्थ नहीं होती। अतः आणवजनित अज्ञानता को दूर करने के लिए शिव-शक्ति ही माया, कर्म का प्रयोग करती है। यह स्पष्ट है कि सृष्टि प्रक्रिया, ईश्वर की आत्मा के प्रति कृपा की अभिव्यक्ति है। अपने स्वरूप को आच्छादित रखते हुए मायाकर्म के प्रयोग से आत्मतत्त्व में विद्यमान अज्ञानता के अन्धकार को दूर करने की यह प्रक्रिया शिव-शक्ति की तिरोधान शक्ति कही जाती है। यह तिरोधान शक्ति ही आत्मा को उस परमपद को प्राप्त करने के लिए उपयुक्त बनाती है, जिसका वर्णन करते हुए श्री उमापति भक्ति भाव से आप्लुत होकर उसे गंगा, चन्द्रमा, सर्प एवं जटाओं को धारण करने वाला परम-सुन्दर स्वरूप कहते हैं। संक्षेप में ईश्वर की कृपा से ही ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है।

पद नं. २१–शुद्ध माया तत्त्व

भावानुवाद

परम शिव की कृपा-शक्ति से नाद तत्त्व का आविर्भाव होता है। नाद तत्त्व से बिन्दु तत्त्व, बिन्दु तत्त्व से ज्योतिष्मान, सादाख्य तत्त्व, सादाख्य तत्त्व से ईश्वर तत्त्व एवं ईश्वर तत्त्व शुद्ध विद्या तत्त्व को उत्पन्न करता है। अत: पाँच तत्त्वों के आविर्भाव होते हैं एवं उनके साथ पाँच तत्त्व कर्ताओं का संयोग भी रहता है। जैसा बताया गया है कि नाद से बिन्दु की अभिव्यक्ति होती है एवं बिन्दु से निर्दोष रूप से सूक्ष्मादि चार वाकों की (परा, पश्यन्ति, मध्यमा, बैखरी) उत्पत्ति होती है। शिव-शक्ति ही उन्हें आविर्भूत करती है– शास्त्रज्ञ ज्ञानी व्यक्तियों का ऐसा ही कहना है।

शिव-शक्ति निमित्त कारण है तथा वह माया तत्त्व को उपागम के रूप में ग्रहण करके विश्व प्रपंच की सृष्टि करती है। चूँकि शिव-शक्ति परमतत्त्व सच्चिदानन्द की ही चित्-शक्ति है इसीलिए उसके द्वारा संचालित माया तत्त्व शुद्ध माया तत्त्व कहलाता है। इस शुद्ध माया को बिन्दु कहते हैं। ये बिन्दु तत्त्व शिव-शक्ति के द्वारा तीन प्रकार से क्रियान्वित किये जाते हैं। जब बिन्दु तत्त्व सृष्टि के प्रति उन्मुख होता है तब वह चित् शक्ति का भोगतत्त्व कहलाता है। दूसरी स्थिति में जब वह कार्य को उत्पन्न करता है तो वह इच्छा शक्ति का अधिकार कहलाता है। इच्छा-शक्ति उसके ऊपर क्रियाशील होती है। जब बिन्दु-तत्त्व अपने में समस्त उपादानों को अव्यक्त, अप्रकाशित रूप में संहृत रखता है तब उस स्थिति को लय कहा जाता है। चित्-शक्ति उस पर तब क्रियाशील नहीं होती। बिन्दु तत्त्व शुद्धाध्व भूमि का कारण है, जो क्रमश: उत्पन्न होने वाले अन्य सभी सूक्ष्म एवं स्थूल उपभोग के विषयों का भी मूल कारण है। बिन्दु से ही मानव चित्त के ज्ञान की विभिन्न विशिष्टताएँ सूचित होती है। बिन्दु तत्त्व के विभिन्न प्रभाव के कारण ही मानव ज्ञान के वैचित्र तथा भिन्न-भिन्न स्तरों के विकास होते हैं। बिन्दु तत्त्व 'शब्द' एवं 'अर्थ' इन दोनों प्रकार की सृष्टि का मूल उपादान कारण है। यद्यपि शब्द एवं अर्थ अन्योन्याश्रित है परन्तु बिन्दु से उत्पन्न शब्द तत्त्व शुद्धाध्व के अंतर्गत माना जाता है, क्योंकि यह मल एवं कर्म से मुक्त है। इसीलिए यह अविमिश्र आनन्द को उत्पन्न करता है। बिन्दु अथवा नाद को सृष्टि का ज्ञापक 'हेतु' बताया गया है, अर्थात् विश्व प्रपंच के सभी ज्ञान शब्द एवं अर्थ की अभिव्यक्ति के माध्यम से होते हैं। वर्ण ही मूल है, ध्वनि उसका व्यंजक है। वर्ण उस अन्तर्भूत शब्द तत्त्व से उत्पन्न होता है जिससे अर्थ की प्रतीति होती है। उच्चारित होना वर्ण की अभिव्यक्ति मात्र है। वर्ण जो स्वत: नित्य है, एवं जिसकी अभिव्यक्ति इस विश्व प्रपंच में होती है, मूलत: बिन्दु से ही उत्पन्न होता है। जैसे–ग्रीक दर्शन, अंकशास्त्र के ऊपर आधारित है। उसी प्रकार भारतीय दर्शन शब्द-शास्त्र के ऊपर आधारित है। शब्द शास्त्र वह

मूल आधार है जिससे दर्शन की सभी विधाओं का विकास हुआ है।[१] ब्राह्मण दर्शन के अनुसार दैवी वाक् से ही भाषा तत्त्व का भी विकास हुआ है। ऋग्वेद में दैवी वाक् की तुलना एक विशाल वृष-देव से की गयी है। महर्षि पतंजलि ने भी उस महान देवता को शब्दरूप बताया (महान देव: शब्द:)। ऋग्वेद के दूसरे स्थान में शब्द की तुलना उस पतिव्रता स्त्री से की गयी है जो अपने आन्तरिक स्वरूप को पति के निकट सम्पूर्ण रूप से उन्मीलित करती है। उसी प्रकार से शब्द तत्त्व भी विभिन्न प्रकार के सृष्टि तत्त्व के रूप में अपने को प्रकाशित करता है।[२] शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध मौलिक, स्वाभाविक, शाश्वत एवं सामान्य है जिसे मीमांसा एवं व्याकरण दर्शन में प्रतिपादित किया गया है। भाषा तत्त्व का विवेचन मात्र बौद्धिक विवेचन नहीं है वरन् शब्दब्रह्म नामक मूल तत्त्व एवं उसकी अभिव्यक्ति का तात्विक अन्वेषण है। इसीलिए भर्तृहरि ने इस अन्वेषण को शब्द योग अथवा शब्द-पूर्वक योग कहा है। भारतीय दर्शन के अनुसार शब्द की बाह्य अभिव्यक्ति एवं उसके तात्विक रूप दोनों माने गये हैं। व्याकरण विद् पाणिनि एवं पतन्जली, भाष्यकार यास्क, भाषा तत्त्वविद् भर्तृहरि इत्यादि सभी तत्त्वज्ञ विद्वानों ने शब्द को मूलरूप में ब्रह्मन् एवं प्रकाशन अथवा अभिव्यक्ति के रूप में भाषा के विकास की व्यवहारिक स्थिति का वर्णन किया। मूल शब्द तत्त्व का दर्शन ऋषियों ने ओम् (ॐ) के रूप में किया, जिसकी अभिव्यक्ति जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति के रूप में होती है। ओम् रूपी ब्रह्मन् इन सब व्यावहारिक स्थितियों से परे नित्य तत्त्व है। आगम-शास्त्र के अनुसार शब्द केवल ध्वनि मात्र नहीं है वरन् उसकी एक अखण्ड सत्ता है। आगम, व्यास देव के अनुसार श्रोतृ-ज्ञान है, जो आप्त वचन के माध्यम से प्रकाशित होता है, इसीलिए वह स्वत: सिद्ध सत्य है। भर्तृहरि ने भी पतंजली की तरह प्रत्यक्ष, अनुसन्धान तथा शब्द प्रमाण (श्रुति एवं आगम) को स्वीकार की है, श्रुति से ही स्मृति शास्त्र का विकास हुआ है भर्तृहरि के अनुसार आगम वह स्वत: सिद्ध शास्त्र नि:सन्दिग्ध ज्ञान है जो कालान्तर में सत्य, धर्म-मार्ग का विकास करता है। अत: इसकी प्रमाणिकता नि:संदिग्ध है। जैसा पहले बताया गया है कि शब्द मात्र वर्णों का समन्वय नहीं है वरन् परमसत्ता को प्रकाशित करने वाला एक अविच्छेद्य स्वरूप है। भर्तृहरि ने स्फोट सिद्धिग्रन्थ में बताया है कि शब्द तत्त्व का स्वरूप उस साधक के निकट प्रकाशित होता है जो शब्द एवं अर्थ के समन्वयात्मक स्वरूप पर अपने ध्यान को पूर्णरूप से केन्द्रित कर लेता है। ब्राह्मण में उक्त–'सैतम् मन्त्रम् अपश्यत्' से शब्द तत्त्व की नित्यता सूचित होती है। शब्द प्रपंच अर्थात् शब्द जगत की सृष्टि के बारे में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए इसे यदि विपरीत क्रम से देखा जाय तो समझने में सुविधा हो सकती है। शब्द जगत के तीन स्तर है। सबसे स्थूलतम विकास को स्थूल नाद कहा जाता

१. स्फोट थिओरी ऑफ लेंगुयेज–फशेवार्ड–दी.आर.पी. मूर्ति
२. रीविलेशन इन इन्डियन थॉट–फाउवार्ड एण्ड के शिवरमन्। पृष्ठ ५

है, जो स्थूल कण के द्वारा श्रुति गोचर होता है। इससे ऊपर का स्तर अस्पष्ट परन्तु अन्तर्भूत नाद तत्त्व है, जिसकी तुलना मयूर के डिम्ब से दी जाती है। जैसे मयूर डिम्ब में मयूर के सभी रंग सूक्ष्म रूप में, अव्यक्त रूप में विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार से सूक्ष्मनाद में भी शब्द जगत का स्थूलरूप सूक्ष्मरूप में विद्यमान रहता है। तृतीय एवं सर्वोच्च स्तर नाद की वह सूक्ष्म अवस्था है, जो अव्यक्त तथा शुद्धरूप में सम्पूर्ण शब्द जगत को अपने में धारण करता है। जिसका एक रूप बिन्दु अथवा अक्षर बिन्दु है एवं जो स्थूलरूप में वर्ण कहा जाता है। शब्द जगत की सृष्टि में स्थूलतम अभिव्यक्ति को बैखरी कहा जाता है जो स्पष्टतया उच्चारित होता हुआ अर्थ को प्रतिपन्न करता है। वक्ता एवं श्रोता के बीच आदान-प्रदान का सम्बन्ध बैखरी वाक् के द्वारा ही होता है। बैखरी की और एक विशेषता यह है कि सूक्ष्म नाद की अभिव्यक्ति के लिए प्राण वायु, उदान वायु इत्यादि के सहयोग की आवश्यकता होती है। शारीरिक अंग-प्रत्यंग के प्रयोग से, वायुओं के सहयोग से, अहंकार तत्त्व की प्रेरणा से निश्चयात्मिका बुद्धि की प्रक्रिया से सूक्ष्म नाद बैखरी के रूप में अभिव्यक्त होता है। बैखरी ही शब्द-जगत की स्थूल अभिव्यक्ति है जिससे व्यावहारिक आदान-प्रदान की प्रक्रियायें चलती हैं। बैखरी से परे मध्यमा वाक् का वह स्तर है जो बैखरी को अपने में अव्यक्त रूप में धारण करती है। यह शब्द एवं अर्थ की अव्यक्त संयोगावस्था है। यह वह स्थिति है जो प्राण, मन, एवं वायुओं के संयोग से प्रस्फुटित होने की पूर्वावस्था है। उदान वायु ही उसे आन्तरिक रूप से धारण करता है। मध्यमा से और उच्च स्थिति पश्यन्ति है। पश्यन्ति के स्तर में शब्द जगत अन्तर्भूत अव्यक्त बीजावस्था में रहता है, जिससे वह विभिन्नताओं की ओर प्रकाशित होने के लिए जैसे–आग्रहान्वित स्थिति में अपेक्षमान रहता है। इसीलिए उसे पश्यन्ति देखते हुए के रूप में बताया गया है। इस अवस्था में सभी वर्ण अभिन्न स्थिति में क्रमबद्ध रहते हैं। इस अवस्था की तुलना मयूर-डिम्ब तथा सूर्य की किरण से दी गयी है। मयूर डिम्ब में जैसे मयूर पंखों के सभी रंग सूक्ष्म एवं अव्यक्त रूप में विद्यमान रहते है एवं सूर्य की किरण भी सभी रंगों को अपने में समाहित की हुई होती है उसी प्रकार से शब्द जगत की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति की पूर्व अनभिव्यक्त अवस्था को ही पश्यन्ति कहते हैं। अभिन्न होने पर भी पश्यन्ति स्वयं प्रकाश स्थिति है। सभी निश्चित सापेक्ष ज्ञान एक निरपेक्ष अनिर्णीत स्थिति की ओर संकेत करते हैं, जो पश्यन्ति के कारण ही होते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि सापेक्ष स्थिति की आधारभूत सत्ता के रूप में निरपेक्ष का अस्तित्व अविसंवादित है। वाक् की सर्वोच्च भूमि परावाक् अथवा सूक्ष्म वाक् वह परम-स्थिति है जिससे सम्पूर्ण शब्द जगत् अपनी मौलिक शक्ति को प्राप्त करता हुआ उसके ऊपर आश्रित रहता है। इसे नाद कहा जाता है। यह सब विभिन्नताओं से परे हैं। यदि पश्यन्ति निर्विकल्पकज्ञान है तो परा बोध स्वरूप है। इन दोनों की विभिन्नता तत्त्वों की सम्भावित एवं व्यक्तावस्था की भिन्नता के समरूप है। परावाक्

अथवा नाद वाक् जगत की सर्वोच्च स्थिति है जो अपने में विभिन्न प्रकार की अभिव्यक्तियों के तात्विक शक्ति को निरपेक्ष रूप से धारण करते हैं इसे सर्वोच्च अवस्था इसलिये कहा गया है कि यह पश्यन्ति स्थिति से भी परे तथा निरपेक्ष स्थिति है। यह शाश्वत इसलिये कहलाता है कि अपनी अनन्त अभिव्यक्तियों की सम्भावनाओं में से यह कई एक को ही प्रकाशित करता है। सुषुप्ति में ही इसका अस्तित्व विद्यमान रहता है। इसे अन्तज्योंति कहा जाता है। आत्मतत्त्व[१] से इसकी अत्यन्त निकटता पूर्ण संलग्नता के कारण प्राय: इसे आत्मा के रूप में ही जाना जाता है। परन्तु मूलत: अचेतन होने के कारण यह एक उत्पन्न तत्त्व ही है स्पष्टत: परावाक् बिन्दुतत्त्व एवं शब्द जगत की बाह्य अभिव्यक्तियों की मध्यावस्था है। विन्दु से उत्पन्न तत्त्व के रूप में यह अनित्य (परिवर्तनशील) एवं पर-शरीर के ऊपर आश्रित है। परा बिन्दु से उत्पन्न वह अधिकारी स्थिति है जो क्रमश: पश्यन्ति तथा विभिन्न अन्य आनुभविक शव्द जगत को उत्पन्न करने में समर्थ है। एक प्रकार से यह शिव-तत्त्व से समानता रखता है जो छत्तीस तत्त्वों में प्रथम तत्त्व है। आगम के अनुसार यह शब्द जगत का वह मूल वर्ण है जो अपने में शब्द तथा अर्थ को प्रकाशित करने की शक्ति को धारण करता है।[२] आगमशास्त्र में उक्त इस दृष्टिकोण का तात्पर्य यह है कि नाद वह तत्त्व हैं जो अर्थ को अभिव्यक्त करता है। उक्त दृष्टिकोण वर्णसिद्धान्त एवं स्पोटवाद के अनुकूल है।

इस सन्दर्भ में यह बताना आवश्यक है कि शैव सिद्धान्त के अनुसार शब्द अर्थ का वाहक है, जैसा कि दीपक अन्धकार में आच्छन्न वस्तुओं को प्रकाशित करता है। अर्थ को प्रकाशित करना ही शब्द का कार्य है। शब्द आत्म-ज्ञान को सूचित नहीं करता वरन अर्थ की ओर ही मात्र संकेत करता है। शैव सिद्धान्त के अनुसार शब्द एवं अर्थ का वह नित्य स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं माना गया जो विज्ञानवादियों ने स्वीकार किया है। शब्द-ब्रह्मण् वादियों ने भी परावाक् को ब्रह्म एवं उसकी प्रतीति के रूप में स्वीकार की है। परन्तु शैव-सिद्धान्त के अनुसार परा अथवा नाद को परमतत्त्व की परिग्रह शक्ति माना गया है जो शुद्धमाया तत्त्व से उत्पन्न होता है। इसके अनुसार चूँकि शब्द अर्थ को उत्पन्न करता है इसलिये यह नित्य शाश्वत नहीं हो सकता। शब्द से ही अर्थ की उत्पत्ति होती है परन्तु अर्थ से शब्द की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे धान के तुष के अन्तर्गत चावल अन्तर्भूत रहता है उसी प्रकार से शब्द में अर्थ विद्यमान होने से शब्द से ही उसकी उत्पत्ति होती है।

शुद्ध माया तत्त्व से उत्पन्न दूसरी धारा शिव-तत्त्व है। शैव सिद्धान्त के अनुसार शिव तत्त्वों का विकास भी सूक्ष्म से स्थूल की ओर, विभिन्न स्तरों में कई सामान्य विशेषताओं

---

१. उल्लेर सोदियाय–सुपक्कम्। ४३

२. "पूर्ववर्णन–संस्कारयुक्तोनन्तोनं अभिधयक:"–भाष्य, नादकारिका

से पूर्ण तत्त्वों के रूप में होता है। ये तत्त्व आत्मतत्त्व से भिन्न विषयरूप अलग-अलग स्तर के भोग को प्रदान करने वाले हैं। आत्मा की आध्यात्मिक यात्रा में जब तक प्रलय नहीं होता, तब तक विभिन्न तत्त्वों से आत्मा विभिन्न अवस्थाओं में प्रभावित होती रहती है। शैव सिद्धान्त के अनुसार इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया की समन्वित स्थिति है। इसीलिये ज्ञान से उत्पन्न होते ही उसका इच्छारूपी लक्ष्य अर्थात् भोग भी ज्ञात हो जाता है। यह प्रक्रिया तिरोधान शक्ति के द्वारा संचालित होती है, जो सूर्य की किरण की तरह विषयों को प्रकाशित करती हुई चक्षु इन्द्रिय को देखने की प्रक्रिया में अनिवार्य, अवश्यम्भावी रूप से सहयोग प्रदान करती है। जब तक सूर्य-प्रकाश चक्षु-प्रकाश से सम्मिलित होकर अभिन्न रूप से क्रियाशील नहीं होता तब तक देखने की प्रक्रिया सम्भव नहीं हो सकती है। उसी प्रकार से चित्-शक्ति आधारभूत-आश्रय-तत्त्व के रूप में आत्म प्रकाश से अनन्य होकर विषयों को प्रकाशित करती है एवं तभी आत्मा विषयों के ज्ञान को प्राप्त कर सकती है। शिव-शक्ति जो इच्छा-ज्ञान क्रियारूप है, आत्मा की इच्छा-ज्ञान क्रिया शक्ति से अभिन्न रूप में विद्यमान रहती है और तभी आत्मा के लिए अनुभवों को प्राप्त करना सम्भव होता है। उक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए शुद्ध माया से उत्पन्न शुद्ध तत्त्वों को भोग्यखण्ड बताया गया है, जो आत्मा में अन्तर्भूत मौलिक ज्ञान तत्त्वों को आंशिक प्रकाशकत्व प्रदान करता हुआ उन्मीलित करता है, एवं भोग्यखण्ड से आत्मा को सम्बन्धित करता है। अन्ततः उस वर्ग का विकास होता है जो अनुभवों को विभिन्न स्थितियों में उत्पन्न करता है, उसे प्रेरकखण्ड कहा जाता है। अन्त में बताया गया यह प्रेरक खण्ड ही वह प्रथम उत्पन्न तत्त्व है जो पूर्व के दो वर्णों को अपने में समाहित रखता है। तार्किक दृष्टिकोण से, प्रेरकखण्ड ही शुद्ध माया से उत्पन्न प्रथम वर्ग का तत्त्व है। यद्यपि साधक उसके सम्यक्-ज्ञान को सबसे बाद में प्राप्त करता है, ये सभी अनुभव के परे वे शर्तें हैं जिन्हें साधक ज्ञान की अन्तर-आलोचन पद्धति के द्वारा प्राप्त करता है। शिव तत्त्व का प्रथम वर्ग शिव-शक्ति तथा बिन्दु है, जो क्रमशः निमित्त कारण, सहकारीकारण एवं उपादान कारण माने गये हैं। शिव शुद्ध तत्त्वों का अपरोक्ष–रूप से एवं अशुद्ध तत्त्वों का परोक्ष रूप से निमित्त कारण है। शक्ति शुद्ध एवं अशुद्ध दोनों स्तरों में माया, कर्म इत्यादि कारणों के द्वारा सहकारी कारण के रूप में सतत् क्रियाशील रहती है। बिन्दु शुद्ध अध्व का उपादान कारण एवं माया, अशुद्ध अध्व का उपादान कारण कहा गया है। बिन्दु जो सृष्टि तत्त्व का मूल उपादान कारण है, चित् शक्ति के द्वारा संचालित होता हुआ प्रलय में सूक्ष्म रूप में पुनः परिणत हो जाता है। सृष्टि में बिन्दु की अभिव्यक्ति विभिन्न कलाओं, तत्त्वों, भुवन, मन्त्र, पद, वर्ण इत्यादि के रूप में होती है। प्रलयावस्था में चित्शक्ति सम्पूर्ण सृष्टि के अभिव्यक्ति को मूल, बिन्दु के रूप में परिणत कर देती है जो पुनः ज्ञान-शक्ति की प्रेरणा से शिव तत्त्व के रूप में प्रकाशित होता है। बिन्दु की यह प्रथम वृत्ति है। तदनन्तर बिन्दु में क्रियाशक्ति के द्वारा जो

परिवर्तन होता है उससे द्वितीय तत्त्व अर्थात् शक्ति तत्त्व का आर्विभाव होता है। पुनः ज्ञान शक्ति एवं क्रियाशक्ति के सम्मिलित एवं स्पष्टतर प्रेरणा से तृतीय तत्त्व सदा-शिव तत्त्व की उत्पत्ति होती है, जिसमें सृष्टि को प्रकाशित करने की उन्मुखता पूर्णरूप से विद्यमान रहती है। तदनन्तर ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, के युग्म एवं नवीन समन्वय से माहेश्वर तत्त्व की उत्पत्ति होती है, जो विश्व प्रपंच को उत्पन्न करने के लिए और स्पष्ट रूप से क्रियोन्मुख रहता है। इसके वाद पुनः ज्ञान-शक्ति का प्राधान्य लेते हुये शुद्ध-विद्या तत्त्व का आर्विभाव होता है। इन पाँच शिव तत्त्वों से सम्बन्धित भुवन विद्यमान है जिनमें अधिकार मुक्त एवं अपरमुक्त नामक दो साधक वर्गों के सम्बन्ध तथा अनुभव होते रहते हैं। अपरमुक्त वे आत्माएँ हैं जो सब प्रकार के अधिकार अथवा उत्तरदायित्व से पूर्ण मुक्त है, एवं अपने-अपने आराध्य देव की उपासना में निमग्न है अधिकार मुक्त वे पुरुष हैं जिनमें भोग एवं लय की वासना क्षीण रूप में विद्यमान होने के कारण निरन्तर उपासना के द्वारा शिव ज्ञान को प्राप्त करने में प्रयासरत हैं।

यद्यपि शुद्ध माया की ये दो धाराएँ हैं, परन्तु शैवागम के अनुसार इन्हें सम्बन्धित किया गया है। शिव-तत्त्व सूक्ष्मवाक् के रूप में कामिकागम इत्यादि शैवागमों का आधार है, शक्ति-तत्त्व पश्यन्ति का आश्रय है। सदाशिव तत्त्व में वे मध्यमा के रूप में प्रणव के साथ विद्यमान रहते हैं। बाकी दो तत्त्वों में शैवागम सूक्ष्म बैखरी तथा स्थूल बैखरी के रूप में अन्तर्भूत रहते हैं, जो क्रमशः विभिन्न उपागमों एवं शास्त्रों के रूप में विकसित होते हैं।

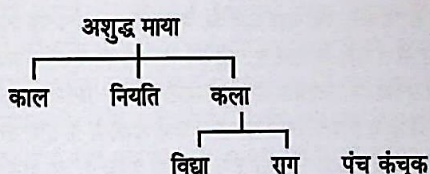
शैव सिद्धान्त के अनुसार इन पाँच तत्त्वों के विकास को परिणामवाद के रूप में नहीं समझना चाहिए वरन् ये एक ही तत्त्व की विभिन्न-वृत्तियाँ है, क्योंकि बिन्दु मल एवं कर्म से रहित शुद्ध माया तत्त्व है। कोई भी अविमिश्र सरल तत्त्व परिवर्तनशील नहीं हो सकता। इसीलिए उसे मात्र 'एक देश वृत्ति' के रूप में समझना चाहिए, जो अन्तर्भूत शक्ति की अभिव्यक्ति है।

पद नं. २२–अशुद्ध माया तत्त्व

भावानुवाद

चार प्रकार के देह (तनु, करण, भुवन, भोग) माया से प्राप्त होते हैं, जो एक दूसरे से भिन्न होते हुए नित्य, स्थायी एवं अरूप है। माया एवं कर्म आत्माओं को धारण करते हैं। यह अचेतन अचल धारण करने वाली हैं। ईश्वर का कार्य व्यापक, विस्तृत, शुद्ध माया से परे हैं। माया आत्माओं से सृष्टि, जन्म के समय युक्त होती हैं, संहार के समय आत्मायें मल से युक्त होकर कारण माया में विश्राम करती है। पुनः सृष्टि के समय कार्य माया ईश्वर की करुणा से प्रेरित होकर आत्मा के साथ युक्त होती है।

चार प्रकार के देह अर्थात् आवरण आत्मा को माया तत्त्व से प्राप्त होता है। ये क्रमश: तनु, करण, भुवन एवं भोग हैं। तनु अर्थात् आत्मा जिस देह को धारण करती है, करण वे सभी सूक्ष्म एवं स्थूल इन्द्रियाँ हैं, जिनको माध्यम बनाकर आत्मा सांसारिक सभी प्रकार के अनुभवों को प्राप्त करती है। भुवन आत्मा का कर्म एवं भोग्य क्षेत्र है, जिसकी सृष्टि अशुद्ध माया से होती है। अशुद्ध माया ही वह माध्यम है, जो आत्मा को भुवन रूपी आधार प्रदान करती हुई विभिन्न प्रकार के उपभोगों को करवाती है। उसे ही भोग शब्द से सूचित किया जा रहा है। अशुद्ध माया के ये तत्त्व यथार्थ हैं, क्योंकि अशुद्ध माया स्वयं नित्य, एक, अरूप एवं यथार्थ है। यह अचेतन, अक्रियमाण आधार है जो सृष्टि में आत्मा को धारण करती है। सृष्टि के समय माया ही ईश्वर-शक्ति से प्रेरित होकर विभिन्न प्रकारों में विकसित होकर आत्माओं को धारण करते हुए उन्हें कर्म-क्षेत्र प्रदान करती है। तनु, करण, भुवन एवं भोग में विद्यमान रहकर आत्मा विभिन्न प्रकार के अनुभवों को प्राप्त करती है। यह सृष्टि प्रक्रिया की विशिष्टता है। संहार के समय आत्माएँ कारण माया में स्थित होती हैं। कारण माया माया तत्त्व की वह मूलावस्था है जिसमें सभी तत्त्व सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते हैं। जैसा पहले सूचित किया गया है कि संहार ईश्वर-कृत पंचकृत्य में वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा ईश्वर सृष्टि में विभिन्न कर्मों के बाद आत्माओं को विश्राम प्रदान करता है। इसलिए कर्मफल भी सूक्ष रूप में मल के साथ विद्यमान रहता है, जो पुनर्सृष्टि में पुन: नियमानुसार प्रकाशित होता है। अर्थात् सृष्टि एवं संहार इन दोनों प्रक्रियाओं में ही ईश्वर-शक्ति माया को उस आधार के रूप में प्रयुक्त करती है, जो वास्तव में आत्मा को कर्मभूमि एवं विश्रामभूमि प्रदान करती है। माया अचेतन होने के कारण स्वयं इन प्रक्रियाओं में क्रियाशील नहीं हो सकती। चित्-शक्ति ही माया का संचालक कारण है। जिसकी प्रेरणा से ही माया विभिन्न रूपों में प्रकाशित होकर आत्मा को कर्मभूमि प्रदान करती हुई क्रमश: बन्धन मुक्त होकर शिवपद को प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होती है। माया की यह परोक्ष सहायता अपरोक्ष रूप से आत्मा को शिव-शक्ति के द्वारा ही प्राप्त होती है। प्रलयावस्था में माया आत्मा के विश्राम स्थल के रूप में विद्यमान रहती है, जिसे कारण माया कहा जाता है एवं सृष्टि प्रक्रिया में वही कार्य के रूप में प्रकाशित होकर विभिन्न तत्त्वों को प्रदान करती है, ये तत्त्व निम्नलिखित हैं–



अशुद्ध माया मूल माया तत्त्व की वह अभिव्यक्ति है जो अपने में यथार्थ, नित्य,

अचेतन तत्त्व है, कला तत्त्व से पृथ्वी तत्त्व तक इसका कार्य स्थूल रूप से अभिव्यक्त होता है। यह जीव के कार्य करने के लिए वह क्षेत्र उत्पन्न करता है जिसमें जीव का बन्धन होता है। माया तत्त्व स्वयं अपने में आकार-विहीन है। शिव-शक्ति की प्रेरणा से जीव को कर्मफल प्रदान करने के लिए तदनुरूप आकार प्राप्त करता है, अर्थात् माया वह उपादान तत्त्व है जिसे शिव-शक्ति आवश्यकतानुसार किसी भी रूप में प्रयुक्त करती है। माया कोई भी आकार प्राप्त करने में समर्थ है, प्रभु अनन्तदेव अशुद्ध माया के अधीश्वर है। अशुद्ध-माया से विकसित उपरोक्त पाँच तत्त्व आत्मा को किस प्रकार से प्रभावित करते हैं, इस सन्दर्भ में आगे विशद वर्णन किये जायेंगे।

पद नं. २३

भावानुवाद

यदि यह कहा जाय कि माया ही प्रपंच का एक मात्र कारण है, परन्तु ऐसा नहीं है। यदि यह कहा जाय ईश्वर कारण नहीं है, ऐसा भी नहीं है। चैतन्य तत्त्व ही अचेतन तत्त्व के द्वारा विश्व की सृष्टि करता है पुनः यदि माया ही नित्य है तो कर्ता की क्या आवश्यकता है? माया कोई रूप (या आकार) की सृष्टि नहीं कर सकती अतः सृष्टि कर्ता की आवश्यकता है। पुनः सृष्टि कर्ता भी माया के बिना प्रपंच को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि यह कहा जाय कि वह (ईश्वर) असत्य है एवं माया उसकी (ईश्वर की) तरह शाश्वत है। चूँकि कर्ता प्रथम कारण एवं अनादि है अतः अचित् माया भी अनादि है जो सब वस्तुओं को उत्पन्न करती है–ऐसा ज्ञानी व्यक्ति कदापि नहीं कहेंगे।

उक्त पद में श्री उमापति शिवाचार्य माया तत्त्व की विशिष्टता, उसकी महत्ता उसका कार्य एवं स्थान अर्थात् उसकी सीमा का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। वे स्वयं प्रश्न उत्थापित करते हुए कहते हैं कि यदि यह कहा जाय कि माया ही विश्व प्रपंच का एकमात्र कारण है तो यह असत्य होगा क्योंकि स्वरूपतः अचेतन होने के कारण माया प्रेरणा विहीन है एवं वह जीव की आवश्यकता को समझती हुई सृष्टि प्रपंच को विकसित करने में भी असमर्थ है। अतः उसे एकमात्र कारण कदापि माना नहीं जा सकता। श्री उमापति पुनः प्रश्न करते हैं कि यदि यह कहा जाय कि माया विश्व प्रपंच का कारण है, अतः ईश्वर विश्व-कारण माना नहीं जा सकता, यह भी असत्य है, क्योंकि अचेतन माया स्वयं क्रियाशील होकर प्रपंच को उत्पन्न नहीं कर सकती। ईश्वर चैतन्य स्वरूप है। वही अपनी स्वरूप-शक्ति के द्वारा विश्व-प्रपंच को माया रूपी उपादान के द्वारा उत्पन्न करता है। अर्थात् शिव-शक्ति निमित्त कारण एवं माया तत्त्व सृष्टि प्रपंच के उपादान कारण है। श्री उमापति पुनः प्रश्न उत्थापित करते हुए कहते हैं कि यदि माया नित्य तत्त्व है तब उसके संचालक की

क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर इस रूप में दिया जा रहा है–माया तत्त्व नित्य होने पर भी अचेतन है, इसलिए उसे प्रेरित या संचालित करने के निमित्त चित्-शक्ति की आवश्यकता है। चित्-शक्ति ही माया के उपयोग से वैचित्रपूर्ण विश्व प्रपंच को उत्पन्न करती है। यदि यह कहा जाय कि चूँकि माया विश्व का उपादान कारण है एवं नित्य तत्त्व है, अत: वह चित्-शक्ति के समतुल्य है यह कदापि स्वीकार्य नहीं हो सकता है। यद्यपि शैव सिद्धान्त के अनुसार माया पाश तत्त्व के रूप में नित्य तत्त्व है परन्तु वह क्रियाशीलता या अभिव्यक्ति के लिए सम्पूर्ण रूप से ईश्वर-शक्ति पर निर्भरशील है। ईश्वर एकमात्र सर्वशक्तिमान, नित्य शाश्वतसत्य है जो सृष्टि, स्थिति, प्रलय, निग्रह एवं अनुग्रह रूपी पंचकृत्य का अधिकारी है। ईश्वर ही प्रथम एवं अनादि कारण है जो अचित् माया के द्वारा जीव के कल्याण के लिए पंचकृत्य का सम्पादन करता है। शैव सिद्धान्त के अनुसार माया का अनादित्व काल-तत्त्व से सन्दर्भ युक्त है, काल सृष्टि प्रपंच के अंतर्गत माया से उत्पन्न एक तत्त्व है और इसीलिए माया को कालातीत माना जाता है। अत: माया तत्त्व को नित्य मानने के फलस्वरूप ईश्वर कदापि क्षुण्ण नहीं होते। ईश्वर अनादि, अनन्त, नित्य, शाश्वत, प्रथम, एकमात्र सच्चिदानन्द तत्त्व है जो वास्तव में अतुलनीय है।[१] श्री उमापति ईश्वर की अनन्तता एवं माया के स्वरूप को प्रकाशित करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि तत्त्वज्ञानी व्यक्ति माया को अनादि होने पर भी ईश्वर के समतुल्य नहीं मान सकते क्योंकि ईश्वर ही एकमात्र सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, चैतन्य सत्ता है, जो मायारूपी उपादान कारण का नियन्त्रण एवं संचालन कर्ता है। जैसा ऊपर बताया गया है कि सृष्टि प्रपंच के उपादान कारण होने के कारण कालतत्त्व की उत्पत्ति भी कारण-माया से होती है। अत: माया इस अर्थ में कालातीत अर्थात् नित्य मानी जाती है। इस विवेचन से ईश्वर-तत्त्व सम्पूर्ण रूप से ही अप्रभावित रहता है। वह तो अद्वितीय, अन्तर्यामी, सर्वव्यापक नियन्ता है।

पद नं. २४–तत्त्व के मूल स्रोत एवं आधार

भावानुवाद

उसने (ईश्वर ने) विभिन्न प्रकारों की सृष्टि की है, यथा पक्षी, पशु, मनुष्य एवं अन्य प्राणी। उसने क्यों इन प्रकारों की सृष्टि की? ज्ञानी व्यक्तियों का कहना है कि आत्माओं के पूर्व जन्मों के कर्मों के अनुसार ही ऐसा हुआ। ईश्वर या सृष्टि कर्ता की क्या आवश्यकता है? कर्म स्वत: ही इसे कर सकता है। चूँकि कर्म अचेतन है अत: वह स्वयं अवयवों को उत्पन्न नहीं कर सकता। अत: कोई कर्ता पाप पुण्य के अनुसार शरीर को उत्पन्न करता

---

१. निगरिल इरै = तिरूवरूट्ययन–१,१

है। दो प्रकार के कर्म (पाप एवं पुण्य) के आधार पर ही उन्हें शरीर प्राप्त होता है। परन्तु कर्म अचेतन, अकर्ता होने के कारण विषयों का कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। अत: वह कारण या कर्ता नहीं बन सकता।

सृष्टि वैचित्र-पूर्ण है, इस विश्व-प्रपंच में कई प्रकार के देहधारी जीव पाये जाते हैं, जैसे पक्षी,पशु एवं मनुष्य। पुन: प्रत्येक जीव ही एक दूसरे से भिन्न है, अर्थात् संसार असंख्य विभिन्नताओं से युक्त है। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इतने वैचित्र का कारण क्या है? श्री उमापति शिवाचार्य, उत्तर के रूप में कहते हैं कि जीवों के विभिन्न कर्मों के कारण ही उनकी विभिन्न प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न होती है। प्रत्येक कर्म, उसमें अन्तर्निहित अभिप्राय के अनुसार फल उत्पन्न करता है। अच्छे कर्म का फल शुभ एवं बुरे कर्म का फल अशुभ होता है। यह भारतीय दर्शन का सामान्य दृष्टिकोण है। कर्म एवं कर्मफल के बीच इस सहज, अविरल सम्वन्ध में किसी प्रकार की बाधा अथवा समझौता नहीं हो सकता। अर्थात् अच्छे एवं वुरे दोनों प्रकार की बाधा अथवा समझौता नहीं हो सकता। अर्थात् अच्छे एवं बुरे दोनों प्रकार के कर्मफलों को ग्रहण करने के लिए मनुष्यों को इस विश्व प्रपंच के आवागमन चक्र में आवद्ध रहना पड़ता है। ईश्वरवादी दर्शन के अनुसार ईश्वर ही कर्मफल को प्रदान करता है, क्योंकि वही एक मात्र सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ नियन्ता है। प्रत्येक जीव को ईश्वर उसके कर्मानुसार फल प्रदान करके इस सृष्टि में विद्यमान न्याय एवं नीति को बनाये रखता है। विश्व-प्रपंच के संचालक के रूप में इस कार्य को करने का अधिकार एवं सामर्थ्य एक मात्र ईश्वर को ही है, क्योंकि वही अनन्त असीम तत्त्व है। तत्त्वज्ञानी व्यक्तियों ने निश्चित रूप से इस प्रकार का विवेचन किया है। भारतीय दर्शन में कर्म के नियम से सम्यक् सम्पूर्ण विवेचन के लिए जन्मान्तर को माना गया है। जीवों द्वारा किये गये सभी कर्म फलों की प्राप्ति एक ही जीवन में सम्भव नही है। इसीलिए पुन: जन्म होता है। मनुष्य जीवन में जिन कर्मों के परिणाम को प्राप्त करता है उन्हें प्रारब्ध कर्म कहता है, अर्थात् जो कर्म पहले किये गये हैं एवं जिनका परिणाम प्राप्त हो रहा है उन्हें ही प्रारब्ध कहते हैं। भूत-काल के कई कर्मों के फल अभी तक प्राप्त नहीं हुए, भविष्य में प्राप्त होने वाले हैं उन्हें संचित कर्म कहते हैं। वर्तमान में किये गये कर्मों का परिणाम भविष्य में उत्पन्न होने वाला है, जिन्हें क्रियमान या संचियमान कर्म कहते हैं। इस प्रकार से भारतीय दर्शन में कर्म एवं उससे उत्पन्न फल-भोग का विशद विवेचन जन्मान्तर वाद से सम्बन्धित रूप से किया गया है। शुभ एवं अशुभरूपी द्विविध कर्म पुण्य एवं पाप रूपी विविध फल उत्पन्न करते हैं। प्रश्न उत्पन्न होता है कि कर्म स्वत: ही क्यों फल उत्पन्न नहीं कर सकता? कर्मफल को प्रदान करने के लिये ईश्वर की क्या आवश्यकता है? उमापति शिवाचार्य यह विवेचन अन्यान्य ईश्वरवादी दार्शनिक के अनुकूल करते हुए प्रतिपादित करते हैं कि कर्म स्वयं अचेतन होने के कारण फल-प्रदान

करने में असमर्थ है। किसी भी अचेतन तत्त्व के लिए आवश्यकता या उपयुक्तता का बोध प्राप्त करना एवं तदनुकूल फल को प्रदान करना कदापि सम्भव नहीं है। इसलिए कर्म अचेतन, अकर्ता है। शिव-शक्ति उसे संचालित करती है। जीवों को उसके शुभ और अशुभ कर्म के अनुसार उपयुक्त फल प्रदान करना एक मात्र शिव-शक्ति के लिए ही सम्भव है। इसीलिए शिव-शक्ति ही मूलत: तत्त्व की मूल स्रोत, आधार एवं नियन्ता है।

पद नं. २५

भावानुवाद

क्या दु:ख को अनुभव करवाने के लिए ही देह को उत्पन्न करता है? यदि ऐसा ही है तो माया या कर्म में कौन सा पहले आता है? यदि माया या कर्म नहीं होते तो क्या कठिनाई होती, आणव मल के रहते हुए माया मल एवं कर्म मल भी उसके साथ सम्बद्ध हो जाते हैं जैसे धान के साथ तुष एवं छड़ी की तरह माया एवं कर्म अनादि काल से आत्मा में विद्यमान रहते हैं।

यह संसार सुख-दु:ख का आवर्तन है। परिवर्तनशील जगत में सुख एवं दु:ख का निरन्तर उपभोग होता रहता है, प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि माया एवं कर्म का जीव के साथ संयोग का उद्देश्य क्या है? माया तथा कर्म में कौन सा पहले और क्यों सम्बद्ध होता है? शैव सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि उद्देश्यपूर्ण है। अनादि काल से आणवाधृत आत्मा को अज्ञानता के अन्धकार से मुक्ति दिलाने के लिए ईश्वर माया एवं कर्म को संयुक्त करते हुए आत्मा को सृष्टि प्रपंच में विभिन्न अनुभवों के माध्यम से क्रमश: अपनी ओर आकर्षित करता है। यह ईश्वर का स्वभाव ही है कि यह चित् स्वभाव आत्मा के प्रति स्वत: कृपापूर्ण है। इसलिए माया एवं कर्म से मूल-मल के बन्धन को शिथिल बनाने के उद्देश्य से जीव को विश्व प्रपंच में आबद्ध करता है। शैव-सिद्धान्त में ईश्वर की उक्त प्रक्रिया की तुलना एक विशेष उदाहरण से दी गयी है। रजक जिस प्रकार से कपड़े के मैल को दूर करने के लिए अन्य मैल का उपयोग करता है एवं अन्तत: जल से सभी मैलों को धो डालता है उसी प्रकार से ईश्वर अज्ञानता रूपी मूल मल को दूर करने के लिए माया एवं कर्मरूपी अन्य दो पाशों का उपयोग करता है एवं अन्तत: अपनी कृपा शक्ति के द्वारा सभी पाश-बन्धन से मुक्त करते हुए आत्मा को अपने में नित्य आश्रय प्रदान करता है, अर्थात् सृष्टि वास्तव में ईश्वर की कृपा की अभिव्यक्ति है। माया एवं कर्म से संयुक्त होने के कारण आणवाधृत आत्मा अज्ञानतावशात् निरन्तर सकाम, आसक्त कर्म करती रहती है। जिससे यह सुख दु:ख के चक्र में आबद्ध होकर जन्म मृत्यु के चक्र में इस विश्व में आवागमन

१. देखिए पृष्ठ नं.

करती रहती है। परन्तु इस प्रक्रिया का भी अन्त होता है। शिव-शक्ति सर्वव्यापक, अन्तर्यामी सत्ता है। उसकी प्रेरणा से ही आत्मा में क्रमशः सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होतर नित्य-अनित्य का विवेक उत्पन्न होता है, एवं आत्मा अचेतन माया-कर्म की ओर से विमुख होकर ईश्वराभिमुख होती है। अन्ततः आसक्ति का पूर्ण अवसान होने पर परम कृपालु ईश्वर तीव्र-शक्ति निपात से अपने परमपद को प्रदान करता है, जो ईश्वरानन्द की नित्य, शाश्वत स्थिति है। अनादि काल से आणवाधृत होने के फलस्वरूप आत्मा अज्ञान से जड़वत् स्थिति में रहती है जिससे मुक्ति पाना उसके अपने प्रयास से सम्भव तो है ही नहीं एवं इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए ईश्वर आत्मा को माया एवं कर्म के द्वारा उत्पन्न सृष्टि प्रवाह में प्रवाहित करता है। इस प्रवाह के सुख दुःख के आवर्त्तन में आत्मा को विभिन्न अनुभव प्राप्त होते रहते हैं, जिससे क्रमशः अज्ञानता का बन्धन शिथिल होता रहता है, इसे मल परिपाक कहते हैं। मल की पूर्ण परिपक्व स्थिति में सुख एवं दुःख के प्रति उदासीन निस्पृह, समभाव उत्पन्न होता है, जिसे कर्म-साम्य कहते हैं। मल परिपाक एवं कर्मसाम्य के पूर्ण संयोगावस्था में ईश्वर की कृपा से आत्मा अन्तिम रूप से सदैव के लिए अज्ञानता के बन्धन से मुक्त होकर पूर्ण ज्ञान सत्ता स्वरूप ईश्वर को प्राप्त करती है। इसे ही शक्ति निपात कहते हैं। यही आत्मा के संसार यात्रा का अन्तिम लक्ष्य एवं श्रेय तथा प्रेय है। कृपा स्वरूप ईश्वर इस श्रेय एवं प्रेय को प्रदान करने के लिए ही ईश्वर माया एवं कर्म का उपयोग करते हुए उन्हें आत्मा के साथ इस प्रकार से सम्बद्ध करते हैं जैसे धान के साथ तुष एवं छड़ी का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। परन्तु निश्चित प्रक्रिया के सम्पादन से धान को तुष एवं छड़ी से अलग किया जाता है तभी अन्दर का शुद्ध चावल प्राप्त होता है, उसी प्रकार माया एवं कर्म से भिन्न आत्मा ही शुद्ध चैतन्य-ज्ञान सत्ता है। आणव मल के सख्त बन्धन से मुक्ति दिलाने के लिए ही ईश्वर तुष एवं छड़ी की तरह आत्मा को माया एवं कर्म से संयुक्त करता है, परन्तु यह संयोग नित्य नहीं है। वरन् सभी पाशों से मुक्ति प्राप्त करने की ही तैयारी है शैव-सिद्धान्त के अनुसार पाश-संयोग से सृष्टि प्रक्रिया में आत्मा का सुख-दुःख के आवर्त्तन में आबद्ध होना ईश्वर की कृपा की अभिव्यक्ति है। सन्त उमापति इस सन्दर्भ में माया एवं कर्म की महत्ता का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं।

पद नं. २६–तत्त्वों का उद्भव तथा तिरोभाव

भावानुवाद

अनन्त देव के द्वारा माया से कल, काल, नियति, विद्या एवं राग की उत्पत्ति होती है। रूद्र देव की कृपा से मूला प्रकृति तीन गुणों से युक्त होकर उत्पन्न होती है। चित्त एवं बुद्धि प्रकृति से जात होते हैं। अहंकार की उत्पत्ति बुद्धि से होती है। अहंकार तीन प्रकार

के हैं–तैजस, बैखारी, तामसिक। सात्विक अहंकार से पंच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। सात्विक अहंकार ज्ञान, राजस अहंकार क्रिया एवं तामस अहंकार भुतादि (देह) को उत्पन्न करने वाले हैं।

उक्त पद में शैव-सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित सृष्टि तत्त्वों की विवेचना की जा रही है। जैसा पूर्व पद में बताया गया है कि माया से दो प्रकार की सृष्टि होती है। (१) शुद्ध माया अथवा बिन्दु तत्त्व की सृष्टि (२) अशुद्ध माया अथवा अधोमाया से उत्पन्न इस अनुभाविक जगत प्रपंच की सृष्टि। माया तत्त्व के ये दो विभाजन तात्पर्य पूर्ण है, क्योंकि शुद्ध माया तत्त्व प्रकाशक एवं अशुद्ध माया तत्त्व आवरक है। यद्यपि उन आवश्यक तत्त्व में भी संचालक शक्ति के रूप में शिव-शक्ति ही विद्यमान रहती है और इसीलिए अन्ततः अशुद्ध से शुद्ध माया की ओर प्रवृत्ति होती है। माया तत्त्व की इन दो अभिव्यक्तियों में एक समानता अवश्य ही है कि ये दोनों ही अचेतन या जड़ है एवं अशुद्ध माया की भूमि को पार करते हुए शुद्ध या बिन्दु तत्त्व की ओर अग्रसर होने की प्रक्रिया को कला शुद्धि कहते हैं अर्थात् ये दोनों ही प्रगति के एक ही सोपान हैं, न कि दो भिन्न पृथक् तत्त्व, बिन्दु तत्त्व सुखात्मक एवं अशुद्ध भूमि दुःख एवं मोह उत्पन्न करने वाला है। परन्तु दोनों से ही आत्मा को जो अनुभव प्राप्त होते हैं, उसमें कोई विच्छेद नहीं है। सभी अनुभव क्रमशः मल-परिपाक में सहयोग उत्पन्न करते हैं। माया से उत्पन्न ये विभिन्न तत्त्व वास्तव में आत्मा की आध्यात्मिक प्रगति की विभिन्न भूमियों या स्तरों को उत्पन्न करते हैं। अतः माया तत्त्व जब कर्म एवं मूल मल से अवियुक्त रहता है तब उसे शुद्ध माया एवं कर्म तथा मूल-मल से युक्त होने पर उसे अशुद्ध माया कहा जाता है। वास्तव में माया के ये दो प्रकाशन एक दूसरे के विरुद्ध नहीं वरन् दो स्तरों को सूचित करते हैं। शुद्ध माया अर्थात् बिन्दु तत्त्व को प्रेरक खण्ड एवं अशुद्ध माया के विकास को प्रेय कहा जाता है। माया से उत्पन्न तत्त्व, आत्मा को भोक्तृत्व रूप बनाते हैं। इन सब तत्त्वों से युक्त होकर ही आत्मा भोक्तारूपी 'पुरुष' के रूप में प्रकृति तत्त्व का उपभोग करती है। माया के उपभोग से सामान्य एवं विशेष दोनों प्रकार की स्थितियाँ उत्पन्न होती है। बुद्धितत्त्व में उत्पन्न ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं संकल्पात्मक प्रवृत्तियाँ ही अनुभव की सामान्य स्थितियाँ है, एवं कला, विद्या, राग, नियति इत्यादि तत्त्वों से युक्त होकर कर्म के द्वारा उपभोगों को प्राप्त करना ही आत्मा के लिए विशेष-उपभोग की स्थिति है जो कि आत्मा के व्यवहारिक जीवन में कंचुक उत्पन्न करता है। पंचकंचुकों से संयुक्त होकर आत्मा प्रकृति तत्त्व से जात पंच क्लेश रूपी 'पुंस्त्वमल' को प्राप्त करती है। सृष्टि-चक्र में पंचकंचुक एवं पंचक्लेश से संयुक्त आत्म तत्त्व ही पुरुष तत्त्व कहलाता है। अशुद्ध माया से उत्पन्न तत्त्व निम्नलिखित है–(१) काल, माया से उत्पन्न वह तत्त्व है जो जीव को सांसारिक विषयों के अनुभव के लिए सामान्य आधार प्रदान करता है। कल, विद्या एवं राग से संयुक्त होते हुए ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं संकल्पात्मक प्रवृत्तियों से

उत्पन्न विभिन्न अनुभवों को आत्मा काल के सन्दर्भ में ही प्राप्त करती है। काल तत्त्व की उत्पत्ति कल, विद्या एवं राग तत्त्व से पहले ही होती है। परन्तु आत्मा अपरोक्ष रूप से कल इत्यादि से संयुक्त होकर ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं संकल्पात्मक क्रियाओं की काल एवं नियति के परोक्ष नियंत्रण में सांसारिक अनुभवों को प्राप्त करती है। काल के संदर्भ में जब आत्मा विभिन्न अनुभवों को प्राप्त करती है तभी क्रमशः उसमें विवेक-ज्ञान के प्रकाशतत्त्व का उद्भव होता रहता है। यद्यपि इन तत्त्वों की उत्पत्ति के पूर्वापर क्रम का निर्धारण करना कठिन है परन्तु सूक्ष्म विवेचन से स्पष्ट होता है कि काल ही विभिन्न प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करने का आधार है। अतः कल, नियति एवं राग से उत्पन्न सभी कार्यों के लिए काल का पूर्व अस्तित्त्व आवश्यक है। पुनः प्रश्न उत्पन्न होता है कि अशुद्ध माया तत्त्व से उत्पन्न काल तत्त्वों के लिए भी एक दूसरे कालरूपी आधार की आवश्यकता है। उक्त समस्या के समाधान के लिए कहा गया है कि शुद्ध माया तत्त्व से उत्पन्न शुद्ध-काल, अशुद्ध माया तत्त्व से उत्पन्न काल का कारण है जिसका अधीश्वर प्रभु अनन्त देव हैं जो सम्पूर्ण अशुद्ध माया तत्त्व का संचालन-कर्ता है। उक्त विवेचन में भी सूक्ष्म रूप से और एक प्रश्न काल के सन्दर्भ में उत्पन्न यह होता है कि शुद्ध माया तत्त्व से उत्पन्न शुद्ध तत्त्व की काल परिधि क्या है? इसके उत्तर में यह कहा गया है कि शुद्ध तत्त्व एवं सूक्ष्म सृष्टि प्रक्रिया ईश्वर द्वारा प्रतिपादित पंचकृत्य के अन्तर्गत है जो काल की परिधि एवं सन्दर्भ से परे है। प्रभु अनन्त देव इत्यादि संचालक अधिकर्ता काल की परिधि में ही कार्य करते हैं। परन्तु परमेश्वर सच्चिदानन्द तत्त्व वास्तव में कालों का काल है। इसलिए उसे 'कलयित्री' कहा जाता है। काल निश्चित रूप से ही एक साधन है, सर्वोच्च सत्ता का कार्य नहीं। नियति–अशुद्ध माया से उत्पन्न विभिन्न तत्त्वों को काल के अंतर्गत क्रमानुसार प्रतिष्ठित करना नियति का ही कार्य है। वास्तव में नियति का कार्य कल विद्या एवं राग तत्त्व के बाद ही शुरू होता है क्योंकि व्यक्ति के कार्य के अनुसार ही इन तत्त्वों की क्रमानुसारिता नियति के द्वारा प्रतिष्ठित की जाती है। इन तत्त्वों में काल तत्त्व का आविर्भाव क्रमानुसार प्रथम एवं पृथ्वी तत्त्व का विकास अन्तिम रूप में होता है। तत्त्वों का विकासक्रम इस प्रकार का माना गया है–काल, नियति, कल, विद्या एवं राग परन्तु कार्य के सन्दर्भ में यह क्रम इस प्रकार माना जाता है–कल, विद्या, राग, काल एवं नियति शिवप्रकाशम् ग्रन्थ में श्री उमापति ने अशुद्ध माया से तत्त्वों की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार का बताया है–कल, काल, नियति, विद्या एवं राग उन्होंने काल एवं नियति से पहले कल को प्रतिस्थापित किया। संस्कृत ग्रन्थ तत्त्वप्रकाशिका के अनुसार काल एवं नियति तत्त्व के ऊपर क्रियाशील होते हुए कल तत्त्व को विद्या एवं राग तत्त्व को सहायक कारण के रूप में मानते हुए उपादान कारण के रूप में विद्या एवं राग तत्त्वों को उत्पन्न करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि श्री उमापति शिवाचार्य ने शिवप्रकाशम् में उक्त क्रम को मानते हुए काल

एवं नियति से पहले कल एवं विद्या तथा राग तत्त्व के बाद में स्वीकार करते हैं। मृगेन्द्र आगम में भी इसी क्रम को माना गया है। कुछ भी हो अशुद्ध माया तत्त्व से ही ये सभी तत्त्व पूर्वापरक्रम में उत्पन्न होते हैं। शिवज्ञान सिद्धियार में भी शुद्ध माया अथवा बिन्दु तत्त्व को वाक्-जगत का आधार एवं अशुद्ध माया को राग इत्यादि तत्त्व एवं त्रिगुणात्मिका प्रकृति का आधार माना गया है। तात्त्विक दृष्टिकोण से काल के अस्तित्त्व के कारण ही विषयों की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश का विवेचन किया जा सकता है। काल के बिना किसी प्रकार की परिवर्तनशीलता का विवेचन करना भी सम्भव नहीं है। यद्यपि वस्तु का स्वभाव वस्तु से अभिन्न है, परन्तु फिर भी काल के कारण ही उसमें भूत वर्तमान एवं भविष्य के सम्बन्ध में परिवर्तनशीलता आरोपित की जाती है। कार्य यद्यपि कारण में सूक्ष्मरूप में विद्यमान रहता है, परन्तु उसका व्यक्त होना ही उसके कार्यरूप में उत्पन्न होना माना जाता है। इसी प्रकार काल के संदर्भ में ही तत्त्वों के विवेचन प्रस्तुत किये जाते हैं। सुखात्मक एवं दुखात्मक अनुभव के आधार पर व्यक्ति के कार्यों को तदनुकूल उपभोग की ओर प्रेरित करना नियति का कार्य है। जिस प्रकार से राजा प्रजाओं के ऊपर नियन्त्रण रखता है, उसी प्रकार से नियति भी जीवों को उनके कर्मानुसार उपयुक्त दिशा में परिचालित करती है। जैसे सन्तान द्वारा अनुष्ठित पारलौकिक कार्यों का फल एवं माता-पिता द्वारा अनुष्ठित सन्तान के जन्म संस्कार के फल को अलग-अलग प्रदान करने की अधिकारी नियति ही है। कृषक को उसके खेती करने का फल, ब्राह्मण को यज्ञ का फल इत्यादि विभिन्न कर्मों को सम्पादित करने से विभिन्न परिणामों को उचित रूप से प्रदान करने का कार्य नियति ही करती है। नियति तत्त्वों के द्वारा ही कर्म फलों का उचित वितरण होता है जिससे सृष्टि में न्याय विद्यमान रहता है। प्रत्येक को अपना कर्मफल ही प्राप्त होता है दूसरे का नहीं। नियति वह निमित्त कारण है जो जीवों को उसके कर्मानुसार उपयुक्त परिणामों को प्रदान करती है जिससे विश्व प्रपंच में नियमितता, शृंखला एवं न्याय विद्यमान रहते हैं अर्थात् ईश्वर नियति तत्त्व के द्वारा अपने कार्य को उपर्युक्त रूप से बनाये रखता है। कल तत्त्व में आंशिक प्रकाशकत्व विद्यमान है जिससे वह आत्मा के मूल मल को कुछ अंश में दूर करके आत्मा को ऐच्छिक संकल्पात्मक कार्य में प्रवृत्त करता है। कल तत्त्व के संयोग से पहले आत्मा मलावृत्त स्थिति में होकर जड़वत् स्थिति में रहती है। कल तत्त्व ही आंशिक रूप से मल की आवरक शक्ति को नष्ट करता है एवं आत्मा को आध्यात्मिक मार्ग में प्रेरित करने में सहयोग प्रदान करता है इसीलिए उसे कल कहा जाता है। कलतत्त्व आणव मल की आवरक शक्ति के लिए बाधा उत्पन्न करती है जिससे आणव मल सम्पूर्ण रूप से आत्मा को आवरित नहीं कर सकता एवं इस आंशिक प्रकाशकत्व से प्रेरित होकर आत्मा आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर होती रहती है। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि मनुष्य अपने कर्मानुसार ही परिणाम को प्राप्त करता है तब कल

की क्या आवश्यकता है? एवं कल आत्मा के लिए किस प्रकार से सहायक सिद्ध होता है इसके उत्तर में बताया गया है कि बौद्धिक प्राणी होने के नाते यह निश्चित है कि मनुष्य अपनी बुद्धि से प्रेरित होकर ही अच्छे या बुरे कर्मों का सम्पादन करता है एवं उसी से उसे तदनुकूल फल की प्राप्ति होती है। परन्तु आणवाधृत आत्मा कल के सहयोग के कारण ही बौद्धिक प्रकाशकत्व को प्राप्त करती है। कल ही मूल, मूल को आत्मा को सम्पूर्ण रूप से आवृत्त करने में रोकता है, जिससे आत्मा अपने चैतन्य के द्वारा बौद्धिक विवेकशीलता को उपयुक्त रूप से संचालन करने में समर्थ होती है। अत: आत्मा के सांसारिक जीवन में कल की भूमिका निश्चित रूप से महत्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में एक और प्रश्न यह उठाया गया है कि कल, जो कि एक जड़तत्त्व है, किस प्रकार से आत्मा की आध्यात्मिक प्रगति के सन्दर्भ में आणवमल को रोकने में क्रियाशील होता है? इस समस्या के समाधान के लिए बताया गया है कि कल इत्यादि अशुद्ध-माया-तत्त्व से उत्पन्न तत्त्व को शुद्ध माया तत्त्व से उत्पन्न पाँच तत्त्व (शिव, शक्ति, सादाख्य ईश्वर एवं शुद्ध विद्या) संचालित करते हैं। इन पाँच शुद्ध तत्त्वों के प्रति शिव-शक्ति का अपरोक्ष नियन्त्रण रहता है। अर्थात् कलादि तत्त्व भी परोक्ष रूप से शिव-शक्ति के द्वारा ही नियन्त्रित होते हैं और यही कारण है कि कलादि तत्त्वों की क्रिया आत्मा की आध्यात्मिक प्रगति में सहायक सिद्ध होती है। वास्तव में शुद्ध एवं अशुद्ध सभी तत्त्व चित् शक्ति द्वारा प्रेरित होने के फलस्वरूप ही आत्मा के लिए अनुकूल कार्यों को उत्पन्न करते हैं। ये तत्त्व चित्-शक्ति के साधन मात्र हैं, जिससे चित्-शक्ति आत्मा को आणवाधृत जड़वत् स्थिति से मुक्त करने के लिए प्रयुक्त करती है। ये सभी तत्त्व आत्मा से संयुक्त होकर चित् शक्ति के द्वारा संचालित होने के फलस्वरूप आत्मा के लिए सहायक सिद्ध होते हैं। चित् शक्ति ही सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान, कृपास्वरूप, प्रेरक तत्त्व है। विद्या, जैसा पहले बताया गया है कि कल तत्त्व के सहयोग से ही जीव संकल्पशक्ति युक्त कर्ता के रूप में क्रियाशील होता है। कल से उत्पन्न विद्या तत्त्व भी आत्मा से युक्त होकर उसे ज्ञानात्मक अनुभवों को प्राप्त करने में सहयोग प्रदान करता है। विद्या तत्त्व सामान्य रूप से बौद्धिक अनुभवों की ज्ञानात्मक पृष्ठभूमि उत्पन्न करता है। मन, बुद्धि एवं अहंकार के संयोग से चित् की जो निश्चित प्रक्रिया उत्पन्न होती है उसकी पृष्ठभूमि में विद्या तत्त्व की अवस्थिति रहती है। कल तत्त्व के संयोग से आत्मा यद्यपि आंशिक प्रकाशकत्व को प्राप्त करती है, परन्तु विद्या तत्त्व के सहयोग से मन, बुद्धि, अहंकार एवं चित् के द्वारा उस आंशिक, प्रकाशकत्व का उचित प्रयोग कर सकती है। कल तत्त्व आणव की आवश्यक शक्ति में बाधा उत्पन्न करता हुआ आत्मा को पूर्णरूप से जड़वत या आच्छादित होने से रोकता है एवं विद्या तत्त्व के सहयोग से आत्मा उस आंशिक प्रकाशकत्व के ऐच्छिक एवं ज्ञानात्मक उपयोग से आध्यात्मिक प्रगतिशीलता की ओर अग्रसर होती है। इन तत्त्वों की प्रक्रियाओं का वर्णन

कुछ इस प्रकार से किये गये हैं–कल तत्त्व आणव की आवरक शक्ति को रोककर आत्मचैतन्य को अन्तरीन्द्रिय एवं बुद्धि की ओर प्रेरित करता है, जिससे आत्मा ज्ञानात्मक अनुभवों को प्राप्त करती हैं। इस प्रक्रिया का प्रथमांश कलतत्त्व को एवं द्वितीयांश विद्या तत्त्व को आरोपित किया गया है। यही कारण है कि कल तत्त्व से विद्या तत्त्व की उत्पत्ति सूचित की गयी है। इसी तरह से एक ही तत्त्व की दो भूमिकाएँ सम्पन्न होती है। विद्यातत्त्व की बाह्य-अभिव्यक्ति के रूप में बुद्धि अन्त:करण एवं बाह्यकरणों से युक्त होकर विषयों को ग्रहण करती है। बाह्य-करण सामान्य रूप से एवं अन्त:करण निश्चित रूप से विषयों को ग्रहण करता है। विद्या तत्त्व ही वह आन्तरिक शक्ति है जो बुद्धि के द्वारा ज्ञानात्मक प्रक्रिया के माध्यम से करणों को संचालित करती है, विद्या तत्त्व आत्मा एवं बुद्धि के मध्य अवस्थित होकर विषयों का उपभोग करवाता है। यदि यह कहा जाय कि इस कार्य के लिए मन को ही पर्याप्त मानना चाहिए तो उक्त आपत्ति के निराकरण के लिए ये कहा जाना चाहिए कि उपभोग के लिए ज्ञानात्मक शक्ति से सम्पन्न किसी तत्त्व की ही आवश्यकता है। अन्त:करण का अंश होने के कारण मात्र मन इस कार्य के लिए सम्पूर्ण नहीं हो सकता। विद्या तत्त्व ही अन्त:करण के ज्ञानात्मक पक्ष की पृष्ठभूमि के रूप में समस्त बौद्धिक प्रक्रियाओं का संचालन करता है। अत: उपभोग की प्रक्रिया में उसकी भूमिका एवं आवश्यकता अनिवार्य है। वास्तव में विद्या तत्त्व ही अन्त:करणों एवं बाह्यकरणों का आधार एवं उनका संचालक है। विद्या तत्त्व के कारण ही अन्त:करण अर्थात् बुद्धि एवं अहंकार के कार्य निर्धारित होते हैं। अत: यह स्पष्ट है कि विद्या तत्त्व वह माध्यम है जिसके द्वारा विभिन्न प्रकार की चेतनाएँ विशेष तात्पर्य के साथ प्रतिबिम्बित होती है।

रागतत्त्व

जिस प्रकार से विद्यातत्त्व ज्ञानात्मक प्रक्रिया का आधार है उसी प्रकार से रागतत्त्व क्रियात्मक प्रक्रिया का आधार माना जाता है राग तत्त्व ही आसक्ति के रूप में व्यक्ति के कार्य-शक्ति को प्रेरित करता है। राग से क्रियात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। बुद्धि में विषयों के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने का कार्य राग तत्त्व ही करता है। चूँकि क्रियात्मक प्रवृत्ति का विकास ज्ञानात्मक प्रवृत्ति से ही होता है इसीलिए कई विद्वानों के अनुसार विद्या तत्त्व से ही राग तत्त्व की उत्पत्ति होती है।[१] यद्यपि उक्त विवेचन में मतभेद भी पाये जाते हैं। पौष्कर आगम के अनुसार कल से राग की उत्पत्ति होती है। श्री उमापति ने शिव प्रकाशम् ग्रन्थ में काल, कल, राग, विद्या इत्यादि तत्त्वो की उत्पत्ति सामान्य रूप से माया-तत्त्व से होती है, ऐसा स्वीकार करते हैं। वास्तव में राग से ही आसक्ति की उत्पत्ति होती है, जिससे बुद्धि में क्रियात्मकता की प्रेरणा उत्पन्न होती है। विद्या तत्त्व से ज्ञानात्मक प्रवृत्ति

१. शिवज्ञानसिद्धियार, सुपक्कम्

एवं राग तत्त्व से क्रियात्मक प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है, जिससे व्यक्ति सामान्य रूप से विश्व के विषयों से सम्बन्धित होता है। सांसारिक विषयों के समस्त अनुभव सुख, दुःख एवं विषादात्मक है अर्थात् प्रकृतिज तत्त्व, रज एवं सत्वगुणात्मक विशेषताओं से पूर्ण है। उपभोग में समता उत्पन्न होने से प्रकृति जात उपरोक्त विशेषताएँ क्रमशः शान्त होती रहती है एवं व्यक्ति अनासक्ति की ओर अग्रसर होता है। अर्थात् राग-तत्त्व की दो भूमिकाएँ है। विषयों के सम्यक ज्ञान को प्रदान करने के लिए उपभोग के माध्यम से ही अनासक्ति का विकास होता है, क्योंकि उपभोग की परिपूर्णता से क्रमशः 'राग' की निवृत्ति होती है। अनासक्ति की यह स्थिति अध्व के शुद्धिकरण को सूचित करती है। शिव-शक्ति की इच्छा व्यक्ति की इच्छा पर आरोपित होती है, जिससे व्यक्ति प्रकृति से उत्पन्न कल, विद्या, राग इत्यादि तत्त्वों के बन्धन से क्रमशः सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान चैतन्य स्वरूप शिव-शक्ति के आश्रय में आता रहता है एवं अन्ततः शिव-शक्ति के ऊपर ही सम्पूर्णतः समर्पित हो जाता है। राग-तत्त्व से क्रियात्मकता की उत्पत्ति होती है जिसके द्वारा व्यक्ति में क्रमशः मल-परिपाक होते रहते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि बौद्धिक प्रवृत्ति के अतिरिक्त राग-तत्त्व से ही मनुष्य में अनासक्ति की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है। राग-तत्त्व की प्रेरणा से ही बौद्धिक प्रक्रिया में निश्चयात्मिका प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है जिससे व्यक्ति में उपभोग्य विषयों की विशिष्टता का बोध उत्पन्न होता है। जैसे दूध से दही एवं दही से मक्खन की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार के अशुद्ध माया तत्त्व से क्रमशः अध्व की शुद्धता के कारण जीव में अनासक्ति की ओर प्रवृत्ति होती है। काल, नियति, कल, विद्या एवं राग-अशुद्ध माया से उत्पन्न ये तत्त्व मनुष्य के साथ वस्त्र की तरह सम्बद्ध रहते हैं जिसे मनुष्य आवश्यकता की पूर्ति के बाद त्याग देता है। इन तत्त्वों में राग, विद्या एवं कल से मनुष्यों में क्रमशः क्रियात्मक, ज्ञानात्मक एवं संकल्पात्मक प्रवृत्तियों के उद्भव होते हैं इन प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर बाह्य एवं अन्तकरण के माध्यम से बुद्धि के सहयोग से मनुष्य उपभोग के विषयों से सम्बन्धित होता है। जैसे-जैसे बुद्धि के परिवर्तन के फलस्वरूप प्रवृत्ति में परिवर्तन होता है, नियति एवं काल उसी के अनुकूल क्रियाशील होते हैं। आसक्ति की तीव्रता का ह्रास होने से उपभोग की तीव्रता एवं उसकी अवधि का भी क्रमशः ह्रास होता रहता है, यही नियति का कार्य है। अर्थात् माया से उत्पन्न ये तत्त्व पारस्परिक सहयोग से क्रियाशील होते हैं एवं जीव के लिए तदनुकूल परिणाम को उत्पन्न करते हैं।

पुरुष तत्त्व

जब आत्मा उपरोक्त पाँच तत्त्वों से सम्बद्ध होकर विषयों को सामान्य रूप से ग्रहण करती है, तब उसे पुरुष कहा जाता है। ये पाँच तत्त्व पंचकंचुक कहलाते हैं जो विभिन्न प्रकार के भ्रम एवं आसक्ति को उत्पन्न करते हैं, जो इस प्रकार है अविवेक, अभिमान,

राग, आसक्ति, विमुखता इत्यादि। अविवेक वह भ्रमात्मक मानसिक स्थिति है जिसमें आत्मा अनित्य को नित्य, अशुद्ध को शुद्ध, दुःख को सुख एवं अनात्माकों आत्मा के रूप में समझती है। अभिमान के कारण आत्मा बाह्य विषयों को अपने अस्तित्त्व के लिए अनिवार्य मानती है एवं विषयों के प्रति अत्यन्त आसक्ति या लगाव का अनुभव करती है। जो विषय इस आसक्ति में बाधक बनता है, आत्मा उसके प्रति प्रतिकूल प्रतिक्रिया प्रदर्शित करती है। उपरोक्त पाँच असक्ति को पुंस्त्व मल कहा जाता है। सन्त तिरूवल्लुवर ने सामान्य रूप से इन पाँचों को आसक्ति, क्रोध एवं अज्ञानता के रूप में विभाजित् किया यदि ये तीन बाधक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं तब आत्मा के लिए समस्त दुःखों के मूल का अन्त हो जाता है। ये आसक्तियाँ सकल आत्मा के लिए ही प्रयुक्त होती है। प्रलयाकल एवं विज्ञानाकल की स्थिति में ये आसक्तियाँ नहीं रहती अतः उन आत्माओं को पुरुष नहीं कहा जाता है। विषयों के अनुभव के लिए प्रथमतः कंचुक शरीर की सामान्य प्रवृत्ति एवं द्वितीयतः प्रकृति जात उपरोक्त आसक्तियों से उत्पन्न विशेष प्रकार के अनुभव की प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है। पुंस्त्व मल की उत्पत्ति प्रकृतितत्त्व से होती है। इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट रूप से समझना चाहिए कि उक्त पाँच आसक्तियों से सम्बद्ध आत्मा ही पुंस्त्व मल से भी सम्बद्ध रहती है। पुंस्त्व तत्त्व से आत्मा का सम्बन्ध इतना घनिष्ट रहता है कि कभी-कभी आत्मा को इस तत्त्व के परिणाम के रूप में बताया गया है परन्तु यह विवेचन दोषपूर्ण है, क्योंकि चैतन्य स्वरूप आत्मा कदापि प्रकृतिजात पुंस्त्व तत्त्व का परिणाम नहीं हो सकती। पुंस्त्व तत्त्व आत्म तत्त्व से पृथक् कल इत्यादि पंचतत्त्व से उत्पन्न होता है जो स्वयं अचेतन होते हुए आत्मा के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होता है एवं आत्मा को प्रकृति का अनुभव प्राप्त करने में सहयोग प्रदान करता है। पंच आसक्तियों से पुंस्त्व मल उत्पन्न होने के फलस्वरूप ही आत्मा प्रकृति के प्रति आकर्षित होती है एवं अपने को उससे सम्बन्धित समझ कर प्रकृति का उपभोग करती है। राग तत्त्व में ही पुंस्त्व मल का विकास होता है, अतः ये सभी तत्त्व, जो आत्मा से सम्बद्ध होने के फलस्वरूप आत्मा प्रकृति तत्त्व का उपभोग करती हैं, अचेतन हैं। भ्रमवश इन अचेतन तत्त्वों से आत्मा अपने को तादात्म्य रूप से सम्बन्धित मानती है परन्तु ये सभी पुंस्त्व है। शैव सिद्धान्त के अनुसार स्वीकृत छत्तीस तत्त्व में पृथ्वी तत्त्व से इकतीस तत्त्व को अचेतन एवं अन्तिम पाँच को चेतन माना गया है। वास्तव में आत्मा ही एकमात्र चेतन तत्त्व है, परन्तु अचेतन तत्त्व से आवृत्त होने के कारण अचेतनवत् प्रतीत होती है एवं मानी जाती है, जो सत्य नहीं है। पौष्कर आगम के अनुसार प्रकृति से उत्पन्न तत्त्व ही पुंस्त्व मल है। प्रकृति से ये तत्त्व देवता की प्रेरणा से ही उत्पन्न होते हैं। ज्ञान-दीक्षा के माध्यम से इस पुंस्त्व मल के आवरण को क्रमशः विदूरित किया जाता है। श्री कण्ठ रूद्र की प्रेरणा से विशेष रूप से यह शुद्धिकरण का कार्य क्रियान्वित होता है। कल इत्यादि तत्त्व के शुद्धिकरण से विषयों के

प्रति सामान्य आसक्ति क्रमशः कम होती रहती है, आसक्ति के विषयागत स्वरूप को क्रमशः सामान्य एवं विषयगत स्वरूप को विशेष कहा जाता है। शिवप्रकाशम् के अनुसार ज्ञान दीक्षा के माध्यम से ही कल इत्यादि से उत्पन्न पुंस्त्व मल का निराकरण होता है। अर्थात् बाह्य-विषयों के प्रति आसक्ति को उत्पन्न करना ही पुंस्त्व मल की विशिष्टता है, इसीलिए पुंस्त्व मल से आवृत्त आत्मा पुरुष कहलाता है।

मूला प्रकृति

श्री कण्ठ रूद्र के द्वारा प्रेरित होकर मूला प्रकृति अन्तःकरण एवं बाह्यकरण से स्थूल पृथ्वी तत्त्व तक विभिन्न तत्त्वों को उत्पन्न करती है। प्रकृति ही आसक्ति अर्थात् पुंस्त्व तत्त्व को भी उत्पन्न करती है। प्रकृति तत्त्व ही अनुभव के सभी साधनों का मूल स्रोत है। इसे प्रकृति माया, प्रधान एवं महान भी कहा जाता है। सत्व, रज एवं तम गुण के रूप में अनन्त वैचित्र प्रकृति तत्त्व में विद्यमान रहता है। इसी मूला प्रकृति को ही सांख्य दर्शन में गुणों की साम्यावस्था के रूप में बताया गया है। सम्पूर्ण विश्व प्रपंच के वैचित्र प्रकृति में अव्यक्त या सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते हैं। प्रकृति एवं सृष्टि एक ही तत्त्व की अव्यक्त एवं व्यक्तावस्था है, यद्यपि कहीं-कहीं कल तत्त्व से गुणों की उत्पत्ति का संकेत दिया गया है परन्तु इसमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है क्योंकि प्रकृति तत्त्व गुणों की समन्वयात्मक साम्यावस्था है। अन्तःकरण के अहंकार तत्त्व से सूक्ष्म तन्मात्र का विकास होता है जो तमोगुण प्रधान माना जाता है। पुनः इन पंचतन्मात्रों से भूतादि पाँच स्थूल तत्त्वों का विकास होता है। कल तत्त्वों से एवं अन्तःकरण के बीच प्रकृति तत्त्व का विवेचन अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा किया जाता है। जैसे सूक्ष्म एवं मध्यमा के अंतर्गत पशन्ति का अस्तित्त्व माना जाता है। सत्व, रज एवं तमोगुण क्रमशः सुखात्मक दुःखात्मक एवं उदासीनता के द्योतक हैं। प्रकृति तत्त्वों में ये गुण अव्यक्त स्थिति में रहते हैं, उनकी विशेषताएँ प्रकट नहीं होती। मूला प्रकृति तत्त्व कल तत्त्व से उत्पन्न संकल्पात्मक प्रवृत्ति से ही ज्ञात होती है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रकृति तत्त्व कल तत्त्व में अन्तर्भूत है जो वास्तव में माया से उत्पन्न होता है। कल विभिन्नताओं को उत्पन्न करने वाला सूक्ष्म, अप्रकाशित, प्रेरक तत्त्व है। जबकि मूला प्रकृति अपने में तीन गुण अव्यक्त रूप में धारण करती है अतः प्रकृति तत्त्व कल तत्त्व से तुलनामूलक रूप से व्यक्त या प्रकाशित तत्त्व है। मूला प्रकृति से उत्पन्न वैचित्र गुणों में सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहता है। प्रकृति तत्त्व में तीन गुणों का समन्वय दूध के साथ पानी के मिश्रण की तरह है जैसे हंस इन दोनों को अलग कर लेता है उसी प्रकार से श्रीकण्ठ रूद्र इन गुणों को भिन्न रूप में प्रकाशित करता है परन्तु मूला प्रकृति में ये गुण साम्य अवस्था में रहते हैं। यद्यपि ये अलग-अलग विशिष्टता से सम्पन्न है परन्तु इनकी प्रवृत्ति समन्वयात्मक रूप में ही होती है इसीलिए ये गुण तत्त्व कहलाते हैं। इन

गुणों की प्रवृत्ति में समन्वय होने के उपरान्त किसी एक की प्रधानता होती है। जिससे सृष्टि तत्त्व में विभिन्नताओं की उत्पत्ति होती है। सत्व, रज एवं तम से क्रमशः शान्त, उद्दीपक एवं उदासीनता या अज्ञानतामूलक निष्क्रियता की उत्पत्ति होती है। सत्व गुण से प्रकाशकत्व, हल्कापन एवं आनन्द की उत्पत्ति होती है। रजगुण उद्दीपक, उत्तेजक, क्रियाशीलता का आधार एवं दुःख को उत्पन्न करने वाला है। तम गुण में आवरकत्व, उदासीनता, अज्ञानतामूलक भ्रम इत्यादि उत्पन्न होते हैं। गुणों की अभिव्यक्ति प्रकृति तत्त्व का ही विकास है क्योंकि गुण और प्रकृति तादात्म्य है। प्रकृति तत्त्व, अव्यक्त, अप्रकाशित, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अप्रत्यक्षीभूत तत्त्व है जिससे गुणों के प्रकाशन के माध्यम से विभिन्न विषयों का विकास होता है। प्रकृति की विकसित स्थिति को ही सृष्टि, व्यक्तावस्था बताया जाता है। मूला प्रकृति स्वयं में गुणों की अव्यक्त साम्यावस्था है। व्यक्तावस्था में विभिन्नताएँ गुण वैषम्य के कारण उत्पन्न होती है अतः यह स्पष्ट है कि प्रकृति एवं सृष्टि एक ही तत्त्व की दो अवस्थाएँ हैं।

महत्

महत् प्रकृति से उत्पन्न सत्वगुण प्रधान प्रथम तत्त्व है। महत तत्त्व से ही बुद्धि की उत्पत्ति होती है, जो कल से उत्पन्न पुंस्त्वतत्त्व से युक्त पुरुष को ज्ञानरूपी साधना को प्रदान करता है। जिसमें आत्मा प्रकृति से विकसित तत्त्वों की विभिन्नता के ज्ञान को प्राप्त करती है। जैसा कि पहले बताया गया है कि विद्या तत्त्व सामान्य रूप से आत्मा को ज्ञानात्मक साधन प्रदान करता है। बुद्धि उस ज्ञानात्मक प्रकृति को ही बाह्य स्थूल विषयों के सन्दर्भ में विशेष रूप से प्रकाशित करती है। बुद्धि तत्त्व के द्वारा आत्मा को निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त होता है। अतः बुद्धि तत्त्व ही विषयों के गुण और अवगुण के विचार से आत्मा को निश्चित दिशा की ओर प्रवृत्त करती है। इस सन्दर्भ में यह बताया जाना चाहिए कि गुणात्मक भेद से बुद्धि के आठ भेद माने जाते हैं–

(१) धर्म (२) अधर्म (३) ज्ञान (४) अज्ञानता (५) वैराग्य (६) अवैराग्य (७) ऐश्वर्य (८) अनैश्वर्य। उपरोक्त विभिन्नताएँ गुण वैषम्य के कारण ही उत्पन्न होती है। जब बुद्धि में सत्वगुण का प्राधान्य होता है तब धर्म ज्ञान, वैराग्य ऐश्वर्य रूपी उत्कर्ष की अभिव्यक्ति होती है। इसके विपरीत बुद्धि जब आवरकत्व पूर्ण अज्ञानता एवं मोहाच्छन्न तमोगुण से अधिक प्रभावित होती है तब अपकर्ष मूलक अधर्म, अज्ञानता, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य रूपी प्रवृत्ति का विकास होता है। धर्म-गुण वैषम्य से बुद्धि के पचास भेद उत्पन्न होते हैं। बुद्धि ही मुख्यतः समस्त कार्य की प्रवृत्ति, अप्रवृत्ति निश्चयात्मिका एवं प्रेरणा है। आत्मा जब अन्तःकरण एवं बुद्धि से युक्त होकर कार्य करती है, तब उस बुद्धि को संकल्पात्मक एवं निश्चयात्मिका कहते हैं। निश्चयात्मिका बुद्धि के साथ अहं तत्त्व का विशेष संयोग रहता है, जिससे आत्मा में यह 'एक मात्र है' 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार के

निश्चयात्मक प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। निश्चयात्मक बुद्धि के साथ अन्तःकरण का संयोग होने के फलस्वरूप मन तत्त्व की भी महत्वपूर्ण सक्रिय भूमिका रहती है जिसे संकल्प कहा जाता है क्योंकि मन संकल्प करने वाली अन्तरीन्द्रिय है। बुद्धि एवं मन में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रायः एक को दूसरे के साथ तादात्म्य रूप से समझा जाता है संकल्पात्मक प्रवृत्ति मन एवं बुद्धि के युग्म कार्य से ही उत्पन्न होती है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार उपरोक्त प्रवृत्तियों में आत्मा का संयोग कदापि मान्य नहीं हो सकता क्योंकि प्रवृत्तियाँ परिवर्तनशील है, जबकि आत्मा नित्य अपरिवर्तनीय है। अतः बुद्धि तत्त्व ही वह आधार है जिसमें विभिन्न कार्य के सन्दर्भ में निश्चयात्मिका एवं अनिश्चयात्मिका की अनुभूति होती है। सत्वगुणात्मक बुद्धि सद्‌गुणों का आधार है जबकि तमोगुणात्मक बुद्धि से उदासीनता, अज्ञानता, भ्रम एवं आसक्ति की उत्पत्ति होती है। रजगुण आसक्ति, प्रवृत्ति एवं गतिशीलता का आधार है।

धर्म

धर्म सभी प्रकार के सद्‌गुणों के आधार है। सत्य, सन्तोष, अहिंसा, अपरिग्रह इत्यादि आन्तरिक गुण एवं महानता धर्मबुद्धि से विकसित होती है।

अधर्म

उपरोक्त विशेषताओं की विपरीत स्थिति ही अधर्म कहलाती है। अधर्म को ग्रहण करने वाले व्यक्ति उपासना या आराधना के मार्ग को त्याग देते हैं एवं व्यवहारिक उपभोग से सम्बन्धित विषयों को अनैतिक तरीके से प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। दस प्रकार के धर्म के विपरीत दस अधर्म बताये गये हैं। हत्या, मिथ्याचरण, अपरिग्रह, द्वेष, क्रोध, अपवित्रता, प्रतिशोध, पक्षपातित्त्व इत्यादि विभिन्न दुर्गुणों की उत्पत्ति अधर्म से होती है।

ज्ञान

ज्ञान को आठ भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम पृथकत्व का बोध, तत्पश्चात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों के परिणाम से उत्पन्न ज्ञान मनुष्य के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं। क्योंकि दुःखों के उपभोग के कारण मनुष्य की बुद्धि निश्चयात्मिका सत्य ज्ञान की ओर प्रेरित होती है। सुहृद अर्थात् हितैषी मित्र से प्राप्त ज्ञान भी मनुष्य के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। स्वाध्याय ज्ञान के विकास के परिपक्व होने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है। विभिन्न प्रकार के सद्‌गुणों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। आठ प्रकार के ज्ञान एवं स्वतन्त्रता से आठ सिद्धियों की उत्पत्ति होती है।

अज्ञानता

तम, मोह, महामोह, तामिश्र एवं अन्धतामिश्र अज्ञानता के ये पाँच मुख्य विभाग बताये गये है। अनात्मा का आत्मा के रूप में भ्रम ही 'तम' कहलाता है। यौगिक उपलब्धि

को ही लक्ष्य मानना 'मोह' है। अष्ट सिद्धियों के अनुसार मोह भी आठ प्रकार के माने जाते हैं। उपभोग्य बाह्यइन्द्रिय संवेदन विषयों को सर्वोच्चमूल्य के रूप में समझना 'महामोह' है। इच्छित विषयों की प्राप्ति न होने पर अनुकूल दु:ख 'तामिश्र' कहलाता है। दस इन्द्रियों के उपभोग्य विषय एवं अष्ट सिद्धि के अभाव के परिणाम स्वरूप तामिश्र की उत्पत्ति होती है। अट्ठारह प्रकार के 'अन्धतामिश्र' माने गये हैं। उनकी उत्पत्ति यौगिक उपलब्धि के नष्ट होने के फलस्वरूप दु:ख से होती है।

वैराग्य

तीन प्रकार के दु:खों के उपभोग के परिणाम स्वरूप अनासक्ति की उत्पत्ति होती है। परिवर्तनशील संसार में कोई भी इच्छित विषय नित्य या स्थायी नहीं होता जिससे मनुष्य बाह्य विषयों की अनित्यता का अनुभव करते हुए क्रमश: उनके प्रति उदासीन अनासक्त होता जाता है। यह अनासक्ति केवल बाह्य विषयों के प्रति नहीं आती बल्कि पंच भौतिक देह के प्रति भी आती है, क्योंकि जीवों के देह भी अन्यान्य परिवर्तनशील सांसारिक विषयों की तरह परिवर्तनशील एवं नाशवान हैं अत: मनुष्य देह के स्वरूप ज्ञान को प्राप्त करते हुए उसके प्रति अनासक्त हो जाता है। अनासक्तियाँ वैराग्य चित्त की यह स्थिति है जिसमें मनुष्य अपने चित्त को सांसारिक विषयों से हटाकर पारमार्थिक तत्त्व अथवा ईश्वर पर केन्द्रित करता है।

अवैराग्य

अवैराग्य, आसक्ति चित् की वह स्थिति है जिसमें उपरोक्त विशेषताओं के विपरीत दशा उत्पन्न होती है एवं चित्त इन्द्रियगत विषयों में आसक्त होकर भ्रमित होता रहता है। अवैराग्य अथवा आसक्ति अज्ञानता से होती है। आसक्ति से उत्पन्न आसक्ति, एक सौ छिहत्तर प्रकार की मानी गयी है जिससे चौसठ प्रकार की अज्ञानता सौ प्रकार की आसक्ति एवं पाँच प्रकार के इन्द्रिय जनित कार्य जिसमें अन्त:करण एवं बाह्यकरण इन दोनों प्रकार के करणों की क्रियायें सम्मिलित रहती हैं, अर्थात् आसक्ति के कारण ही जीवों का चित्त बाह्य सांसारिक विषयों में भ्रमित होता रहता है।

ऐश्वर्य

ऐश्वर्य आठ प्रकार के माने गये हैं–अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, यत्र-कामा-वसा-युक्त-चित्त अर्थात् गरिमा, योग दर्शन में इन आठ ऐश्वर्य को सिद्धियाँ बताया गया है। योगी साधना के माध्यम से अणु अथवा सूक्ष्म रूप बन जाता है, उसे अणिमा कहते हैं। पुन: आवश्यकता पड़ने पर वह अपने को विशालाकार भी बना लेता है, जो महिमा सिद्धि कहलाती है। देह को रूई अथवा हवा की तरह हल्का

बना लेना लघिमा है, जिसमें मनुष्य अत्यन्त द्रुतगति से जल इत्यादि की गति की विपरीत दिशा में जा सकता है। प्राप्ति वह सिद्धि है जिसमें योगी अपने सभी इच्छित विषयों को प्राप्त करता है। पंचम सिद्धि प्राकाम्य है, जिसमें योगी कई विषयों का एक साथ युगपद अनुभव करता है। ईशित्व शक्ति का नियंत्रक शक्ति है जिसके द्वारा योगी प्रायः सभी सांसारिक विषयों के ऊपर अपना नियंत्रण रख सकता है। वशित्व शक्ति भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जिसमें योगी किसी भी विषय को आकर्षित करते हुए अपनी इच्छानुसार विषयों का निर्माण कर सकता है। अष्टम सिद्धि गरिमा अथवा यत्रकामावसायित्व को प्राप्त करने से सांसारिक सभी विषयों के उपभोग के उपरान्त योगी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र रहता है। उपरोक्त सिद्धियाँ विशेष ऐश्वर्य है, जिन्हे योगी साधना के क्रम में प्राप्त करता है। इन आठ ऐश्वर्य में प्रथम तीन शारीरिक एवं अन्तिम पाँच मानसिक ऐश्वर्य से सम्बन्धित है। सद्‌गुण से ज्ञान, ज्ञान से अनासक्ति एवं अनासक्ति से क्रमशः ऐश्वर्य का विकास होता है।

अनैश्वर्य

साधन क्रम में विशेष शक्ति की प्राप्ति होने के कारण व्यक्ति में यदि सांसारिक विषय अथवा शक्ति के प्रति मोह उत्पन्न हो जाता है तब ऐश्वर्य क्रमशः अनैश्वर्य में रूपान्तरित हो जाता है। मोह वह विध्वंसक तत्त्व है जो सद्‌गुणों को दुर्गुण में परिवर्तित करके पाप को उत्पन्न करता है। हत्या, असत्य, अपरिग्रह, राग, द्वेष, क्रोध, अपवित्रता, प्रतिहिंसा, पक्षपातित्त्व इत्यादि दुर्गुणों के कारण व्यक्ति में अनैश्वर्य रूपी संकीर्णता या दोष की उत्पत्ति होती है। जिससे व्यक्ति का आध्यात्मिक अपकर्ष होता है।

अहंकार तत्त्व

महत् तत्त्व से अहंकार तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत् जब रजो गुण प्रधान होता है तभी अहंकार की उत्पत्ति होती है अर्थात् सामान्य रूप से अहंकार तत्त्व रजोगुणात्मक है परन्तु प्रकाशन के दृष्टिकोण से वह भूतादि बैखरी एवं तैजस–ये तीन प्रकार के पाये जाते हैं। भूतादि अहंकार से प्रकाशक मन एवं ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। बैखरी अहंकार से कर्मेन्द्रियाँ तथा तेजस अहंकार से तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। विशेष्य एवं विशेषणों में अंतर करना मन का कार्य है, जिसकी उत्पत्ति भूतादि अहंकार से होती है। मन, बुद्धि एवं अहंकार–इन तीनों को संयुक्त रूप से अन्तःकरण कहा जाता है जो पुरुष के भावात्मक, ज्ञानात्मक एवं संकल्पात्मक कार्यों के कारण बनता है। बाह्य विषयों का ज्ञान एवं आत्मसत्ता को पृष्ठभूमि में रखते हुए उनके प्रति प्रतिक्रियायें अहंकार तत्त्व से ही उत्पन्न होती है। शैव सिद्धान्त प्राप्यकारी वाद का प्रवर्तन करता है जिसके अनुसार इन्द्रियाँ विषयों में व्याप्त होकर उससे सम्बन्धित होती है एवं तत्पश्चात् विषय ज्ञान का माध्यम बनती है। इन्द्रियगत एवं बौद्धिक जगत में संस्पर्श ही विषयों के अनुभव के कारण

है। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानशक्ति की अभिव्यक्ति है अर्थात् अहंकार के सात्विक पक्ष से इनकी उत्पत्ति होती है, इसीलिए इनमें प्रकाशकत्व विद्यमान रहता है। कर्मेन्द्रियों का विकास अहंकार के रजोगुणात्मक पक्ष से होता है इसीलिए कर्मेन्द्रियों के द्वारा क्रिया-शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। तमो गुणात्मक अहंकार से सूक्ष्म तत्त्व तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है जिनमें अवरोधकत्व विद्यमान रहता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध–ये पाँच अविशेष सूक्ष्म तत्त्व कहलाते हैं। इन पाँच सूक्ष्म तत्त्वों से पाँच स्थूल विशेष महाभूत तत्त्वों की उत्पत्ति होती है जो ये है–क्षिति, अप, तेज, मरूत एवं व्योम। प्रकृति से उत्पन्न ये पाँच तत्त्व स्थूलतम, अन्तिम विकास है। सभी बाह्य स्थूल एवं मनोवैज्ञानिक तत्त्व प्रकृतितत्त्व से ही उत्पन्न होते हैं। प्रकृति की प्रथम सृष्टि महत् तथा महत् से उत्पन्न अहंकार तत्त्व से ही अन्य सभी तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। चूँकि सत्व गुण–प्रधान अहंकार से मन एवं ज्ञानेन्द्रियों का विकास होता है, इसीलिए इनके द्वारा प्रकाशकत्व की अभिव्यक्ति होती है। रजोगुणात्मक अहंकार चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक् इन पंच कर्मेन्द्रियों का कारण हैं इसीलिए कर्मेन्द्रियाँ क्रियाशीलता, उद्दीपना एवं उत्तेजना का द्योतक हैं। अहंकार जब तमोगुण प्रधान होता है तब तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है और यही कारण है कि भ्रम, मोह अज्ञानता जन्य अवरोधकत्व की उत्पत्ति होती है। अहंकार ही प्रकृति से उत्पन्न वह तत्त्व है जिससे सोलह तत्त्व मन, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ एवं पंच तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। पुनः पंचतन्मात्रों से पंचमहाभूत विकसित होते हैं। महाभूत तन्मात्रों के ही स्थूल-रूप हैं यही माया तत्त्व की अभिव्यक्ति मायेय है।

पद नं. २७

भावानुवाद

कर्मेन्द्रियाँ एवं वाक् इत्यादि बैखरी अहंकार से उत्पन्न होती है, जो रजगुणात्मक हैं। शब्द इत्यादि तन्मात्र से आकाशादि उत्पन्न होते हैं। स्पर्श से वायु की उत्पत्ति होती है, रूप से तेज आविर्भूत होता है। रस से जल की उत्पत्ति होती है एवं गंध से पृथ्वी की उत्पत्ति होती हैं–ये तामस अहंकार से उत्पन्न होते हैं। एक से ही क्रमशः अन्यान्य की उत्पत्ति होती हैं–ये तामस अहंकार से उत्पन्न होते हैं। एक से ही क्रमशः अन्यान्य की उत्पत्ति होती हैं सदाशिव से ब्रह्मा तक पाँच अधिपति हैं जो अन्त में उसी एक में विलीन हो जाते हैं– प्राज्ञ व्यक्तियों का ऐसा ही कहना है। अहंकार तत्त्व का विकास महत् तत्त्व से होता है। प्रकृति से उत्पन्न सभी तत्त्व त्रिगुणात्मक है, अहंकार तत्त्व भी त्रिगुणात्मक होते हुए गुण वैषम्य के कारण विभिन्न प्रकार के तत्त्वों को उत्पन्न करता है। अहंकार जब सत्वगुण–प्रधान होता है, तब उससे मन एवं ज्ञानेन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है, चूँकि सत्व गुण

प्रकाशक अर्थात् ज्ञानोद्दीपक है, इसीलिए मन एवं ज्ञानेन्द्रियों में प्रकाशकत्व पाया जाता है। अहंकार में जब रजोगुण की प्रधानता होती है तब वाक् एवं अन्यान्य कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। रजोगुण उद्दीपक, उत्तेजक, प्रेरक एवं समस्त प्रकार की गतिशीलता तथा क्रियाशीलता का आधार है। यही कारण है कि कर्मेन्द्रियाँ गतिशीलता का प्रवर्तक हैं।

रजोगुणात्मक अहंकार को बेखरी कहते हैं। अहंकार जब तमोगुण प्रधान होता है तब उससे पंचतन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। ये इस प्रकार हैं–शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध। ये तत्त्व सूक्ष्म अथवा अविशेष कहे जाते हैं; क्योंकि ये पंचमहाभूत के सूक्ष्म रूप हैं। इन पाँच सूक्ष्म तत्त्वों से पाँच स्थूल तत्त्वों की उत्पत्ति क्रमशः इस प्रकार से होती है– शब्द से आकाश, स्पर्श से वायु, रूप से तेज अथवा अग्नि, रस से जल, गन्ध से क्षिति अथवा पृथ्वी तत्त्व का विकास होता है। जैसा पूर्व पद में बताया गया है कि ये पंच महाभूत तत्त्व ही अशुद्ध माया से उत्पन्न स्थूलतम तत्त्व हैं, जिनके संमिश्रण से विश्व के विभिन्न स्थूल विषयों की उत्पत्ति होती है। अर्थात् अहंकार वह तत्त्व है जो स्वयं महत् से उत्पन्न होता हुआ गुण वैषम्य के आधार पर सोलह तत्त्व को उत्पन्न करता है। अर्थात् अहंकार मन, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों एवं पंचतन्मात्रों का कारण है। सदाशिव तत्त्व का उद्बोधन शिव तत्त्व से ही होता है जिसे उद्योक्त, भोग, सकल-निष्कल तत्त्व (जो शक्ति रूप है, माया रूप नहीं) कहलाता है। सदा-शिव वह शिव तत्त्व है जो प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के मध्य अवस्थित रहता है। शिव तत्त्व की दूसरी स्थिति महेश या महेश्वर है जिसे सूक्ष्म, अधिकार, सूक्ष्म प्रवृत्ति एवं सूक्ष्म-सकल भी कहा जाता है। शिव तत्त्व का तीसरा स्वरूप शुद्ध विद्या है जो समस्त प्रकार के विद्याओं का मूल स्रोत है। इसे स्थूल ईश्वर, स्थूल अधिकार, स्थूल प्रवृत्ति एवं स्थूल सकल नाम से भी जाना जाता है। महेश्वर एवं शुद्ध विद्या में अधिकारत्व का सूक्ष्म भेद है। सृष्टि प्रक्रिया के तीसरे अधिपति को रूद्र कहा जाता है, जो अग्नि के अधीश्वर के रूप में उसका नियन्त्रण करता है। चतुर्थ अधिपति विष्णु है जो जल तत्त्व का नियन्त्रक है, पंचम अधिपति ब्रह्मा है जो पृथ्वी तत्त्व का नियंत्रक है। संहार की प्रक्रिया में ये तत्त्व इसी क्रम में क्रमशः विलीन होते रहते हैं। प्रत्येक स्थूल तत्त्व में दूसरे तत्त्वों का अंश विद्यमान रहता है। पञ्चीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से ये विकसित होते हैं। प्रलयावस्था में ये सभी तब विभ्रान्ति की स्थिति में रहते हैं। ये पाँचों तत्त्व प्रलयावस्था में उसी परमतत्त्व में विलीन हो जाते हैं अर्थात् उपर्युक्त शिव-तत्त्व सृष्टि की अभिव्यक्ति है। सच्चिदानन्द स्वरूप परम शिव की तादात्म्य चित् शक्ति ही इन तत्त्वों की सृष्टि के विभिन्न प्रयोजन एवं व्यवस्था को बनाये रखने के लिए प्रकाशित करती है। ये तत्त्व शिव शक्ति के ही प्रकाशन है। शिव-शक्ति के अतिरिक्त इनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता मानी नहीं जा सकती। उक्त पद के अन्तिम पंक्ति में श्री उमापति ने यही सूचित किया है कि तत्त्वज्ञ व्यक्ति के कथनानुसार मूल तत्त्व अद्वैत है। जीव की मुक्ति के प्रयोजन से शिव-

शक्ति के द्वारा विभिन्न स्तर की सृष्टि होती है। ये सृष्टियाँ ईश्वर की कृपा के कारण जीव की मुक्ति के लिए स्वतः ही होती है, अर्थात् कृपा ही ईश्वर का स्वरूप है, जिसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति से जीव निरन्तर आप्लावित होता रहता है। अन्ततः सबके विश्राम के लिए शिव-शक्ति द्वारा सारे तत्त्व समेट लिए जाते हैं और वे उसी अनन्त परम चैतन्य में पुनः सृष्टि के पूर्व तक विश्रान्त रहते हैं। इस प्रकार श्री उमापति ने उक्त पद के माध्यम से शैव-सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वाद की पुष्टि की।

पद नं. २८—कर्म

भावानुवाद

अतीत (भूतकाल) के कर्मों के अनुसार आत्माएँ विभिन्न अवयवों को धारण करती हैं। वे अपनी इन्द्रियों के माध्यम से उपभोग्यों का उपभोग करती है। अतः जन्म एवं मृत्यु ग्रहण करती रहती है इसीलिए विभिन्नताओं से युक्त होते हुए वे अनादि हैं। पाप एवं पुण्य के आधार पर जब आत्माएँ नवीन आकार धारण करती हैं तब विभिन्न अन्न, विचार, मन, वाक् एवं देह से अभ्यस्त होती हैं। एवं अपनी बुद्धि के अनुसार पाप तथा पुण्य कर्म करती है। संहार के समय सभी एक हो जाते हैं एवं माया में विद्यमान रहते हैं—कर्म मल के विषय में ऐसा ही कहा गया है।

उक्त पद में सन्त उमापति ने भारतीय दर्शन के सामान्य कर्मवाद सिद्धान्त का समर्थन किया है। भारतीय चिन्तन परम्परा के अनुसार मनुष्य अपने कर्मफल का उपभोग करता है। कर्मफल के अनुसार ही उसको गति एवं सांसारिक तथा आध्यात्मिक स्थिति की प्राप्ति होती है। कर्म फल की सम्पूर्ण व्याख्या के लिए भारतीय चिन्तन परम्परा में कर्म को तीन भागों में विभाजित किया गया है–

(१) संचित कर्म

संचित कर्म वे कर्म हैं जिन्हें मनुष्यों ने भूतकाल में किया एवं उसके फल भी अभी प्राप्त नहीं हुए भविष्य में प्राप्त होने वाले हैं, अर्थात् जिन कर्मों के परिणाम भविष्य में उत्पन्न होने वाले हैं एवं मनुष्य को उन परिणामों का उपभोग करना है वे ही संचित कर्म कहलाते हैं।

(२) प्रारब्ध कर्म

ये ऐसे कर्म है जो भूतकाल में किये गये हों परन्तु उनके परिणाम फलीभूत होना शुरू हो गये हों। वर्तमान की परिस्थितियाँ एवं तदनुसार विषयों का उपभोग प्रारब्ध कर्म का ही परिणाम है, यही कारण है कि महापुरुष भी प्रारब्ध कर्म के परिणाम को शान्तचित्त

से ग्रहण करता रहता है क्योंकि जब तक प्रारब्ध कर्म पूर्ण रूप से फलीभूत नहीं हो जाता तब तक वह नि:शेष भी नहीं होता है। सूक्ष्म रूप से प्रारब्ध कर्म यदि रह जाय तो आत्म का कर्म-बन्धन रहता है, उसकी पूर्ण मुक्ति नहीं हो सकती अत: प्रारब्ध कर्मों का उपभोग मोक्षार्थी के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(३) संचियमान अथवा क्रियमाण कर्म

कर्म से जिस परिणाम की उत्पत्ति होती है, उस परिणाम का उपभोग करने के संदर्भ में पुन: दूसरे कर्म की उत्पत्ति होती है, अर्थात् कर्म ही कर्म को उत्पन्न करता है। क्रियमान कर्म वह तात्कालिक वर्तमान कर्म है, जिसका परिणाम भविष्य में प्राप्त होने वाला है। प्राज्ञ व्यक्तियों ने इस कर्म की महत्ता के ऊपर पर्याप्त प्रकाश डाला है। यद्यपि ये सभी कर्म पारस्परिक अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है क्योंकि संचित एवं प्रारब्ध कर्म के अनुसार ही आत्मा की गति एवं स्थिति होती है। अर्थात् ये कर्म ही वे संस्कार उत्पन्न करते हैं जिनकी प्रेरणा से आत्मा तदनुरूप स्थिति को प्राप्त करती है। पुन: पूर्व कर्मों के संस्कार के अनुसार ही आत्मा की कर्म में प्रवृत्ति होती है। संस्कार एवं कर्म ये एक दूसरे पर आश्रित हैं। अतीत में किये गये कर्म संस्कार के रूप में वर्तमान में किये गये कर्म के प्रेरक तत्त्व के रूप में उत्तेजक का कार्य करते हैं एवं वर्तमान में किये गये कर्म भविष्य के कर्म के संस्कार के रूप में परिणाम को उत्पन्न करता हैं। इसी प्रकार ये परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। इस संदर्भ में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस प्रकार की अनिवार्यता के बंधन में रहकर आत्मा कैसे आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हो सकती है। शैव सिद्धान्त उक्त समस्या का समाधान अत्यन्त संगति पूर्ण ढंग से करता है। अनादि काल से आत्मा आणवाधृत रहने के कारण जड़वत् स्थिति मे रहती है। ईश्वर की कृपा से उसकी मुक्ति के लिए ही सृष्टि होती है। सृष्टि में आत्मा को ईश्वर द्वारा माया एवं कर्म की प्राप्ति होती है, जो मूलत: पाश होने पर भी आंशिक रूप से आत्मा के लिए प्रकाशकत्व को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकाशकत्व के कारण सृष्टि प्रक्रिया में आत्मा को कर्म करने की स्वतन्त्रता की प्राप्ति होती है। वास्तव में यह स्वतन्त्रता सृष्टि के माध्यम से ईश्वर द्वारा ही प्रदत्त होती है, जिसका उपयोग कर आत्मा ईश्वर की कृपा से अपनी आध्यात्मिक प्रगति को प्राप्त करती है।

पद नं. २९–तीन प्रकार के कर्म

भावानुवाद

कर्म की तीन पद्धतियाँ है–शुभ, अशुभ एवं उपभोग। जिनके द्वारा मनुष्य आयु की अवधि को प्राप्त करता है। ये तीन कर्म आत्मा के साथ अनादि काल से विद्यमान रहते

हैं। नियति के द्वारा एवं उसके (आत्मा के) कर्म एवं भाग्य फलस्वरूप वह (विषयों का) उपभोग करता है। नम्रता एवं रूढ़ता भी कर्म के अनुसार ही आती है, ज्ञान एवं अज्ञान का आविर्भाव भी कर्म के अनुकूल ही होता है। पूर्व जन्म में किये गये कर्म से ही फल की उत्पत्ति होती है।

कर्म के सामान्य नियम के अनुसार कर्म मुख्यत: दो प्रकार के होते हैं–शुभ एवं अशुभ अर्थात् अच्छे फल को उत्पन्न करने वाला कर्म शुभ एवं बुरे फल को उत्पन्न करने वाला कर्म अशुभ कहलाते है। इन कर्मों से उत्पन्न परिणाम से उपभोग की प्राप्ति होती है। कर्म का परिणाम चाहे शुभ या अशुभ हो, सुखात्मक या दु:खात्मक हो, उसे प्राप्त करना ही होता है। कर्म के परिणाम को प्राप्त करने को ही उपभोग की स्थिति कहते हैं। उपभोग को सम्मिलित करते हुए कर्म तीन प्रकार के माने गये हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार सृष्टि अनादि है अर्थात् काल भी सृष्टि के अंतर्गत एक तत्त्व है, सृष्टि काल के अंतर्गत नहीं। इसीलिए सृष्टि को काल की गणना से परे अनादि माना गया है। यही कारण है कि आत्मा के साथ माया एवं कर्म का सम्बन्ध भी अनादि माना गया क्योंकि सृष्टि का उपादान माया तत्त्व एवं उसके सहयोगी कर्म तत्त्व हैं। चूँकि सृष्टि अनादि है इसीलिए आत्मा के साथ माया-कर्म का सम्बन्ध भी अनादि माना गया है जो काल के संदर्भ से मुक्त है। जैसा कि पहले पद में बताया गया है, आत्मा कर्मानुसार ही जीवन की शारीरिक, मानसिक एवं बाह्य परिस्थिति को प्राप्त करती है कर्मानुसार ही उसे इन विषयों का उपभोग भी होता है। ये स्थितियाँ भूतकाल के कर्म के अनुसार प्राप्त होती हैं जिसे प्रारब्ध कहा जाता है। जिन प्रारब्ध कर्मों के परिणाम को आत्मा वर्तमान जीवन में प्राप्त करती है उन कर्मों के उपभोग तक ही वर्तमान जीवन की आयु होती है। वर्तमान जीवन के प्रारब्ध कर्मों के उपभोग के उपरान्त आयु की समाप्ति होती है एवं वर्तमान स्थूल देह का नाश होता है। जीवों को उसके द्वारा किये गये कर्मों के फल को नियति प्रदान करती है। नियति वह संचालक तत्त्व है जो सामान्य रूप से कर्म के नियम को बनाये रखती है, जिसे आत्मा को भोगना पड़ता है; क्योंकि आत्मा ही कर्मों का उपयोग करती है एवं कर्म के परिणाम का भी उपभोग करती है। कर्मवाद की सम्पूर्ण व्याख्या के लिए भारतीय चिन्तन परम्परा में पुनर्जन्म वाद माना गया है कर्म का परिणाम ऐसा अनिवार्य नियम है कि उसे प्राप्त करने के लिए एक जीवन पर्याप्त नहीं है बल्कि कई कर्मों के परिणाम के उपभोग के उपरांत वर्तमान जीर्ण देह का नाश हो जाता है एवं पुन: नवीन देह तथा नवीन स्थिति के माध्यम से आत्मा द्वारा सम्पादित अन्य कर्मों के परिणाम को प्राप्त करना पड़ता है जिसे उपभोग कहते हैं। उपभोग वह संदर्भ है जिसमें पुन: कर्मफल की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार से यह कर्म बीज एवं पेड़ की तरह निरन्तर अनिवार्य शृंखलाबद्ध रूप में चलता रहता है एवं इस क्रम में आबद्ध आत्मा भी जन्म मृत्यु के चक्र में भ्रमण करती रहती है अत: बाह्य

विषयों के उपभोग एवं आन्तरिक प्रकृति तथा प्रवृत्ति रूपी संस्कार, ये दोनों ही जीव द्वारा सम्पादित कर्मों के परिणामस्वरूप प्राप्त होते हैं। कर्म एवं कर्मफल का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है क्योंकि कर्म में विद्यमान फलाकांक्षा ही कर्मफल को उत्पन्न करती है एवं कर्मफल के उपभोग के संदर्भ में किये गये कर्म से पुनः फल की उत्पत्ति होती है। सृष्टि प्रक्रिया में निहित कर्म का यह नियम सार्वभौम नियम है जो निरन्तर अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होता रहता है। माया एवं कर्म के उपयोग से विभिन्न प्रकार के अनुभवों के माध्यम से आत्मा में अनादि काल से विद्यमान मल का क्रमशः परिपाक होता रहता है, जिसके परिणामस्वरूप आत्मा में तदनुरूप कर्मसंस्कार उत्पन्न होते हैं। ज्ञानी व्यक्तियों के अनुसार सम्प्रति-काल के क्रियमाण या संचियमान कर्म आत्मा के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं क्योंकि जो संचित कर्म भूतकाल में किये गये है एवं जिनके फल भी अभी प्राप्त नहीं हुए उनके ऊपर आत्मा का कोई नियंत्रण नहीं रहता। इसी प्रकार भूतकाल में किये गये कर्म का परिणाम जो वर्तमान में प्राप्त हो रहा है उसे भी आत्मा को भोगना ही पड़ता है अन्यथा उसका अन्त नहीं होता, परन्तु क्रियमान कर्म ही कुछ अंश में आत्मा के नियंत्रण के अंतर्गत है। चित् शक्ति द्वारा प्राप्त चैतन्य की स्वतन्त्रता का उपयोग करते हुए आत्मा औचित्यपूर्ण, सद्गुण संपन्न कर्म को शुभ अभिप्राय से प्रेरित होकर करने में समर्थ रहती है, जिससे उसकी आध्यात्मिक प्रगति का मार्ग क्रमशः प्रशस्त होता है और इसी क्रियमाण कर्म के आधार पर ही मनुष्य का भविष्य जीवन बनता है। वर्तमान जीवन की स्थिति भूतकाल में किये हुए कर्म का परिणाम है। विभिन्न प्रकार की अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियाँ हमारे ही द्वारा किये गये कर्मों के परिणाम है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक सभी संस्कार मनुष्यों के अतीत कर्मों के फलस्वरूप ही बनते हैं परन्तु उसमें भी कुछ स्वतन्त्रता का अवसर अवश्य ही रहता है जिससे मनुष्य उन्नति अथवा अवनति के मार्ग में जाता है। विगत कर्मों के द्वारा प्राप्त वर्तमान, करणों का उपभोग यदि मनुष्य अनुकूल प्रकार से करता है तब अच्छे संस्कार के माध्यम से उसे पुनः अनुकूल करण एवं वातावरण की प्राप्ति होती है जिससे वह और प्रगति कर सकता है। इसी प्रकार से भूतकाल में किये गये कर्मों के परिणाम प्राप्ति के संदर्भ में पुनः सम्पादित कर्मों के द्वारा भविष्य की स्थिति बनती है। यह क्रम चलता ही रहता है। अतीत में किये गये कर्म का परिणाम वर्तमान है एवं वर्तमान के अनुसार ही भविष्य का निर्माण होता है। इसी प्रकार जन्म, मृत्यु के चक्र के माध्यम से मनुष्य का जीवन प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। ईश्वर द्वारा प्रदत्त माया, कर्म की सृष्टि में ही यह सम्भव हो सकता है, इसीलिए सृष्टि ही आत्मा के लिए शुभ एवं लाभदायक है अतः यह स्पष्ट हुआ कि कर्मानुसार ही विभिन्न प्रकार की सांसारिक स्थितियाँ प्राप्त होती है। यद्यपि कर्म के नियमानुसार इसमें यह अनिवार्यता है कि शुभ कर्म का शुभ फल एवं अशुभ कर्म का अशुभ फल उत्पन्न होता है, परन्तु

उक्त कर्म के परिणाम को प्राप्त करने के संदर्भ में इस कर्मवाद की अनिवार्यता में अन्तर्निहित स्वतन्त्रता भी विद्यमान है जिसकी प्रेरणा से आत्मा पुनः नवीन कर्म के माध्यम से परिवर्तित स्थिति को प्राप्त कर सकती है। अतः आत्मा ईश्वर द्वारा प्रदत्त माया, कर्म के उपयोग से परिवर्तनशील देह एवं करणों को प्राप्त करती है। शैव-सिद्धान्त के दार्शनिक विवेचन में कर्म का सिद्धान्त एवं इच्छा स्वातन्त्र्य का बहुत ही अच्छा सामंजस्य स्थापित किया गया है। भारतीय दर्शन में प्रतिपादित कर्मवाद को ग्रहण करते हुए शैव-सिद्धान्त में कर्म के सन्दर्भ में आयी हुई समस्या का समाधान बहुत ही संगति पूर्ण ढंग से किया गया है। इसी क्रम में आत्मा क्रमशः आध्यात्मिक प्रगतिशीलता को प्राप्त करती है यद्यपि कर्मानुसार आत्मा की विभिन्न अवस्थायें होती है परन्तु संहार की प्रक्रिया द्वारा प्रलयावस्था में माया एवं कर्म की सम्पूर्ण विश्रान्ति की स्थिति होने के कारण सभी आत्माएँ एक ही स्थिति में रहती है। प्रलयावस्था विश्रान्ति पूर्ण निष्क्रियता की स्थिति है। पुनर्सृष्टि में आत्मा को अपने कर्मानुसार पुनः विभिन्न अवस्थाओं की प्राप्ति होती है। अर्थात् प्रलयावस्था में माया-कर्म की निष्क्रियता के कारण सभी आत्मायें एक ही प्रकार की विश्रान्ति की स्थिति में रहती हैं परन्तु पुनर्सृष्टि में आत्मा द्वारा किये गये कर्म के अनुसार ही माया कर्म की सक्रियता के कारण विभिन्न अवस्थाओं की प्राप्ति होती है। शैव सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि एवं प्रलय की स्थिति में माया एवं कर्म का यही अवस्था भेद है। सृष्टि की स्थिति में ही कर्मवाद का नियम प्रयुक्त होता है। प्रलयावस्था में कर्म की निष्क्रियता के कारण कर्मवाद का नियम प्रयुक्त नहीं होता है। इसी प्रकार शैव-सिद्धान्त में भारतीय दर्शन के अनुसार कर्म के नियम को स्वीकार करते हुए ईश्वर को ही उसका अन्तिम संचालक माना गया है। सृष्टि एवं प्रलय ईश्वर द्वारा संचालित माया एवं कर्म का इस प्रकार का उपयोग है जिससे आत्माएँ लाभान्वित होती है। आत्मा के प्रति ईश्वर की यही कृपा है। शैव-सिद्धान्त में माया एवं कर्म के नियमों को स्वीकृत करते हुए भी ईश्वर को ही सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है जो सर्वव्यापक होते हुए मौलिक रूप से अन्तिम नियंत्रणकर्ता है।

पद नं. ३०

भावानुवाद

इच्छा एवं अनिच्छा से प्रेरित होकर हम जो कुछ करते हैं वह हमारे प्रारब्ध का परिणाम है। इस कर्म के सन्दर्भ में आगामी कर्म की उत्पत्ति होती है यह बीज एवं पेड़ की तरह है जो पुनः संचित कर्म बनता जाता है। यही चक्र है कि अतीत जीवन में किया गया कर्म वर्तमान में फल उत्पन्न करता है एवं वर्तमान भविष्य को बनाता है। अहं ही

मूल कारण है–'मैं' एवं 'मेरे' की अनुभूति यही मुख्य भूल (गलती) है। स्वाभिमान ही सब प्रकार की जटिलता का मूल कारण है एवं आगामी कर्म को उत्पन्न करता है।

जैसा कि पूर्वपद में उल्लेख किया गया है कर्म तीन प्रकार के है–संचित, प्रारब्ध एवं क्रियमान। अतीत में किये गये कर्म जिनका परिणाम अभी भी उत्पन्न नहीं हुआ परन्तु भविष्य में अवश्य ही उत्पन्न होगा, संचित कर्म कहलाता है। इस कर्म के संदर्भ में मनुष्य अपनी प्रचेष्टा से और कोई परिवर्तन कर नहीं सकता, अर्थात् संचित कर्म का परिणाम उपयुक्त समय में अवश्य ही प्राप्त होता है। अपवाद स्वरूप केवल मात्र महापुरुष की विशेष कृपा से ही संचित कर्म भस्मीभूत हो सकते हैं। भूतकाल में किये गये जिन कर्मों का परिणाम प्राप्त होना शुरू हो गया है, उन परिणामों को ग्रहण करना जीवों के लिए अनिवार्य है क्योंकि कर्म का नियम इस विश्व व्यवस्था में एक अनिवार्य नियम है। यही कारण है कि इच्छा या अनिच्छा किसी भी प्रकार से प्रारब्ध कर्म के परिणाम को ग्रहण ही करना पड़ता है। कर्म में अन्तर्निहित फलाकांक्षा ही परिणाम को उत्पन्न करती है। सामान्य मनुष्य के कर्म सकाम कर्म होते हैं। कर्म में अन्तर्निहित अभिप्राय के आधार पर ही उसका मूल्यांकन होता है। शुभ अभिप्राय जन्य कर्म शुभ फल को उत्पन्न करता है, एवं अशुभ अभिप्राय से प्रेरित होकर किया गया कर्म अशुभ परिणाम को उत्पन्न करता है। अभिप्राय या फलाकांक्षा चाहे शुभ या अशुभ किसी प्रकार का हो उससे परिणाम उत्पन्न होना एक अवश्याम्भावी नियम है। जिसे सामान्य तौर पर रोका नहीं जा सकता यही कर्मवाद अथवा कर्म का नियम है। केवल ये ही नहीं कर्म में अन्तर्निहित वासना या अभिप्राय के अनुसार भविष्य में कर्म संस्कार बनता जाता है। अर्थात् अच्छी वासना या अभिप्राय का अच्छा प्रभाव मनुष्य के व्यक्तित्व पर पड़ता है और वह पुन: अच्छे कर्म के लिए आन्तरिक रूप से प्रेरित होता है। उसी प्रकार बुरे कर्म का जो बुरा प्रभाव उसके ऊपर पड़ता है उससे वह भविष्य में भी बुरे कर्म की ओर ही प्रेरित होता है। कर्म और कर्मफल का सम्बन्ध बीज एवं पेड़ की तरह है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि इन दोनों में कौन सा पहले होता है तो उसका उत्तर देना कठिन है। जैसे बीज के बिना पेड़ एवं पेड़ के बिना बीज की उत्पत्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार से कर्म बिना कर्मफल एवं कर्मफल के बिना कर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इन दोनों में पूर्वापर क्रम का अन्वेषण करना निरर्थक है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से शायद यह सम्भव भी नहीं क्योंकि शास्त्र में सृष्टि को ही अनादि बताया गया है, एवं सृष्टि के साथ ही माया एवं कर्म के संयोग है, अर्थात् अनादि काल से आत्मा माया कर्म से सम्बन्धित है। वास्तव में सृष्टि का काल निर्णय करना एक भ्रमात्मक प्रयास है क्योंकि सृष्टि काल के अंतर्गत नहीं वरन् काल ही सृष्टि के अंतर्गत है अत: उपर्युक्त समस्या का समाधान व्यवहारिक जीवन के लिए न सम्भव है और न आवश्यक ही है। सृष्टि अनादि काल से विद्यमान वह स्थिति है जिसमें मनुष्य माया कर्मरूपी

पाशों में आबद्ध है अतः इन पाशों से मुक्त होने की सम्भावना एवं उसके साधन का विवेचन करना ही हमारे लिए उपयोगी है। इसी संदर्भ में बताया गया है कि किये गये कर्म का जो प्रभाव मनुष्य के ऊपर पड़ता है वही कर्म संस्कार भविष्य कर्म के लिए प्रेरक तत्त्व के रूप में क्रियाशील होता है। यही कारण है कि महापुरुषों द्वारा अच्छे कर्मों का उपदेश दिये गये है। अच्छे कर्म के अच्छे संस्कार से आगे भी अच्छे कर्मों की प्रेरणा ही मिलती रहती है इसके विपरीत बुरे कर्म के बुरे संस्कार पड़ते हैं। स्पष्ट है कि अच्छे कर्म से ऊर्ध्व गति एवं बुरे कर्म से अधोगति होती है अतः वर्तमान में किये गये संकल्पात्मक कर्म ही मनुष्य की ऊर्ध्वगति एवं अधोगति का कारण बनता है। इसीलिए महान व्यक्तियों ने क्रियमान कर्म की महत्ता बतायी है।

सृष्टि के साथ ही माया एवं कर्म का संयोग होता है। जिससे संयुक्त होकर आत्मा इस जगत संसार के प्रकरण में निरन्तर कर्म करती रहती है। जैसा पूर्वपद में बताया गया है कि माया द्वारा प्रदत्त उनके उपादानों में अहंकार वह उपादान है जो चैतन्य स्वरूप आत्मा में "मैं और मेरे" की अनुभूति उत्पन्न करता है। अहंकार जात यह अनुभूति एक ओर तो आत्मा को सृष्टि में विद्यमान विभिन्न विषयों का उपभोग करवाने के लिए निरन्तर क्रियाशील एवं आबद्ध रखती है दूसरी ओर सर्वव्यापी चैतन्य सत्ता से आत्मा के पृथकत्व के भ्रमात्मक ज्ञान को उत्पन्न करती है। वास्तव में आत्मा स्वरूपतः अखण्ड चैतन्य सत्ता में विद्यमान है, परन्तु अज्ञानता (आणवमल) के कारण उसे ज्ञात नहीं रहता, परन्तु अहंकार तत्त्व के संयोग से यह आत्मा अपने को सांसारिक विषयों के उपभोग की कर्ता के रूप में अनुभव करती रहती है। माया से उत्पन्न समस्त विषयों को वह अपना समझती है एवं अपने ऊपर कर्तव्य आरोपित करती हुई विषयों के उपभोग की वासना से उनके ऊपर नियंत्रण रखने का प्रयास करती है। आत्मा जो कि ज्ञान स्वरूप है, इस अचेतन तत्त्व से सम्वन्धित नहीं है, वरन् परम चैतन्य सच्चिदानन्द में ही अवस्थित है। अनादि काल से आणव मल से आवृत्त होने के कारण इस मौलिक ज्ञान के ऊपर आवरण पड़ा हुआ है अतः आत्मा अपने स्वरूप और मूल स्थिति को नहीं जानती। केवल इतना ही नहीं अहंकार तत्त्व के संयोग के कारण अपने ऊपर कर्तृत्व को आरोपित करती हुई माया से उत्पन्न सभी विषयों के प्रति आसक्त हो जाती है। अहंकार से उत्पन्न "मैं और मेरे" का अभिमान आत्मा के लिए इतना सख्त बन्धन है कि केवल ईश्वर कृपा से ही वह दूर हो सकता है। कर्तृत्व के अभिमान से प्ररित होकर ही आत्मा विभिन्न प्रकार के कर्मवन्धन में आवद्ध रहती है परन्तु इस अवांछित स्थिति के वारे में वह सजग भी नहीं रहती क्योंकि अज्ञानता एवं कर्तृत्व के अभिमान से सत्य ज्ञान आवृत्त रहता है। आत्मा की उक्त सांसारिक स्थिति में दो प्रकार के दोष पाये जाते हैं। एक तो स्वरूप ज्ञान का अभाव एवं दूसरा अनावश्यक भ्रमात्मक कर्तृत्व का अभिमान। पंचकृत्य का अधिकारी स्वयं ईश्वर होने के कारण चित् शक्ति ही वह निमित्त

कारण अर्थात् संचालक तत्त्व है जो सृष्टि, स्थिति, प्रलय, निग्रह एवं अनुग्रह सभी कार्यों का संचालन करती रहती है। वही मूल एवं एकमात्र कर्ता है। अहेकार-जात सीमित कर्तृत्व का अभिमान आत्मा को केवल भ्रमित करता है एवं आध्यात्मिक जीवन के उत्कर्ष को प्राप्त करने में बाधक होता है परन्तु इस संदर्भ में यह सूचित करना आवश्यक है कि कर्तृत्व के अभिमान से प्रेरित होकर निरन्तर सांसारिक विषयों से सम्बन्धित होती हुई आत्मा जिन कर्मों का सम्पादन करती है इसके फलस्वरूप उसमें इन परिवर्तनशील सांसारिक विषयों की अनित्यता की चेतना भी उत्पन्न होती है। जिससे वह क्रमशः इन भ्रमात्मक विषयों के प्रति उदासीन होकर स्थायित्व अथवा नित्यता का अन्वेषण करती रहती है। अर्थात् माया एवं कर्म के संयोग से तथा चित् शक्ति की प्रेरणा से ही आत्मा में क्रमशः सत्य ज्ञान उद्‌भासित होने की तैयारी होती है। यही कारण है कि पाश होते हुए भी माया एवं कर्म में आंशिक प्रकाशकत्व विद्यमान है, ऐसा माना गया है। निःसन्देह यह एक जटिल स्थिति है। इस जटिलता के बिना अनादि काल से अज्ञानता के आवरण में आबद्ध आत्मा को मुक्त करना संभव न था अतः यह समझने योग्य विषय है कि सृष्टि प्रक्रिया में ईश्वर ने आत्मा को क्यों और दो पाशों से आबद्ध किया, जिसका वर्णन आगे क्रमशः किया जायेगा।

पद नं. ३१

भावानुवाद

हम मन, वचन एवं कार्य से कर्म का संपादन करते हैं। एक कर्म दूसरे कर्म को मिटा नहीं सकता वेद एवं आगम के अनुसार हम उसे कुछ लघु कर सकते हैं। यदि वह भी न हो तो आधिक मूल्य प्रदान कर (उसके प्रतिकार के लिए) सकते हैं। कभी-कभी कुछ किये बिना ही उसका अन्त हो जाता है। यदि हम धर्म ग्रन्थ के अनुसार धार्मिक आधार का पालन करे तो वह टूट ही जायेगा एवं आगामी जन्म में कर्म साम्य की स्थिति आयेगी।

कर्म वह प्रक्रिया है जिसमें मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रभावित होता है। संकल्प से प्रेरित होकर बौद्धिक विवेचन के प्रयोग के माध्यम से निश्चित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्य जिस मनोशारीरिक प्रक्रिया को अपनाता हैं उसे ही कर्म कहते हैं एवं उसी कर्म का परिणाम उत्पन्न होकर मनुष्य को प्रभावित करता है। ये कर्म ऐच्छिक संकल्पात्मक कर्म कहलाता हैं। सहजक्रिया, मूल प्रवृत्यात्मक क्रियायें जैविक क्रियायें हैं। मनोशारीरिक वृत्ति के ऊपर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं रहता। संकल्पात्मक कार्य में आत्मा कर्तृत्व अभिमान से प्रेरित होकर मन, बुद्धि, इन्द्रिय इत्यादि विभिन्न साधनों के उपयोग से कोई निश्चित अभीष्ट को प्राप्त करने के निमित्त कर्म करती है इसीलिए इस प्रकार के कर्म में

मन, बुद्धि, चित्त इन्द्रियाँ इत्यादि सभी सम्मिलित रहते हैं। इस प्रकार के कर्मों का जो परिणाम उत्पन्न होता है, उसे मनुष्यों को ग्रहण करना पड़ता है। कर्म में अन्तर्निहित फलाकांक्षा के अनुसार ही परिणाम उत्पन्न होता है, एवं तदनुकूल कर्म संस्कार भी पड़ता है। कर्म का नियम वह अनिवार्य नियम है जिससे सम्पूर्ण सृष्टि नियंत्रित होती है। वह ईश्वर द्वारा प्रदत्त विधान है परन्तु परम कृपालु ईश्वर जीव के कल्याण के लिए इस अलंघ्य विधान में भी सामान्य रूपान्तरण के अवसर को प्रदान करते है, जिसका वर्णन शास्त्र के माध्यम से किया गया है। शास्त्र विहित कर्मों के सम्पादन से जिस प्रकार आध्यात्मिक प्रगति होती है उसी प्रकार शास्त्र में कई दोषपूर्ण कर्मों के प्रायश्चित विधान के वर्णन भी किये गये हैं। अज्ञानतावश मनुष्य यदि अन्यान्य कर्म का सम्पादन कर भी लेता है एवं उसके लिए बाद में पश्चात्ताप की अनुभूति होती है तब उस अन्याय कर्म से उत्पन्न अशुभ परिणाम की तीव्रता को कम करने के लिए शास्त्र में कई प्रायश्चित के विधान दिये गये है। इन प्रायश्चित्तों का सम्पादन कर यदि मनुष्य चाहे तो अशुभ फल की तीव्रता को कुछ कम कर सकता है। कभी-कभी आर्थिक मूल्य के माध्यम से भी उसकी तीव्रता कम की जाती है परन्तु यह निश्चित है कि कर्म-फल का नाश सम्पूर्ण रूप से नहीं होता। वास्तव में प्रायश्चित्त कर्म पश्चात्तापजनित कर्म है जिससे व्यक्ति अपनी विगत त्रुटि या भूल का कुछ अंश में सुधार कर सकता है। प्रायश्चित्त विधान शास्त्र प्रणोदित है चूँकि शास्त्र वचन सत्य है इसलिए प्रायश्चित विधान भी अवश्य ही फलप्रसू हैं।

ऋषि द्वारा प्रणोदित शास्त्र विधान के अनुसार यदि सभी आधार एवं अनुष्ठानों का सम्पादन किये जाँय तब अवश्य ही क्रमश: आध्यात्मिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता है। शास्त्र प्रणोदित विधान के माध्यम से क्रमश: अज्ञानता दूर होती है एवं सम्यक् ज्ञान का उद्भव होता है। अनादि काल से आत्मा आणवाधृत होने के कारण अज्ञानता के अन्धकार में डुबी हुई है उसे किसी विषय का सत्य या सम्यक ज्ञान नहीं है। सृष्टि प्रक्रिया में मायाकर्म से आबद्ध होकर वह निरन्तर विभिन्न प्रकार के अनुभवों को प्राप्त करती है। सत् असत् के सम्यक् ज्ञान के अभाव के कारण वह भ्रमित हो रही है एवं परिवर्तनशील माया-जन्य विषयों से अत्यन्त आसक्त रहती है जिससे कर्मबन्धन उत्पन्न होते हैं जैसा कि पहले बताया गया है। कर्म सामान्यत: शुभ एवं अशुभ दो प्रकार के होते हैं। कर्म में अन्तर्निहित अभिप्रायजनित वासना के आधार पर ही कर्म का मूल्यांकन होता है। शुभ कर्म के शुभ परिणाम को आत्मा को अवश्य ही स्वतंत्र रूप से लेने पड़ते हैं अर्थात् शुभ एवं अशुभ कर्म में कोई समझौते नहीं हो सकते, न तो इन दोनों परिणामों का कोई पारस्परिक आदान-प्रदान ही होता है। अच्छे कर्मों के अच्छे परिणाम एवं बुरे कर्मों के बुरे परिणाम अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होते हैं। व्यक्ति जीवन में जितने अच्छे कर्मों का सम्पादन करता है उनके अच्छे फल प्राप्त होते हैं, एवं जितने बुरे कर्म किये जाते हैं उनके भी सभी

परिणाम प्राप्त करने पड़ते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में या तो सुख नहीं तो दुःख होता है, परन्तु व्यवहार में ऐसा कभी भी अनुभूत नहीं होता है। महाभारत में युधिष्ठिर द्वारा द्रोणाचार्य को बताया गया असत्य का कोई समझौता उनके द्वारा किये गये जीवनभर के धार्मिक कर्मों से भी नहीं हो पाया, और इसीलिए उनको उस असत्य भाषण के कारण नरक दर्शन करना पड़ा। शास्त्र में इस प्रकार के दृष्टान्त अनेक है एवं प्रत्येक मनुष्य के व्यवहारिक जीवन की स्थिति से भी यही स्पष्ट होता है कि अच्छे कर्मों के अच्छे परिणाम एवं बुरे कर्मों के बुरे परिणाम उत्पन्न होते हैं। इसीलिए प्रत्येक का जीवन सुख एवं दुःख का समन्वय है। कर्म के इस नियम के अनुसार निरन्तर कर्म एवं उससे उत्पन्न परिणाम के वन्धन से जीव आवद्ध रहता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस शृंखला से मुक्ति पाने का क्या उपाय है? समस्या के समाधान के लिए बताया गया है कि कर्म में अन्तर्निहित अभिप्राय जनित वासना से जो कर्म संस्कार उत्पन्न होता है वही आगे कर्म करने के लिए जीव को प्रेरित करता है अतः यदि कर्म में अन्तर्निहित वासना या आसक्ति नष्ट कर दिया जा सके तो सभी कर्मबन्धन का नाश हो सकता है। भगवद्गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्म योग ही इसका एकमात्र उत्तर है। वास्तव में कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग ये एक दूसरे से समन्वित ही है पृथक् नहीं। ये तीनों आध्यात्मिक जीवन की प्रगति के लिए उपासना प्रणाली को प्रदान करते हैं जो क्रमशः कर्म साम्य की स्थिति को उत्पन्न करते हैं जैसा कि भगवद्गीता में श्री कृष्ण ने बताया मानसिक क्षमता एवं परिणाम के प्रति अनुद्विग्नता ही वास्तव में कर्मयोग के लक्षण है। इस स्थिति में कर्म में अन्तर्निहित यातना या आसक्ति भस्मीभूत हो जाती है एवं जीव फलाकांक्षा को सम्पूर्ण रूप से ईश्वर को समर्पित करता हुआ कार्य करता है, इसलिए उस कार्य का कोई बन्धन भी नहीं होता। फलाकांक्षा रहित समत्व की इस स्थिति को ही कर्मसाम्य कहते हैं, जिसमें पाप एवं पुण्य की समता हो जाती है। उक्त पद में श्री उमापति शिवाचार्य यही प्रतिपादित करते हैं कि शास्त्र प्रणोदित कर्म मनुष्य के लिए इतना लाभदायक एवं कृपापूर्ण दिशा-निर्देश है कि इसका अनुसरण एवं अनुपालन करने से व्यक्ति निश्चित रूप से क्रमशः मोक्ष की ओर ही अग्रसर होता है। कर्मसाम्य की स्थिति में चित्-शक्ति की कृपा से सभी बन्धनों का नाश होता है उसे शक्ति-निपात कहते हैं।

पद नं. ३२–पाँच प्रकार के मल

भावानुवाद

सभी जीवित पदार्थों के मोह एवं राग होते हैं। मूल आणव मल प्रथम है। तिरोधान

सिद्धसिद्धयो समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते (भगवद्गीता) २, ४८

माया एवं कर्म उनके साथ युक्त होकर विकसित करते हैं। फिर आत्मा देह धारण करती है, एवं इन्द्रियाँ भुवन, भोग इत्यादि शुद्ध माया से युक्त होती है। इन पाँचों मलों को दूर किये बिना अनुग्रह को प्राप्त करना कठिन है—ऐसा प्राज्ञ व्यक्तियों का कहना है।

अनादि काल से आत्मा आणवाधृत होकर जड़वत् स्थिति में रहती है। आणवमल ही वह मूल मल है जो चैतन्य सत्ता आत्मा को आवृत्त कर देती है। आत्मा को अपना स्वरूप-ज्ञान तो रहता ही नहीं एवं अपनी इस अवांछित स्थिति से मुक्त होने का कोई भी उपाय वह कर नहीं सकती, अज्ञानता के अन्धकार से उसका ज्ञान इस प्रकार आच्छादित रहता है कि वह प्राय: जड़वत् स्थिति में रहती है। मूलत: आत्मा चैतन्य स्वरूप है एवं सच्चिदानन्द के सर्वव्यापक चैतन्य में ही उसकी अवस्थिति भी है। वास्तव में ईश्वरीय चैतन्य एवं आत्म चैतन्य अभेद, अद्वैत स्थिति में विद्यमान रहता है परन्तु अणवाधृत आत्मा को इस सत्य का कोई ज्ञान नहीं रहता। आणव ही वह मूल-मल है जिसे दूर करने के लिए ईश्वर सृष्टि करता है। सृष्टि प्रक्रिया में प्रयुक्त अन्य तत्त्व जैसे माया, कर्म इत्यादि की भूमिका आणवमल को दूर करने के निमित्त ही होती है। आणवमल सम्पूर्ण अज्ञान-रूपी अन्धकार है। इसमें कोई प्रकाशकत्त्व नहीं है। वरन् यह आत्मा को अज्ञानता, मोह, राग, द्वेष, भ्रम, इत्यादि विभिन्न अवांछित स्थिति में निमज्जित कर देता है, आणवमल के आवरण से आत्मा अनादि काल से अर्थात् प्राक् सृष्टि की स्थिति में जड़वत् रहती है। ईश्वर की कृपा से ही आत्मा को क्रमश: मुक्ति की ओर प्रेरित करने के लिए चित् शक्ति द्वारा सृष्टि होती है। सृष्टि की प्रक्रिया में माया एवं कर्म के संयोग से आत्मा उपभोग के कार्य में क्रमश: लिप्त होती है। उक्त स्थिति में भी आणवमल के कारण आत्मा राग, द्वेष इत्यादि विभिन्न प्रकार की भ्रमात्मक वृत्तियों से प्रभावित होती है। आणवमल वह मूल अनादि कालीन अज्ञानता का प्रकोप है जिसके प्रभाव से मुक्त होना आत्मा के लिए स्वयं साध्य नहीं है। ईश्वर की कृपा ही एक मात्र उपाय है, जिससे आत्मा इस अनादि दोषपूर्ण स्थिति से मुक्त हो सकती है। ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है। इसलिए एकमात्र वही मूल अज्ञानता को दूर करने में समर्थ है। आत्मा के इस मूल अज्ञानता को दूर करते हुए उसे अपने चैतन्य में (ईश्वरीय चैतन्य में) अवस्थित करने के लिए ईश्वर द्वारा कई प्रक्रियायें सम्पादित की जाती है। ये प्रक्रियायें पंचकृत्य कहलाती है। सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह (तिरोधान) एवं अनुग्रह—ये पंचकृत्य आत्मा के प्रति ईश्वर की कृपा की अभिव्यक्ति है। आणवमल वह मूल अज्ञानता है जिसे दूर करने के लिए ईश्वर पंच कृत्यों को सम्पादित करता है। अत: यह स्पष्ट है कि आणवमल ही मूल अनादि कालीन अज्ञान अन्धकार है जिसमें आत्मा सम्पूर्ण रूप से आबद्ध रहती है।

माया

शैव सिद्धान्त के अनुसार माया सृष्टि का उपादान कारण है। माया वह अचेतन तत्त्व

है जिसका उपयोग ईश्वर, सृष्टि के लिये उपादान के रूप में करता है। ईश्वर-शक्ति निमित्त कारण है, वह प्रेरक एवं संचालक तत्त्व है, जो सृष्टिकार्य में मायारूपी अचेतन शक्ति का उपयोग करता है। मूलत: माया सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। इसीलिये माया से उत्पन्न प्रथम प्रकार के शुद्ध तत्त्व सूक्ष्मतत्त्व हैं। इन तत्त्वों को शुद्ध माया से उत्पन्न तत्त्व कहा जाता है। 'मा' शब्द के दो तात्पर्य है–प्रकाशित होना एवं चातुर्य। शैव सिद्धान्त के अनुसार माया में उक्त दोनों विशिष्टताएँ आरोपित की गयी है। प्रकाशन के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि माया क्रमश: सूक्ष्म से स्थूल की ओर प्रकाशित होती है। इस संदर्भ में माया के तीन प्रकाशन बताये गये हैं। (१) शुद्ध माया (२) अशुद्ध माया (३) प्रकृति माया।

शुद्ध माया

शुद्ध माया को मामया, कुण्डली, शुद्ध शक्ति एवं बिन्दु इत्यादि शब्दों से अभिहित किया जाता है। (१) शुद्ध माया से नाद, बिन्दु, सादाख्य, माहेश्वरी एवं शुद्ध विद्या इत्यादि तत्त्व प्रकाशित होते हैं, जिन्हें शिव-तत्त्व एवं प्रेरककाण्ड कहा जाता है। (२) शुद्धाशुद्ध माया–माया की द्वितीय अभिव्यक्ति को अशुद्ध माया अथवा अधोमाया कहा गया है। यह स्थूल जगत की अभिव्यक्ति का उपादान कारण है। तनु, करण, भुवन एवं भोग इत्यादि तत्त्वों का प्रकाशन अशुद्ध माया से ही होता है। यद्यपि यह स्वयं अशुद्धता से युक्त है परन्तु आत्मा में सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होने में कुछ अंश में यह सहायक भी सिद्ध होती है जैसे रजक वस्त्र को परिष्कृत करने के लिए दूसरे मैल का सहयोग लेता है अर्थात् एक मैल से दूसरे मैल को हटाने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार ईश्वर आणव मल को दूर करने के लिए माया-कर्म को साधन के रूप में अपनाता है। अत: पाश होते हुए भी माया-कर्म में आंशिक प्रकाशकत्त्व विद्यमान है। कल, नियति, काल, विद्या एवं राग ये पंच कंचुक भी अशुद्ध माया से ही उत्पन्न होते हैं जो चित् शक्ति के निर्देशानुसार आत्मा से सम्बन्धित होकर विभिन्न प्रकार के कार्यों में रत रहते हैं। शिव-शक्ति के निर्देशानुसार अनन्त देव इनके संचालक रहते हैं। (३) प्रकृमि माया–माया तत्त्व की तीसरी अवस्था है जो महत् से लेकर पंचमहाभूत स्थूल तत्त्व तक चौबीस तत्त्वों को उत्पन्न करती है। ये सभी तत्त्व एवं सृष्टि प्रक्रिया में आत्मा के साथ घनिष्ट रूप से सम्बन्धित रहते हैं। (प्रकृति माया सत्त्व, रज एवं तम इन तीनों गुणों से युक्त होती है।)

मायेय–गुण वैषम्य के कारण से विभिन्नतायें उत्पन्न होती है चित्-शक्ति की प्रेरणा से सृष्टि प्रक्रिया का उपादान माया तत्त्व से, आत्मा की विभिन्न स्थिति से सम्बन्धित आवश्यक कार्यों को सम्पादित करने के लिए, छत्तीस तत्त्वों का विकास होता है। आत्मा इन सभी तत्त्वों से युक्त होकर अपने कर्मानुसार विभिन्न अनुभवों को प्राप्त करती है। ये

१. देखिए–पद नं.

सभी तत्त्व आत्मा के लिए पाश-स्वरूप है। माया से विकसित ये तत्त्व मायेय कहलाते हैं। आत्मा को उसके कर्मानुसार विभिन्न परिणाम मायेय के विभिन्न तत्त्वों के माध्यम से चित्-शक्ति द्वारा प्रदत्त होते हैं।

तिरोधान

शिवशक्ति स्वयं अप्रकटित रहकर माया एवं कर्मरूपी उपादान के द्वारा आत्मा को मोक्ष के लिए निरन्तर प्रेरित करती रहती है। चित् शक्ति की इस प्रक्रिया को तिरोधान कहते हैं।

अनुग्रह

शैव-सिद्धान्त के अनुसार पति, पशु एवं पाश इन तीन तत्त्वों में पति ही सर्वोच्च सर्वव्यापक एवं सर्व-शक्तिमान चैतन्य सत्ता है। वही सब कुछ है एवं सब कुछ उसी में है। आणवाधृत आत्मा को अज्ञानता के अन्धकार से मुक्त कराकर अपने सर्वव्यापक चैतन्य में समाहित करने के लिए ईश्वर अपनी तादात्म्य चित्-शक्ति के द्वारा पंचकृत्य का सम्पादन करता है। ये पंचकृत्य सृष्टि स्थिति, संहार तिरोधान एवं अनुग्रह हैं। इन पंचकृत्यों में अनुग्रह स्वयं प्रकाशित प्रक्रिया है, अर्थात् ईश्वर स्वयं अपने को आत्मा के निकट प्रकाशित करता है एवं आत्मा को अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का बोध कराता है तभी आत्मा ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त कर उसी आनन्द में लीन हो जाती है। अनुग्रह ईश्वर की पूर्ण कृपा दृष्टि है जिससे मलप्रभाव तिरोहित होकर आत्मा का चैतन्य पूर्ण रूप से प्रकाशित होता है। यही ईश्वर के साथ आत्मा का साक्षात्कार है, जो केवल मात्र ईश्वर की कृपा से ही सम्भव हो सकता है। अनुग्रह ईश्वर द्वारा प्रणोदित अन्तिम कार्य है जो आत्मा को सर्वोच्च स्थिति प्रदान करता है परन्तु इस सर्वोच्च स्थिति के सामर्थ्य को प्राप्त करने के लिए आत्मा को विविध प्रकार की अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। वास्तव में आत्मा को अन्तिम एवं सर्वोच्च स्थिति को प्रदान करने के लिए ईश्वर ही विभिन्न उपायों का प्रयोग करता है। पंचकृत्यों के अनुग्रह के अतिरिक्त अन्य सभी कृत्य आत्मा को उस अन्तिम स्थिति को प्राप्त करने के योग्य बनाने के संदर्भ में ही सम्पादित किये जाते हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार एवं तिरोधान–ये सभी कृत्य ईश्वर द्वारा ही सम्पादित होते हैं, एवं आत्मा को मुक्त करने के लिए यह परम कृपालु ईश्वर की कृपाभिव्यक्ति है परन्तु अज्ञानता के अन्धकार में आवृत्त रहने के कारण आत्मा को कुछ भी ज्ञान नहीं होता। सृष्टि में ईश्वर आत्मा को माया-कर्म से संयुक्त करता हुआ विभिन्न अनुभवों को प्रदान करता है। काल-प्रवाह में परिवर्तन-शील जगत में असंख्य परिस्थितियों में आत्मा अनगिनत अनुभवों के माध्यम से क्रमशः विषयों के सम्यक ज्ञान को प्राप्त करती है। अज्ञानता-जनित भ्रम के कारण आत्मा में सत् एवं असत् की भिन्नता का कोई बोध नहीं रहता है, परन्तु जीवन

के विभिन्न अनुभवों के माध्यम से उसे सत् एवं असत् की चेतना होने लगती है। चित्-शक्ति द्वारा संचालित माया एवं कर्म आत्मा के लिए आंशिक रूप से प्रकाशकत्व को प्रदान करते हैं। चूँकि सृष्टि, स्थिति इत्यादि कृत्य शिव-शक्ति द्वारा ही सम्पादित होते हैं इसलिए आत्मा के लिए वह निश्चित रूप से उपकारी सिद्ध होती हैं क्योंकि ईश्वर कृपा-स्वरूप है। चित्-शक्ति की अभिव्यक्ति कृपा का ही प्रकाशन है परन्तु यह कृपा स्वरूपत: ईश्वर शक्ति होने पर भी अपने को आच्छादित करती हुई कार्य करती है। चित्-शक्ति इस प्रक्रिया के द्वारा आत्मा को अन्तिम स्थिति–अनुग्रह शक्ति को प्राप्त करने के लिए योग्य बनाती है, इसीलिए इसे तिरोधान कहते हैं। इस प्रक्रिया में ईश्वर अपने को अन्तराल में रखता हुआ आत्मा के ऊपर कृपा दृष्टि रखता है, अप्रकाशित होने के कारण यह तिरोधान कहलाता है। वास्तव में यह वही चित् शक्ति है जो अन्ततः अनुग्रह शक्ति के रूप में प्रकाशित होकर आत्मा के ऊपर तीव्र-शक्ति निपात से अज्ञानता के अन्धकार को दूर कर देती है। आच्छादित होने के कारण चित्-शक्ति होने पर भी तिरोधान को पंच पाशों के अंतर्गत माना गया है।

पद नं. ३३–अवस्थाओं का विवेचन–केवलावस्था

भावानुवाद

हम गिनती नहीं कर सकते हैं। आत्माएँ क्रमवर्धमान हैं। वे तीन अवस्थाओं के माध्यम से अनुभव प्राप्त करते हैं। केवल, सकल एवं शुद्ध इन तीनों में केवलावस्था का विवेचन किया जाता है। आणव मल के अतिरिक्त और कोई कल इत्यादि, किसी प्रकार का अवयव नहीं रहता है। यह कोई ज्ञान भी प्राप्त नहीं करती। जैसे अन्धकार में चक्षु इन्द्रिय को कुछ दिखलाई नहीं पड़ता है उसी प्रकार से (आणव मल से युक्त) आत्मा कोई ज्ञान प्राप्त किये बिना विद्यमान रहती है। आणव मल आत्मा को छोड़ता नहीं है, आत्मा का विनाश नहीं होता और वह केवलावस्था में रहती है–ऐसा वेद एवं आगम में कहा गया है।

उक्त पद में श्री उमापति शिवाचार्य ने आत्म-तत्त्व का विवेचन प्रस्तुत किया है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार आत्माएँ अनेक हैं। स्वरूपत: आत्माएँ चित्-स्वभाव एवं अणु रूप हैं। असंख्यता को सूचित करने के लिए उसे क्रमवर्धमान बताया गया है। अर्थात् ऐसा प्रतीत होता है कि आत्माएँ निरन्तर निर्गत हो रही हों। चित्-शक्ति द्वारा संचालित माया-कर्म के सृष्टि में निरन्तर अवस्थान्तर के कारण सभी आत्माएँ एक स्थिति में नहीं रहती। अपने कर्मानुसार प्रत्येक आत्मा विभिन्न परिणामों को प्राप्त करने के फलस्वरूप विभिन्न परिस्थितियों में विद्यमान रहती है। फलत: उनका अवस्थान्तर होता रहता है। इस संदर्भ के आधार पर आत्माएँ तीन अवस्थाओं में विद्यमान मानी जाती हैं–(१) केवलावस्था, (२) सकलावस्था, (३) शुद्धावस्था।

(१) केवलावस्था

यह आत्मा की प्राक्-सृष्टि की अवस्था है। इस स्थिति में आत्मा आणवावृत होकर अज्ञानता से सम्पूर्ण आच्छादित रहती है। आणव-मल जो मूल-मल कहलाता है अनादि काल से आत्मा के ज्ञान स्वरूप को आच्छादित किया हुआ होता है जिससे आत्मा जड़वत् स्थिति में निष्क्रिय अज्ञान आध्यात्मिक जीवन के लिए अप्रगतिशील सम्पूर्ण आबद्ध स्थिति में रहती है। इस स्थिति में उसमें इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान-शक्ति का कोई उन्मेष नहीं हो सकता क्योंकि उसकी ज्ञान सत्ता आणवमल द्वारा सम्पूर्ण आवृत्त रहती है। आत्मा को इस जड़वत् स्थिति से, अज्ञानता के अन्धकार से मोक्ष प्रदान करने के लिए ईश्वर सृष्टि करता है। सृष्टि प्रक्रिया के लिए वह दो तत्त्वों का उपयोग करता है। ये दो तत्त्व माया एवं कर्म है। माया सृष्टि का उपादान तत्त्व है जिससे ईश्वर आत्मा को अनुभव प्राप्त करने के लिए विभिन्न विषयों को प्रदान करता है। आत्मा तनु एवं करण के माध्यम से भुवन एवं भोग को प्राप्त करती है। ये सभी आत्मा के लिए उपभोग्य है। इन उपभोगों को प्राप्त करने के लिए ईश्वर ने आत्मा को कर्म नामक एक दूसरे तत्त्व को प्रदान किया। कर्म किसी अनुभव को प्राप्त करने के निमित्त वह क्रियाशीलता का सिद्धान्त है जिससे आत्मा करणों के द्वारा सृष्टि के विभिन्न विषयों को प्राप्त करने के लिए सम्पादित करती है। इस परिवर्तनशील सृष्टि में निरन्तर सभी विषयों का परिवर्तन हो रहा है अत: अनुभव भी निरन्तर परिवर्तित हो रहा है। माया एवं कर्म ये दोनों ही आत्मा के लिए बन्धनरूप हैं। परन्तु आणवमल से इनकी भिन्नता इस बात में है कि आणवमल आत्मा को अज्ञानता के अन्धकार में सम्पूर्ण आच्छादित कर देता है परन्तु माया एवं कर्म के माध्यम से प्राप्त अनुभवों के द्वारा आत्मा में मल-परिपाक होता है। आत्मा अज्ञानता के आवरण को भेद करती हुई सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए योग्य बनती है। तनु, करण, भुवन, भोग के अनुभव इन विषयों की अनित्यता के बोध को प्राप्त करती हुई आत्मा इन परिवर्तनशील विषयों से विमुख होकर नित्यता एवं स्थायित्व का अन्वेषण करती है। यद्यपि इस अन्वेषण की उग्र आकांक्षा को प्राप्त करने के लिए आत्मा को जन्म जन्मान्तर निरन्तर भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म एवं कर्मफल के संदर्भ में विविध अनुभवों को प्राप्त करना पड़ता है। परन्तु ईश्वर की कृपा से (अर्थात् चित्-शक्ति द्वारा संचालित होने के कारण) प्राप्त अनुभव आत्मा के लिए अन्तत: शुभ परिणाम को उत्पन्न करता है इसीलिए माया-कर्म पाश होते हुए भी आंशिक रूप से प्रकाशकतत्त्व माने जाते हैं। चित्-शक्ति द्वारा संचालित होने के कारण ही इन तत्त्वों के माध्यम से आत्मा को ज्ञानोद्दीपक प्रकाशकत्व प्राप्त होता है। माया कर्म समन्वित आत्मा की सृष्टि प्रक्रिया में विद्यमान इस स्थिति को सकलावस्था कहते हैं। सकलावस्था में आत्मा आणव, माया एवं कर्म तीनों पाशों से आबद्ध रहती है। अनेक अनुभवों के उपरान्त जब आत्मा माया कर्म समन्वित सृष्टि से विमुख हो जाती है एवं नित्य वस्तु प्राप्त करने के लिए उन्मुख होती है, तब सांसारिक विषयों की प्राप्ति एवं अप्राप्ति के प्रति

सम्पूर्ण रूप से उदासीन हो जाती है, उसे ही मल परिपाक एवं कर्म साम्य की स्थिति कहते हैं। आत्मा की इस स्थिति में ही परमकृपालु ईश्वर अपनी अनुग्रह शक्ति का उपयोग करते हुए आत्मा से माया एवं कर्म के संयोग का विच्छेद कर देते हैं। अनुग्रह शक्ति का आविर्भाव ही तीव्र शक्ति निपात कहलाता है। आत्मा की यह अवस्था शुद्धावस्था है। जब आत्मा माया, कर्म एवं आणव तीनों पाशों से मुक्त हो जाती है, एवं परम् चैतन्य से अभेद होकर उस आनन्दस्वरूप का उपभोग करती है। वास्तव में इस परम स्थिति को प्राप्त करने के संदर्भ में जब से आत्मा क्रमशः उसी ओर अग्रसर होती है तभी से शुद्धावस्था प्रारम्भ हो जाती है। इन तीन अवस्थाओं में केवलावस्था आणवाधृत अवस्था है, जिसमें माया कर्म के अभाव होने के कारण आत्मा कोई अनुभव को प्राप्त नहीं कर सकती, एवं अज्ञानता के आवरण में आवृत्त होकर अन्धकारमय स्थिति में जड़वत् पड़ी रहती है। जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय रहने पर भी अन्धकार में दिखलाई नहीं पड़ता उसी प्रकार अज्ञानता रूपी अन्धकार से आच्छादित रहने के कारण आत्मा किसी प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने में असमर्थ रहती है। आत्मा की इस दयनीय स्थिति को ही केवलावस्था कहते हैं। चूँकि आत्मा स्वरूपतः नित्य शाश्वत चैतन्य तत्त्व है, यद्यपि आणवमल उसकी ज्ञान सत्ता को अज्ञानता रूपी अन्धकार के द्वारा आच्छादित कर देता है परन्तु उसे नष्ट करने में कदापि समर्थ नहीं होता। आवृत्त चैतन्य ईश्वर की कृपा से मलावरण दूर होने पर पुनः प्रकाशित हो जाता है, क्योंकि तत्त्वतः आत्मा नित्य शाश्वत चैतन्य सत्ता है। ज्ञान ही उसका स्वरूप है–वेदागम, श्रुति-प्रमाण इसे प्रतिपादित करते हैं।

पद नं. ३४

भावानुवाद

(यदि ऐसा कहा जाय कि) आणव मल नहीं है, केवल माया एवं कर्म ही विद्यमान रहेंगे। पूर्व जन्म में सभी जीव अनेक पाप एवं पुण्य को अर्जित करते हैं, ईश्वर उसी के अनुसार तनु, करण, भुवन, भोग, देह, तत्त्व, अन्न, स्थान इत्यादि प्रदान करता है फिर उनके द्वारा पाप-पुण्य अर्जित किये जाते हैं तब कर्म-साम्य होता है और ईश्वर अपनी कृपा से सभी कर्म एवं माया को दूर कर देता है। अतः मल पास में आ ही नहीं सकता, आत्मा उस महान प्रकाश को प्राप्त करती है जो सदैव ही विद्यमान हैं, कैसे ऐसा कहा जा सकता है–लेखक प्रश्न पूछता है।

उक्त पद में श्री उमापति शिवाचार्य ने मूल-मल-आणवमल के अस्तित्त्व के संदर्भ में यह प्रश्न उत्थापित किया है कि ईश्वर प्रदत्त दो पाश माया, कर्म एवं उनके कार्य सृष्टि में प्रत्यक्षीभूत होते हैं। इन दो पाशों में आबद्ध होकर जीव–जिन कार्यों को सम्पादित करता है उन कार्यों के परिणाम निरन्तर प्राप्त होते रहते हैं। कर्म एवं कर्मफल का चक्र बीज एवं

वृक्ष की तरह चलता रहता है। कर्म के परिणाम को प्राप्त करने के लिए ही जीव को मायापाश में आबद्ध होना पड़ता है। यह संसार कर्मभूमि है। कर्म का यह क्षेत्र माया निर्मित है। जीव इस परिवर्तनशील संसार में निरन्तर कायिक, वाचिक एवं मानसिक कर्मों को करता रहता है। जीवन की कोई भी स्थिति बिना कर्म से उत्पन्न नहीं हो सकती है। कर्म ही परिवर्तनशीलता का माध्यम है। कर्म-सिद्धान्त के आधार पर ही सृष्टि में सभी प्रकार की गतिशीलता, क्रियाशीलता उद्दीपना, उत्तेजना, प्रेरणा इत्यादि विद्यमान रहते हैं। कर्म के नियम के कारण ही जगत विभिन्न स्थितियों में प्रवहमान होता है। मनुष्य अपने कर्मानुसार ही परिणाम को प्राप्त करता है एवं परिणाम को प्राप्त करने के संदर्भ में पुनः कर्म करता है जो क्रमशः फलप्रसू होता है। भूतकाल में किये गये कर्मों के परिणाम वर्तमान एवं भविष्य में प्राप्त होते हैं तथा वर्तमान में किये गये कर्मों के फल को भी हम भविष्य में प्राप्त करते हैं। इस प्रकार कर्म एवं कर्म-फल के माध्यम से हमारे भूत, वर्तमान एवं भविष्य जुड़े हुए हैं। कर्मफल सृष्टि प्रक्रिया में विद्यमान है यह अवश्यम्भावी नियम है जिसके अंतर्गत प्रत्येक जीव को रहना होता है। माया, कर्म के इस नियम को प्रतिफलित करने के साधन एवं क्षेत्र दोनों प्रदान करती है। तनु, करण रूपी साधन के माध्यम से जीव कर्मों को सम्पादित करता है। भुवन एवं भोग क्षेत्र हैं जिसमें कर्म सम्पादित किये जाते हैं। अर्थात् माया द्वारा उत्पन्न तनु, करण भुवन, भोग एवं अन्यान्य सभी सूक्ष्म तथा स्थूल सृष्टि के सहयोग से कर्म का नियम इस संसार मे प्रतिफलित होता है। माया एवं कर्म की ये अभिव्यक्तियाँ सृष्टि प्रक्रिया में अनुभूत होती हैं परन्तु मूल-मल आणवमल के अस्तित्त्व की प्रत्यक्षता इस प्रकार से अनुभूत नहीं होती। इसीलिए यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या आणवमल के अस्तित्त्व को स्वीकार करना आवश्यक है? इसके अस्तित्त्व का क्या कारण हैं? इसके अस्तित्त्व को स्वीकार किये बिना माया एवं कर्म के माध्यम से क्या सृष्टि प्रपंच की व्याख्या नहीं हो सकती?

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ईश्वर, माया एवं कर्म को जीवों को प्रदान करता हुआ इस विश्व प्रपंच की सृष्टि कर उसमें जीवों को अवस्थित कर देता है। शैव सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया सोद्देश्यमूलक है। आणवाधृत जीवों को अज्ञानता के अन्धकार से मुक्ति प्रदान करने के लिए ही ईश्वर सृष्टि करता है। आत्मा चैतन्य स्वरूप है, परन्तु आणवमल से उसका चैतन्य स्वरूप सम्पूर्ण आच्छादित रहने के कारण वह जड़वत् (निष्क्रिय) स्थिति में रहती है। इस अज्ञानतामूलक स्थिति से ज्ञान के प्रकाश को उद्भासित करने के उद्देश्य से ही चित् शक्ति सृष्टि करती है। विभिन्न अनुभवों को प्राप्त करती हुयी आत्मा चित् शक्ति की अनुप्रेरणा से क्रमशः विषयों के सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करती है। नित्य-अनित्य वस्तु के विवेक ज्ञान को प्राप्त करती है। असत्य से सत्य की ओर उन्मुख होती है एवं अन्ततः ईश्वर-कृपा से परम पद को प्राप्त करती है। ये सारी

प्रक्रियायें आत्मा को आणवमल के आवरण से मुक्ति दिलाने के लिए ईश्वर द्वारा परिचालित होती है। प्रश्न यह उठता है कि यदि आत्मा अपने मूल स्वरूप में अर्थात् ज्ञान स्वरूप में अवस्थित होती तब इतनी विशद् प्रक्रिया की क्या आवश्यकता होती? अतः यह स्पष्ट है कि मल आणव के द्वारा आत्मा आवृत है, जिससे अनादि काल से आत्मा के चैतन्य स्वरूप पर अज्ञानता का आवरण पड़ा हुआ है। आत्मा की इस दयनीय स्थिति से ही परम कृपालु ईश्वर सृष्टि कार्य में प्रणोदित होता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर द्वारा संपादित पंचकृत्य आत्मा के प्रति ईश्वर की कृपा की अभिव्यक्ति हैं, जो मलाधृत आत्मा को मुक्ति प्रदान करने के निमित्त संपादित किये जाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि मूल-मल के रूप में आणवमल के अस्तित्त्व को स्वीकार करना आवश्यक है जो एक प्रकार से ईश्वर की कृपा शक्ति को उज्जीवित करने का कारण बनता है। यद्यपि सृष्टि प्रक्रिया माया एवं कर्म के द्वारा संपादित ईश्वर की लीला है परन्तु इस लीला के कारण आत्मा को मल परिपाक एवं कर्म साम्य की स्थिति प्राप्त होती है तथा उपयुक्त अवसर में तीव्र-शक्ति-निपात द्वारा ईश्वर मलावरोध को दूर कर देता है। कृपा-स्वरूप ईश्वर की प्रत्येक क्रिया आत्मा के लिए शुभफलदायक होती है। अतः मलावरोध का रहना एवं ईश्वर की लीला के द्वारा उसका दूर होना शैव-सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक तथ्य है, जो अत्यन्त तर्कपूर्ण एवं व्यापक तथा गहन अध्यात्मिक चिन्तन का परिचायक है। इस सन्दर्भ में यह कहना आवश्यक है कि मात्र माया एवं कर्मपाश से आबद्ध होकर आत्मा जन्म-जन्मान्तर के चक्र में आवर्तित नहीं हो सकती। आणवमल ही वह मूल अज्ञानता है, जिससे मोह राग, द्वेष इत्यादि उत्पन्न होते हैं जो आत्मा को माया-कर्म से आबद्ध करने के कारण हैं। ईश्वर-कृपा ही इस बन्धन का एकमात्र निदान है। तिरोधान-शक्ति के रूप में आच्छादित रहकर ईश्वर कृपा ही, अन्तःसलिला की तरह प्रवाहमान होती है जो क्रमशः आत्मा को अज्ञानता के आवरण को दूर करती हुई ज्ञान-प्रकाश से सिंचित करती है। जिसके परिणामस्वरूप मल-परिपाक एवं कर्म साम्य की स्थिति उत्पन्न होती है। यही वह उपर्युक्त अवसर है जब तीव्र-शक्ति-निपात से आणवमल निष्प्रभ हो जाता है, एवं आत्मा अपनी मूल स्थिति ईश्वर-चैतन्य में अवस्थित होकर अनन्त आनन्दानुभूति का उपभोग करती है।

पद नं. ३५

भावानुवाद

माया अथवा कर्म–कौन सा प्रथम आता है? पहले ताड़ का पेड़ आता है अथवा बीज? यह भ्रम उत्पन्न होता है। क्योंकि माया एवं कर्म शुद्ध पवित्र आत्मा में आते हैं? यदि यह कहा जाय कि ऐसा ही इनका स्वभाव है, तब वे मोक्ष में भी साथ रहेंगे। तब

तो मोक्ष कहने की आवश्यकता भी नहीं है, जो कुछ बताया गया है उन्हें त्याग दो। कल इत्यादि इकतीस तत्त्व हैं जो उसे (आत्मा को) ज्ञान प्रदान करते हैं। तब तुम आत्म-तत्त्व का ज्ञान क्यों नहीं प्राप्त करते हो? माया-कर्म एवं आणव तीनों ही व्यापक है, इसलिए हम आत्म तत्त्व का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। अगर यह कहा जाय कि यह अज्ञानता है तो (स्वीकार्य है कि) वह अज्ञानता ही आणव मल है। जिनको शास्त्रों का ज्ञान है वे ही सुनिश्चित करते हैं कि यह आणव मल है।

उक्त पद में श्री उमापति शिवाचार्य पूर्व पद के विवेचन को ही दूसरे दृष्टिकोण से विस्तृत रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। माया एवं कर्म ये दोनों ही सृष्टि प्रपंच के आवश्यक तत्त्व हैं। इन दो तत्त्वों के पूर्वापरक्रम का प्रश्न उत्पन्न होता है कि आत्मा के साथ पहले माया का संयोग हुआ अथवा कर्म का। इस समस्या का समाधान अत्यन्त ही कठिन है, क्योंकि माया एवं कर्म के क्रम को दार्शनिकों ने कहा कि बीज से पेड़ की उत्पत्ति हुई, अथवा पेड़ से बीज की। कर्मवाद के नियमानुसार कर्मफल को प्राप्त करने के संदर्भ में माया निर्मित तनु, करण, भुवन भोग की आवश्यकता है। पुन: इन सूक्ष्म तथा स्थूल साधन एवं आधार के माध्यम से तथा इनमें विद्यमान रहकर ही जीव विभिन्न प्रकार के कर्मों को सम्पादित करता है, अत: माया एवं कर्म के पूर्वापरक्रम का विवेचन करना समस्यामूलक है। इसीलिए दार्शनिकों ने सृष्टि को ही अनादि बताया है। अनादि काल से आत्मा आणवाधृत है एवं सृष्टि प्रक्रिया में माया-कर्म पाश के द्वारा आबद्ध है। वास्तव में इस सन्दर्भ का विवेचन काल के परिप्रेक्ष्य में नहीं हो सकता क्योंकि सृष्टि काल के अंतर्गत नहीं है, वरन् काल ही सृष्टि के अंतर्गत है। यही कारण है कि दार्शनिकों ने पूरे प्रसंग का विवेचन तार्किक दृष्टिकोण से ही किया है। आणवमल वह सहज मल है जो चैतन्य-स्वरूप आत्मा को अज्ञानता के अन्धकार में आच्छादित कर देता है। इस अज्ञानता से अपने को मुक्त कर पाना आत्मा के स्वत: प्रयास से सम्भव नहीं है क्योंकि अज्ञानाच्छादित आत्मा न तो अपनी अज्ञानता के बारे में सचेत है और न ही उसे सत्य की कोई चेतना है। वह तो मूल मल के प्रकोप से जड़वत् स्थिति में रहती है। सर्वज्ञ ईश्वर को उसके मूल स्वरूप का ज्ञान एवं इस दयनीय स्थिति से उसे उद्धार करने का उपाय इत्यादि सब कुछ ज्ञात है एवं सर्वशक्तिमान ईश्वर पंचकृत्य के माध्यम से आत्मा को क्रमश: उसकी मौलिक स्थिति, सत्य स्वरूप को प्रदान करता है। अत: आत्मा का आणव मलाधृत स्थिति में होना ही ईश्वरीय प्रेम के उद्रेक करने का अपरोक्ष सहज कारण है। इन सब तात्त्विक विषयों का विवेचन पूर्वापर क्रम के संदर्भ में नहीं हो सकता। इन्हें तार्किक दृष्टिकोण से ही समझा जाना चाहिए। सन्त उमापति इस विवेचन में और एक प्रश्न उत्पन्न कर रहे हैं, वह यह है कि इन तीन पाशों में क्या सम्बन्ध है? एवं आत्मा की आध्यात्मिक जीवन-यात्रा में इनकी क्या भूमिकायें हैं? बन्धन तथा मोक्ष की स्थिति में आत्मा के साथ इनका किस प्रकार का सम्बन्ध है? इस सन्दर्भ में विवेच्य है कि आणवमल जिसे मूलमल एवं सहजमल

कहा जाता है, अज्ञानरूपी अन्धकार है। यह अनादिकाल से आत्मचैतन्य को आच्छादित करता हुआ उसे (आत्मा को) अज्ञानान्धकार में डुबो देता है। सृष्टि एवं प्रलय किसी भी स्थिति में वह आत्मा के लिए कोई अनुकूल परिणाम उत्पन्न नहीं करता। यह सम्पूर्ण रूप से आवरण स्वरूप है। आणवमल द्वारा उत्पन्न अवरोध को दूर करने के लिए ही ईश्वर मायाकर्म नामक दो तत्त्वों से आत्मा को संयुक्त करता हुआ इस सृष्टि प्रपंच में अनुभुक्ति के रूप में विद्यमान कर देता है। ईश्वर प्रदत्त एवं संचालित मायाकर्म यद्यपि पाश है परन्तु वे आणवमल की तरह सम्पूर्ण अज्ञानान्धाकार रूप नहीं है। ईश्वर द्वारा संचालित होने के कारण जड़ या अचेतन होने पर भी इनमें प्रकाशकत्व रहता है। माया कर्म के माध्यम से अथवा उसकी सहायता से आत्मा तत्त्व ज्ञान को प्राप्त करने के योग्य बनती है। ईश्वरशक्ति ही माया-कर्म का प्रयोग इस रूप में करती है कि आत्मा की आध्यात्मिक यात्रा में अपरोक्ष रूप से ये सहायक सिद्ध होते हैं यही कारण है कि पाश होने पर भी माया ईश्वर की "परिग्रह शक्ति" कहलाती है। अत: आत्मा के जीवन में माया-कर्म की भूमिका आणवमल से कुछ भिन्न है। आणवमल सम्पूर्ण अन्धकार है। जिससे प्रकाश प्राप्त करने की कोई सम्भावना नहीं रहती। परन्तु मायाकर्म कुछ अंश में ज्ञान-प्रकाश को प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होते हैं। आणवमल के विषवत् परिणाम को दूर करने के लिए ही ईश्वर माया कर्म का उपयोग करता है। यह काँटे की सहायता से काँटे को दूर करने की तरह है (कण्टकेनैव कण्टकम्)। जिस प्रकार रजक वस्त्र के मैल को दूर करने के लिए दूसरे मल का उपयोग करता है एवं अन्तत: सभी मैलों को धोकर परिष्कृत कर देता है, उसी प्रकार ईश्वर आणवमल के प्रभाव से आत्मा को मुक्त करने के लिए माया एवं कर्म का उपयोग करता है एवं अन्तत: अपनी कृपा शक्ति से सभी मैलों को दूर कर देता है। अत: पाश होने पर भी माया कर्म आणवमल की तरह सम्पूर्ण अज्ञानान्धाकार रूप नहीं है। माया, कर्म अपरोक्ष रूप से आत्मा को सत्यासत्य ज्ञान प्राप्त करने में सहयोग प्रदान करते हैं। माया से उत्पन्न विभिन्न प्रकार के 'कल' आत्मा से विभिन्न अवस्थाओं में संयुक्त होते हैं। चूँकि माया अचेतन है इसीलिए यह आत्मचैतन्य में व्याप्त रहती है। व्यापकता ही इसका स्वभाव है। पुन: कर्म, क्रियाशीलता, परिवर्तनशीलता का आधार या माध्यम है, जिससे प्रेरित होकर आत्मा निरन्तर माया-जनित विषयों में लिप्त रहती है। ये दोनों पाश भिन्न-भिन्न अवस्थान्तरों से विषयों का उपभोग करवाकर आत्मा को सत्य की ओर उन्मुख होने में सहायक सिद्ध होते हैं परन्तु आणवमल की ऐसी कोई भूमिका नहीं है। आणवमल स्वरूपत: अज्ञानमूलक अन्धकार है जो आत्मा के ज्ञान स्वरूप को आच्छादित ही करता है। इसका कार्य सम्पूर्ण प्रतिकूल एवं नकारात्मक है। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या मोक्ष में इन तीनों पाशों की अवस्थिति रहती है? इस सन्दर्भ में बताया गया है कि मोक्ष ईश्वरशक्ति का पूर्णाविर्भाव है अत: सच्चिदानन्द के प्रकाश में इन सब पाशों की कोई सक्रियता नहीं रहती। माया एवं कर्म, जो ईश्वर-शक्ति द्वारा प्रयुक्त होते हैं, चित् शक्ति के आविर्भाव से सम्पूर्ण रूप से

निवृत्त या विरत हो जाते हैं एवं आणवमल जो अज्ञानता का आवरण उत्पन्न करता है वह चित् शक्ति के आविर्भाव से सम्पूर्ण निष्क्रिय, निष्प्रभ एवं शक्तिहीन हो जाता है। ईश्वर शक्ति वह सर्वव्यापक चैतन्य है जो आत्म-चैतन्य को आप्लावित कर देती है। अत: मोक्ष की इस स्थिति में आत्मा इन पाश-बन्धनों से मुक्त होकर सदा के लिए ईश्वरीय चैतन्य में अवस्थित हो जाती है ऐसा तत्त्वज्ञ व्यक्तियों का कहना है।

पद नं. ३६

भावानुवाद

किसी-किसी का कहना है कि माया ही अज्ञानता है, तो कोई कर्म को अज्ञानता मानता है परन्तु वास्तव में आणवमल जो आत्मा को आच्छादित करता है वही अज्ञानता है। ईश्वर की कृपा से ही उसे (आणवमल को) समझा जा सकता है। उसे जानने के उपरान्त ही उससे मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। ज्ञान से ही आणव मल का ज्ञान होता है एवं उसे दूर किया जा सकता है। यह प्रक्रिया ही ईश्वर की कृपा है। आणव मल सहज मल है, जबकि कर्म एवं माया आगन्तुक मल है। चार प्रकार के धर्म हैं–बाह्य, बाह्यतम, आन्तर एवं आन्तरतम। इनके परे ही सिद्धान्त शैव है। प्रत्येक के छ: भाग हैं अत: कुल चौबीस भाग हैं। सिद्धान्तत: शैव दर्शन इन चौबीसों से भिन्न तथा परे है।

इन तीन पाशों के संदर्भ में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वास्तव में अज्ञानता, जो कि बन्धन का मूल कारण है किस पाश से उत्पन्न होती है। इस संदर्भ में शैव सिद्धान्त का उत्तर निश्चित एवं निर्णयात्मक है। शैव सिद्धान्त के अनुसार आणव मल ही वह सहज मल है जो अनादि काल से चैतन्य स्वरूप आत्मा की ज्ञान सत्ता को आवरित करता हुआ इसे जड़वत् स्थिति को प्राप्त कराता है जिससे उसे अपनी अज्ञानता का भी बोध नहीं रहता। अर्थात् वह अपनी चैतन्य सत्ता को तो भूल ही जाती है एवं आणवरूपी आच्छादन के बारे में भी सचेत नहीं रहती। आणव का प्रभाव आत्मा के ऊपर इतना व्यापक रूप से पड़ता है कि उसकी ज्ञान सत्ता ही सम्पूर्ण रूप से आच्छादित हो जाती है एवं आत्मा स्वयं अपने प्रयास से उसे दूर भी नहीं कर सकती, क्योंकि अज्ञानता से आवरित होकर वह अचेतनवत् हो जाती है। इसे इस स्थिति से उद्धार करने के लिए ही परम-कृपालु ईश्वर माया उपादान के द्वारा सृष्टि करता हुआ कर्म के नियम को प्रदान कर देता है। इन दोनों से संयुक्त होकर भिन्न-भिन्न अनुभवों के माध्यम से आत्मा में मल परिपाक होते हैं। आणव मल का बन्धन इतना व्यापक एवं सशक्त है कि परिपक्व हुए बिना वह आत्मा से छूट नहीं सकता। जैसे–फल पेड़ से परिपक्व होने पर ही आसानी से अलग किए जा सकते हैं उसी प्रकार परिपक्व स्थिति में ही आत्मा के मल का विमोचन सम्भव हो सकता है। जैसे–आँख का मोतियाबिन्द

पूर्ण रूप से परिपक्व होने के बाद ही आँख से अलग किया जा सकता है उसी प्रकार से आणवाधृत आत्मा को मल के दुष्प्रभाव से मुक्त कराने के लिए भी मल की परिपक्वता की आवश्यकता है। यह परिपक्वता अनुभव सापेक्ष है। माया से उत्पन्न विभिन्न विषयों के माध्यम से अज्ञान-प्रसूत अपने ही कर्मफलों का निरन्तर उपभोग करती हुई आत्मा, विषयों के सम्यक ज्ञान को प्राप्त करती है। सत् एवं असत् के सम्यक् विवेचन से आत्मा असत्, परिवर्तनशील, अनित्य निःसार तत्त्वों को छोड़कर अपरिवर्तनीय, नित्य, शाश्वत, तत्त्व का अन्वेषण करती है। इस स्थिति में वह अनित्य दुःखपूर्ण सांसारिक विषयों से सम्पूर्ण विमुख होकर सच्चिदानन्द की ओर अत्यन्त व्याकुलता से उन्मुख होकर उसकी कृपा की प्रतीक्षा करती है। यह सत्य है कि आत्मा इस विश्व-प्रपंच को निस्सार समझती हुई अपने प्रयत्न से मूल-मल आणवमल से छुटकारा पा नहीं सकती। आणवमल के प्रभाव से मुक्त होने के लिए ईश्वर की कृपा-शक्ति अवश्याम्भावी रूप से आवश्यक है। कृपाशक्ति ही वह प्रकाश है जो आत्मा को केवल ज्ञान-प्रकाश से प्रकाशित नहीं करती वरन् आणवमल से लेकर सभी विषयों के सत्य-स्वरूप को प्रकाशित करती है। मल के परिपाक से ही क्रमशः कर्म-साम्य, अर्थात् दोनों प्रकार के कर्मों के प्रति निःस्पृहता का भाव उत्पन्न होता है। यही वह उपयुक्त अवसर है जब तीव्र कृपा-शक्ति का आविर्भाव होता है एवं आत्मा से अज्ञानता का आवरण सदा के लिए दूर हो जाता है। माया एवं कर्म ये दोनों आगन्तुक पाश कहे जाते हैं। जैसा कि पहले बताया गया है कि कन्टक के उपयोग से ही पीड़ा उत्पन्न करने वाले कन्टक को दूर किया जाता है। ये दोनों ही एक प्रकार से आत्मा की आध्यात्मिक प्रगति में सहयोग प्रदान करते हैं। परन्तु यह निश्चित है कि शक्ति ही मात्र अज्ञानता के अन्धकार को दूर करने में समर्थ होती है। उक्त विवेचन के द्वारा शैव-सिद्धान्त अपनी विशिष्टता को प्रतिपादित करता है। इस दर्शन के अनुसार आणवमल ही मूल अज्ञान है, जो आत्मा के लिए बन्धन उत्पन्न करता है, अन्य पाश अर्थात् माया एवं कर्म आगन्तुक है, जिनके माध्यम से अज्ञानता को दूर करने में सहयोग प्राप्त होता है। एकमात्र चित् शक्ति ही अज्ञानता का प्रतिषेधक है; वह सर्वव्यापक ज्ञान है जिसे प्राप्त कर आत्मा केवल आत्मज्ञान को ही प्राप्त नहीं करती वरन् सभी विषयों के सत्यस्वरूप के ज्ञान को प्राप्त करती है। चित् शक्ति ही पर ज्ञान है, अन्य सभी अपर-ज्ञान हैं। चित् शक्ति से ही पर तत्त्व-ईश्वर तत्त्व का ज्ञान हो सकता है। अन्य सभी विषय माया-कर्मजनित हैं, इसीलिए वे पाशज्ञान, अपरज्ञान के अंतर्गत है। चित्-शक्ति सर्वव्यापक ज्ञान होने के कारण अपर एवं पर सभी विषयों के स्वरूपज्ञान को प्रदान करती है। यही एकमात्र उपाय है, जिससे सच्चिदानन्द को प्राप्त किया जा सकता है। उक्त विवेचन में शैव-सिद्धान्त के निजस्व एवं विशिष्टतापूर्ण दृष्टिकोण प्रतिष्ठित होते हैं।

उक्त पद में उमापति-शिवाचार्य ने अन्य विषय का भी विवेचन प्रस्तुत किया है।

दार्शनिक तत्त्व-विचार के विभिन्न सिद्धान्तों से शैव-सिद्धान्तों के तुलनात्मक सम्बन्ध का निर्णय किया गया है। कई सिद्धान्त ऐसे हैं जो शैव-सिद्धान्त दर्शन से सम्पूर्ण विपरीत दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हैं, उन्हें 'बाह्यतम' दृष्टिकोण कहा गया है। कई ऐसे हैं जो सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं, उन्हें 'बाह्य' कहा जाता है। परन्तु कई सिद्धान्त ऐसे हैं जिनसे शैव-सिद्धान्त की समानता है, एवं समान आधारभूत मान्यताओं के ऊपर आधारित है। उन्हें 'आन्तरतम' सिद्धान्त कहा जाता है। निम्नलिखित तालिका से इसका विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है–

बाह्यतम सिद्धान्त

लोकायत, बौद्ध एवं जैन धर्म मत जो वेद तथा शैवागम की प्रमाणिकता को नहीं मानते हैं।

बाह्य सिद्धान्त

तर्क (न्याय एवं वैशेषिक दशैन), पूर्व-मीमांसा, ऐकात्मवाद वेदान्त अर्थात (मायावाद) सांख्य, योग पंचरात्र आदि दर्शन केवल वेद को प्रामाणिक मानते हैं।

आन्तर-सिद्धान्त

पाशुपत, महाव्रत, कल्प, वाम, भैरव और ऐक्यवाद वेद तथा शैवागम की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं, तथा मनुष्य के कर्मों की आलोचना करते हुए पवित्र कर्म की मान्यता प्रदान करते हैं।

आन्तरतम-सिद्धान्त

पाषाणवाद, भेदवाद, शिव साम्यवाद, शिवाद्वैतवाद, शिव संक्रान्तवाद, ईश्वर-अविकार वाद वेद तथा शैवागम के प्रमाणिकता को अपने दर्शन में स्थान देते हैं।

उपरोक्त वर्गीकरण से यह स्पष्ट है कि चार्वाक, बौद्ध एवं जैन दर्शन जो वेदागम की प्रमाणिकता को न मानने के कारण नास्तिक दर्शन माने जाते हैं, शैव सिद्धान्त के 'बाह्यतर सिद्धान्त' के रूप में समझे जाते हैं अर्थात् इन दर्शनों को सम्पूर्ण भिन्न दृष्टिकोण सम्पन्न माना जाता है। 'बाह्य सिद्धान्त' के अंतर्गत शैव-दर्शन के अतिरिक्त अन्यान्य वेदानुकूल हिन्दू दर्शन आते हैं। न्याय-वैशेषिक इत्यादि षड्दर्शन, पंचरात्र दर्शन–ये सभी वेदानुकूल हिन्दू दर्शन के अंतर्गत हैं। परन्तु शैव-सिद्धान्त से भिन्न दार्शनिक विवेचन का प्रतिपादन करने के कारण इन्हें 'बाह्य सिद्धान्त' माना गया है। पाशुपत, महाव्रत, कल्प, वाम, भैरव एवं ऐक्यवाद शिव शासन के ही भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं। इन शैव दर्शनों को 'आन्तर-सिद्धान्त' माना गया है। चतुर्थ अथवा अन्तिम विभाजन में शैव दर्शन के ही ऐसे

सिद्धान्त आते हैं जिनके दार्शनिक विवेचन से शैव-सिद्धान्त की पर्याप्त समानता पायी जाती है। इन सिद्धान्तों में पाषाणवाद, भेदवाद, शिव साम्यवाद, शिवद्वैतवाद, शिव संक्रान्तवाद, ईश्वर-अविकारवाद इत्यादि मुख्य हैं। शैव दर्शन के ये दृष्टिकोण विभिन्न विषयों में शैव सिद्धान्त से समानता रखने वाले हैं इसीलिए ये 'आन्तरतम सिद्धान्त' कहे जाते हैं। उक्त चार वर्गों में और अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों के नाम भी प्राप्त होते हैं, परन्तु वे सिद्धान्त अभी विशद रूप से पाये नहीं जाते।

पद नं. ३७—सकलावस्था

भावानुवाद

आणव मल को दूर करने के लिए ईश्वर की कृपा से अनादि माया एवं कर्म वैसे ही युक्त होते हैं, जैसे—दीपक में ज्योति-प्रज्वलित करने के लिए दीपक में तेल बत्ती इत्यादि का संयोग होता है। आत्मा भी शुद्ध एवं अशुद्ध तत्त्व के संयोग से अपनी ज्योति को क्रमशः प्राप्त करती है एवं जब ईश्वर की कृपा आविर्भूत होती है तब आणव मल अपने को छिपा लेता है। इसी तरह से आणव मल एवं माया अंधकार एवं प्रकाश की तरह है (प्रश्न है) यह परिवर्तन क्यों है? (उत्तर है) यह स्वभाव है। मूलाधार चक्र में बिन्दु शक्ति विद्यमान है, वहाँ से परम उज्ज्वल अवर्णनीय ज्ञानमय ज्योति, आत्म स्वरूप, अतुलनीय, सूक्ष्म वाक् उत्पन्न होती है एवं तुरीय (ज्ञान चक्र) को जाती है।

उक्त पद में श्री उमापति शिवाचार्या ने पाश-बन्धन, तीनों पाशों का तुलनामूलक विवेचन, कृपाशक्ति की महत्ता एवं आत्मा में चित्-शक्ति के अवस्थान के सन्दर्भ में विवेचन प्रस्तुत किया है जैसा कि पूर्व पदों में स्पष्ट किया गया है आणवमल की अज्ञानता से आत्मा को मुक्त करने के लिए ही ईश्वर माया द्वारा विभिन्न तत्त्वों को उत्पन्न करता हुआ आत्मा को इस विश्व-संसार में माया एवं कर्मों के नियम से सम्बद्ध कर देता है। ईश्वर द्वारा संचालित सृष्टि प्रक्रिया में आत्मा इन नियमों के अधीन होकर विविध प्रकार के अनुभवों को प्राप्त करती है ये अनुभव प्रकाशोद्बोधक हैं। आणवाधृत आत्मा अज्ञानता के आवरण के कारण जड़वत् रहती है। माया-कर्म के संयोग से ही उसमें ज्ञानात्मक गतिशीलता उत्पन्न होती है। सन्त उमापति आत्मा की इस स्थिति की तुलना एक दीपक से करते हैं, जैसे—तेल, बत्ती इत्यादि के संयोग से दीपक प्रकाशमान् होता है एवं उस प्रकाश से अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता हुआ वह स्वयं भी उद्भासित होता है उसी प्रकार माया कर्म से संयुक्त होने के फलस्वरूप आत्मा में अन्य विषयों के ज्ञान के साथ 'आत्म स्वरूप' का भी बोध उत्पन्न होता है। जैसे—तेल-बत्ती इत्यादि में स्वतंत्र रूप में प्रकाशकत्व विद्यमान नहीं रहता परन्तु संयोगवश प्रकाश उत्पन्न होता है उसी प्रकार माया-कर्म स्वतन्त्र रूप से अचेतन एवं पाश रूप है परन्तु चित्-शक्ति के संचालन के कारण

आत्मा से संयुक्त होकर वे आत्मा में प्रकाशकत्व उत्पन्न करते हैं। इस संदर्भ में यह स्पष्ट है कि आणवमल जो अन्धकारमय अज्ञानता है यह कदापि प्रकाशकत्व को उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध नहीं होता वरन् उससे उत्पन्न अन्धकारमय अज्ञानता को दूर करने के लिए ही माया-कर्म के संयोग की आवश्यकता होती है। चूँकि माया–कर्म शिव-शक्ति के द्वारा संचालित होते हैं एवं आत्मा में ज्ञान को प्रकाशित करने में सहायक सिद्ध होते है, इसीलिए ये ईश्वर की 'परिग्रह' शक्ति कहे जाते है। माया से आत्मा को उपभोग के विभिन्न सामग्री एवं साधन प्राप्त होते हैं तथा कर्म के नियम के आधार पर आत्मा उन सबों का अनुभव प्राप्त करती रहती है। यही तीनों पाशों के स्वभाव की भिन्नता है। माया-कर्म के संयोग से भिन्न-भिन्न अनुभवों को प्राप्त करते हुए जब मल परिपाक होता है अर्थात् आणवमल का बन्धन शिथिल हो जाता है तब चित्-शक्ति के आविर्भाव से अज्ञानान्धकार तिरोहित हो जाता है। चित् शक्ति ही एकमात्र तत्त्व है जो आणवमल के प्रभाव को सम्पूर्ण रूप से निष्क्रिय एवं निष्प्रभ कर देती है। चित् शक्ति सदा प्रज्ज्वलित ज्ञान शक्ति है। इसके आविर्भाव से आणवरूपी अज्ञानता कभी स्थायी नहीं हो सकती, जैसे सूर्य का प्रकाश रात्रि के अन्धकार को दूर कर देता है उसी प्रकार चित्-शक्ति आत्मा से अज्ञानता रूपी अन्धकार को दूर कर देती है, यद्यपि केवल चित् शक्ति के आविर्भाव से ही आणवमल से उत्पन्न अज्ञानता दूर हो सकती है, परन्तु आविर्भाव की स्थिति को उत्पन्न करने के लिए ही माया-कर्म की आवश्यकता होती है। इसीलिए उक्त पद में माया कर्म को आणव के विपरीत प्रकाशतत्त्व के कारण सहायक सिद्ध होते हैं। माया से उत्पन्न मायेय अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार की सूक्ष्म तथा स्थूल सृष्टि-प्रक्रिया में विद्यमान रहते हैं परन्तु इन परिवर्तनशील विषयों को धारण करने के लिए अपरिवर्तनीय आधारभूत सत्ता आवश्यक है। जो इन तत्त्वों की विशिष्टताओं को सार-भूत रूप में अपने अन्दर धारण करती हुई इनके परे अपने सर्वव्यापक चैतन्य के रूप में विद्यमान रहती है। इस अन्तर्भूत सार तत्त्व को ही बिन्दु-शक्ति कहा गया है। ईश्वर, जो सृष्टि का निमित्त कारण है, अशुद्ध माया के ऊपर क्रियाशील नहीं हो सकता, क्योंकि अशुद्ध माया से सुख एवं दुःख उत्पन्न करने वाली सापेक्ष-स्थिति उत्पन्न होती है, जिसमें स्थूल सांसारिक विषयों के अनुभव होते रहते हैं, अतः इन सापेक्ष स्थूल विषयों के कर्ता के रूप में अनन्तदेव का ही आधिकारिक कर्तृत्व रहता है। शिव-शक्ति के संचालन से सृष्टि प्रक्रिया में तीन अवस्थाओं की उत्पत्ति होती है। (१) अधिकार, (२) भोग, (३) लय। उक्त तीनों का विवेचन एक ऐसे तत्त्व के सन्दर्भ में ही किये जा सकते हैं जो तीन अवस्थाओं को प्राप्त हो सकते हैं। वह तत्त्व ही बिन्दु-तत्त्व है। बिन्दु तत्त्व ईश्वर की वह उपाधि है जो उक्त तीन अवस्थाओं के माध्यम से प्रकाशित होती है। बिन्दु की तीन अवस्थाओं के रूप में शिव-शक्ति सृष्टि को प्रकाशित करती है। बिन्दु तत्त्व जब विकासोन्मुख होता है एवं चित्-शक्ति जब उस पर क्रियाशील होने के लिए तत्पर होती है तो वह भोग की स्थिति कहलाती है। तदनन्तर बिन्दु से अन्य

कार्य की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् बिन्दु सृष्टि के लिए तत्पर हो जाता है, यह स्थिति चित्-शक्ति के "अधिकार" की स्थिति है। इस स्थिति में चित्-शक्ति, बिन्दु तत्त्व एवं उसके प्रकाशन के ऊपर अधिकार स्थापित करती हुई उसका संचालन करती है। जब बिन्दु में सभी तत्त्व अव्यक्त कारण रूप में विद्यमान रहते हैं एवं अभिव्यक्ति अथवा प्रकाशन की कोई सक्रियता नहीं रहती, तो उसे लय की स्थिति कहते हैं। बिन्दु शुद्धाध्व का कारण हैं। शुद्ध तत्त्व बिन्दु से ही विकसित होते हैं। शुद्धाध्व को माया उत्पन्न नहीं कर सकती क्योंकि माया अचेतन तथा राग, द्वेष को उत्पन्न करने वाली है। इसीलिए माया से कल, कल से पृथ्वी तक अशुद्ध तत्त्व उत्पन्न होते हैं। परिमाणतः आत्मा में पशुत्व आरोपित होता है। इस स्थूल माया तत्त्व से उज्जीवित विभिन्न प्रकाशनों के रूप में प्रेरित करने के लिए एक ऐसे तत्त्व की आवश्यकता है जो स्वयं निअवयव होते हुए माया को विभिन्न अवयवों में रूपान्तरित होने में अनुप्राणित कर सकता है। बिन्दु वह तत्त्व है, जो माया में इच्छा-शक्ति आरोपित करता है जिससे माया से दो प्रकार की सृष्टि होती है (१) अशुद्धाध्व एवं (२) शब्द तत्त्व। बिन्दु तत्त्व का और एक प्रमाण इस प्रकार से उपस्थित किया गया है–आत्मा स्वरूपतः चित् सत्ता है। यह चित्-सत्ता स्वभावतः सर्वव्यापी ईश्वरीय चैतन्य है अतः उसमें किसी प्रकार तारतम्य होने की कोई सम्भावना नहीं हो सकती परन्तु व्यवहार में आत्म-चैतन्य में जो भिन्नता उपलब्ध होती है उसके मूल कारण का अन्वेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि बिन्दु ही वह तत्त्व है जो आत्म-चैतन्य को सापेक्ष एवं सीमित बनाता है। चैतन्य की यह सापेक्षता कर्म के नियम पर आरोपित नहीं की जा सकती, क्योंकि सापेक्षता एवं सीमितता से प्रसूत कर्म से जो परिणाम उत्पन्न होता है, मनुष्य इसी माया से निर्मित सृष्टि में उसका उपभोग करता रहता है अतः यह स्पष्ट है कि माया-कर्म के संयोग से पूर्व आत्मा में ज्ञान की सापेक्षता उत्पन्न होती है। वास्तव में बिन्दु एवं उससे उत्पन्न नाद-जगत वह 'ज्ञापक-हेतु' है, जो आत्मा के लिए ज्ञान एवं अनुभवों की सापेक्षता, विभिन्नता, एवं सीमा को उत्पन्न करता है। शब्द एवं तत् सम्बन्धी ज्ञान परस्पर समवायी हैं। वर्ण का ध्वनित होना अर्थ-वाहक होता है अर्थात् वर्ण एवं अर्थ संयुक्त रूप से ध्वनि के माध्यम से प्रकाशित होते हैं। शब्द आन्तरिक वाणी के रूप में प्रकाशित होता है जो चैतन्य में अर्थ की चेतना को उत्पन्न करता है। यह शब्द आन्तरिक रूप से अन्तर्लीन भी होता है एवं बाह्य प्रकाशन के रूप में ध्वनित भी होता है। नाद के इन विभिन्न प्रकाशनों का मूल स्रोत बिन्दु तत्त्व है अतः यह स्पष्ट है कि बिन्दु तत्त्व, शब्द एवं उससे प्रतिपन्न अर्थ इन दोनों के ही कारण हैं। शब्द वास्तव में अर्थ का ही प्रतीक है जैसे–शुद्धाध्व बिन्दु तत्त्व से उत्पन्न होता है उसी प्रकार शब्द जगत भी बिन्दु तत्त्व से उत्पन्न, माया-कर्म से भिन्न शुद्ध सृष्टि है, ये दोनों ही इसीलिए दुःख रहित आनन्द के स्रोत हैं। बिन्दु रूपी एक ही आधार से ये दोनों कारण-शक्ति एवं ज्ञापक-शक्ति के रूप में प्रकाशित होकर इन्द्रियगोचर होते हैं। शुद्धाध्व में यह सूक्ष्म शुद्ध तत्त्व के रूप में विद्यमान

रहता है। मिश्राध्व में यह स्थूल उपाधि से युक्त होता हुआ अशुद्धाध्व में विभिन्न सापेक्ष इन्द्रियगोचर शब्द के रूप में प्रकाशित होता है। शिवागम के अनुसार उक्त शुद्ध नाद निष्कल होते हुए भी ईश्वर के ज्ञान शक्ति के करणाश्रय के रूप में प्रयुक्त होता है। इस शुद्धनाद के दस प्रकाशन माने जाते हैं–इन्द्रिका, दीपिका, रूचिका, मोचिका, ऊर्ध्व कामिनी, व्यापिनी, व्योमरूपा, अनन्ता, अनादि, अनाश्रिता। ये सूक्ष्म नाद के रूप में शिवागम के भी मूलाधार हैं, जो साध्व नाद के इस अतीन्द्रिय स्वरूप को प्राप्त करने की साधना करता है, यह नाद उसका आश्रय सबल होता है अर्थात् वह नाद जगत में लीन होकर नाद से उत्पन्न अन्य तत्त्वों को उसमें विलीन होते हुये अनुभव करता है। ईश्वर अपनी तादात्म्य चित् शक्ति के रूप में इस नाद को ही अपना करणाधार बनाता है। निरवयव प्रकाशन होने के कारण यह "स्थूल निष्कल" कहा जाता है। यही बिन्दु है। बिन्दु से संयुक्त होकर चित्-शक्ति की पाँच प्रकार की अभिव्यक्तियाँ होती है जो कलाएँ कहलाती हैं– निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति एवं शान्त्यातीत। ये कलाएँ उन आत्माओं की आश्रय हैं, जो परमेश्वर की आराधना बिन्दु के रूप में करती हैं। यह भूमि पश्यन्ती भूमि भी कहलाती है। पश्यन्ती वाक् की वह स्थिति है जिसमें वाक् अभिव्यक्त होकर व्यवहारिक रूप को प्राप्त करता है। जैसे मोर के अण्डे में मोर पंख के सभी रंग सूक्ष्म एवं अव्यक्त रूप में विद्यमान रहते हैं तथा जैसे सूर्य की किरण में अव्यक्त, अप्रकाशित रूप में सातों रंग अन्तर्निहित रहते हैं, उसी प्रकार से वाक की पश्यन्ती भूमि में सभी अक्षर अव्यक्त सूक्ष्म रूप में अवस्थित रहते हैं। अविभाज्य होने पर भी पश्यन्ती एक स्वप्रकाश स्थिति है। प्रत्येक निश्चित ज्ञान के आधार के रूप में एक सामान्य चेतना विद्यमान रहती है जो पश्यन्ती के कारण ही पायी जाती है। उसके प्रकाशन में ही उसका स्वरूप अन्तर्निहित रहता है। यही पश्यन्ती भूमि की विशेषता है। परा अथवा सूक्ष्म वाक् जगत का मूल स्रोत है, जिससे वाक् तत्त्व विभिन्न धारा में प्रकाशित होते हैं। यदि पश्यन्ती को निर्विकल्प ज्ञान का मूल आधार माना जाय तब 'परा' ज्ञान के बोध का सामान्य सार्वभौम आधार है। वाक् की तृतीय भूमि मध्यमा है जिसमें वाक् और प्रकाशित होकर वास्तविकता के स्तर में पहुँचती है। वाक् की सर्वोच्च स्थिति परा है जो सूक्ष्म, अव्यक्त, सामान्य एवं पृष्ठभूमि के रूप में सम्पूर्ण वाक् जगत को धारण करती है एवं उसी से पश्यन्ती की अभिव्यक्ति होती है। यह वह अन्तर्ज्योति है जो सुषुप्ति में भी विद्यमान रहती है। संक्षिप्त रूप में कहा जा सकता है कि परा वाक् बिन्दु तत्त्व एवं उसकी परिवर्तनशील अभिव्यक्ति–इन दोनों के मध्य में अवस्थित रहती है। परा बिन्दु की पश्यन्ती के रूप में अभिव्यक्ति की अवस्था बीच की अवस्था है। बैखरी शब्द जगत की अन्तिम अभिव्यक्ति है जिसमें ध्वनि अक्षरों में रूपान्तरित होकर एक स्थूलाकार धारण करती है। इस स्थिति में अक्षर ध्वनित होते ही अर्थ समन्वित होकर गृहीता के निकट पहुँचता है। बैखरी के माध्यम से शब्द एवं अर्थ के समन्वय से पारस्परिक भावों का आदान-प्रदान होता है। वाक् का यह अन्तिम प्रकाशन

मन, बुद्धि एवं अहंकार के सम्मिलित रूप में अन्त:करण के माध्यम से होता है। बैखरी का 'वोध', व्यवहारिक संवेदना के रूप में प्राप्त किया जाता है। वाक् जगत के इस प्रकाशन में प्राण, उदान इत्यादि वायुओं की भी भूमिका रहती है। इन वायुओं के सहयोग से नाद उच्चारित होकर अर्थ समन्वित रूप में ध्वनित होता है जिसे व्यवहारिक दृष्टिकोण से ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म अव्यक्त नाद तत्त्व ही क्रमश: स्थूल रूप धारण करता हुआ शब्द जगत के रूप में प्रकाशित होता है।

पद नं. ३८–वाक् ध्वनि

भावानुवाद

नाभि से पश्यन्ती वाक् निर्गत होकर सूक्ष्म रूप में एवं अनेक वर्ण युक्त रूप में प्रतिभात होती है। हम उसे वैसे ही देख नहीं सकते जैसे कि मयूर के अण्डे में वर्णों की विभिन्नताएँ आभासित नहीं होती हैं, एवं अण्डे को तोड़ने पर भी कोई रंग प्रतिभात नहीं होते। यह (वाक्) चित्त में जाकर ज्ञान के रूप में विद्यमान रहकर प्राण वायु के साथ संयुक्त होकर विभिन्न वर्णों को उत्पन्न करती है। यह कर्ण गोचर नहीं होती परन्तु यह कण्ठ में ध्वनि के रूप में विद्यमान रहती है। बैखरी जो कि उदान वायु है, प्राण के साथ संयुक्त होकर कर्ण में विद्यमान रहती है एवं चिन्तन के अनुसार शब्द के रूप में निर्गत होती है।

'स्फोट' शब्द की व्युत्पत्ति 'स्फुट' से हुई है जिसकी व्याख्या दो दृष्टिकोण से की गयी है प्रथमत: स्फोट वह सत्ता है जिसका प्रकाशन वर्णों के माध्यम से होता है, द्वितीयत: यह वह सत्ता है जिससे 'बोध' की उत्पत्ति होती है।[१] द्वितीय परिभाषा के अनुसार कहा जा सकता है कि प्रत्ययों के समन्वय से स्फोट के द्वारा 'वोध' सूचित होता है। भारतीय व्याकरण शास्त्रियों ने शब्द एवं वाक्य के विश्लेषण से शुरू करते हुए क्रमश: 'स्फोट' अथवा शव्दतत्त्व की व्याख्या की है। यह सत्य है कि दार्शनिक दृष्टिकोण से भारतीय चिन्तन प्रणाली स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाती हुई अन्तत: सूक्ष्मतम तक पहुँचाती है। उपनिषद में स्थूल तत्त्वों को अन्नमय कोष कहा गया है एवं तदनन्तर क्रमश: प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोष तक सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उसी प्रकार से 'स्फोट' विवेचन में वर्ण-स्फोट तदनन्तर पदस्फोट, वाक्य-स्फोट इत्यादि का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इनके अतिरिक्त दार्शनिकों ने वर्ण-जाति-स्फोट, पद-जाति-स्फोट, अखण्ड-पद-स्फोट, अखण्ड-वाक्य-स्फोट इत्यादि विभिन्न

---

१. अत एव स्पुटयते र्णोऽस्म स्फोटो वर्णाभि: व्यंगस्य स्पुटति स्फुटी भवति अस्माद अर्थ इति स्फोटो अर्थ, प्रत्यायक: इति स्फोटो शव्दार्थम् उमयथा निराह। सर्वदर्शन संग्रह पृष्ठ ११२ (आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज)

लक्षणाओं के विवरण प्रस्तुत किये है। उक्त सभी विवेचनों में स्फोट का तात्पर्य एवं उसमें अन्तर्निहित भाव की विवेचना की गयी है। शास्त्र के अनुसार शब्द, मात्र वर्णों का समन्वय नहीं है, वरन अपने में परतत्त्व को भी सम्मिलित करता है। मण्डन मिश्र ने 'स्फोट सिद्धि' नामक ग्रन्थ में शब्द तत्त्व का विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहा है–कि यह परतत्त्व की महान अभिव्यक्ति है। इसीलिए स्फोट केवल व्याकरण-विज्ञान नहीं है वरन वह अपने में एक ऐसे तात्पर्य को अन्तर्भूत रखता है जो किसी पर-सत्य की ओर संकेत करता है। इसीलिये व्याकरण शास्त्र ने भी स्फोट की साधना का प्रतिपादन किया है जो साधक को विषय एवं विषयी की द्वैत भूमि से परतत्त्व की अद्वैत भूमि में पहुँचा देता है। इसीलिए व्याकरण शास्त्र में भी अपवर्ग को ही लक्ष्य माना गया है जिसे शब्द-योग अथवा शब्द-पूर्व-योग अथवा वाक-योग से प्राप्त किया जा सकता है। भर्तृहरि के अनुसार शब्द-तत्त्व ही वह अखण्ड, अक्रम, परम तत्त्व है जिसकी अभिव्यक्ति ध्वनि अथवा वर्ण के माध्यम से होती है ध्वनि की पूर्वापर परम्परा के द्वारा वही तत्त्व अखण्ड एवं सक्रम होता है। अत: यह स्पष्ट है कि खण्डित क्रमानुसार प्रकाशित होने वाला शब्द मूलत: शाश्वत अखण्डित सत्ता है, जो शब्द-पूर्व-योग के माध्यम से ज्ञात होता है। 'स्फुट' शब्द का तात्पर्य प्रकाशकत्व की अभिव्यक्ति अथवा अन्तर्दृष्टि है। जब कोई ध्वनि स्फुटित होती है तब उसके साथ मन में विशेष प्रत्यय का आविर्भाव भी होता है। वेद में वाक् को सर्वव्यापी ब्रह्म के प्रकाशन के रूप में बताया गया है, ओम् वह मूल स्रोत है जहाँ से वाक् की उत्पत्ति होती है जो क्रमश: वर्ण एवं शब्द में परिणत होती है। स्फोट वह प्रारम्भिक स्थिति है जहाँ से उच्चारित एवं लिखित भाषा का विकास होता है। विभिन्न प्रकार की अभिव्यक्ति की मूलावस्था ही स्फोट कहलाती है। अर्थात् स्फोट वह परावस्था है जिसमें उच्चारित वर्ण एवं अर्थ दोनों समवेत रहते हैं। अविद्या के कारण वर्ण एवं अर्थ की भिन्नता हो जाती है एवं मनुष्य तज्जनित भ्रम से प्रेरित होकर व्यवहारिक भिन्नता मूलक खण्डित दृष्टिकोण अपनाता है। स्फोट की अभिव्यक्ति की दो स्थितियाँ हैं। प्रथमत: सामयिक दृष्टिकोण से जब वह सम्पूर्ण तात्पर्य को लेते हुए प्रकाशित होता है तब उसे 'प्रतिभा' कहा जाता है। यह प्रकाशन प्रज्ञा मूलक अभिव्यक्ति है। दूसरी ओर यही अभिव्यक्ति जब स्फुटित शब्द एवं वाक्य में परिणत होती है तब उस बाह्य प्रकाशन को बैखरी वाक् कहा जाता है। उपर्युक्त प्रज्ञा-मूलक प्रकाशन अर्थात् प्रतिभा पश्यन्ती वाक् है। उक्त दोनों प्रकाशन के मध्य स्थिति को मध्यमा कहते हैं जो चिन्तन-जगत है, जिसमें स्फोट का समन्वित रूप विखण्डित होकर प्रत्यय, शब्द एवं वाक्य इत्यादि के रूप में प्रकाशित होने की पूर्वावस्था रहती है। भर्तृहरि के अनुसार वाक् पश्यन्ती मध्यमा एवं बैखरी इन स्थितियों से होता हुआ बाह्य व्यवहारिक स्वरूप को प्राप्त करता है। शास्त्र ग्रन्थों में पश्यन्ती वाक् के लिए प्रतिभा, प्रज्ञा, अनुभव, शब्द, अपरोक्ष इत्यादि शब्दों के प्रयोग हुए हैं। प्रतिभा वाक्, स्फोट की वह समन्वयात्मक मूल

अवस्था है जो प्रज्ञा में प्रस्फुटित होती है यह तार्किक स्थिति नहीं है, न तो व्याख्यामूलक है। प्रतिभा का वर्णन करने का प्रयास पुनः सुनने वाले की प्रज्ञा में प्रतिभा ही उत्पन्न करती है। प्रतिभा के द्वारा आन्तरिक स्थिति में प्रतिभा की ही उत्पत्ति होती है जो अव्यक्त एवं अर्थ के साथ समन्वयात्मक है। स्फोट सिद्धान्त प्रतिभा की परिभाषा इस प्रकार से करता है कि प्रतिभा प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्भूत वाक्य एवं अर्थ की वह समन्वयात्मक मूल स्थिति है जो प्रज्ञा के रूप में विद्यमान रहती है। वैयाकरणों के अनुसार प्रतिभा जन्मजात, स्वतः सिद्ध उत्कृष्टता या वैभव है, अर्जित नहीं। इसे संस्कार या भावना भी बताया जाता है। प्रतिभा के विना ऋषि की उपासना-लब्ध-ज्ञान दूसरों में संचालित नहीं किया जा सकता है। प्रतिभा चित्त की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति जटिलताओं के मध्य भी उपयुक्त मार्ग का अनुसंधान कर सकता है अतः प्रतिभा में सत्य को प्रकाशित करने की शक्ति भी विद्यमान है। प्रतिभा ही व्यक्ति को सत्य की ओर प्रेरित करती है। व्यवहारिक जीवन में भी व्यक्ति प्रतिभा का उपयोग करता हुआ सफलता को प्राप्त करता है। भर्तृहरि के अनुसार कई तत्त्व प्रतिभा से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है–जैसे–स्वभाव, चरण, (परम्परागत विधान) अभ्यास (कार्यों की पुनरावृत्ति), योग (चित्त का केन्द्रीकरण) अदृष्ट (भूतकाल में किये गये कर्म), विशिष्टोपहित (विशेष व्यक्ति द्वारा प्रदत्त प्रज्ञात्मक ज्ञान)[१]। प्रतिभा के कारण ही प्रज्ञा-मूलक ज्ञान की स्वाभाविक अभिव्यक्ति होती है। वाक् की स्थूल अभिव्यक्ति बैखरी वाक् कहलाती है। पश्यन्ती वाक् की वह सूक्ष्म बीजावस्था है जिसके माध्यम से प्रतिभा सत्य की ओर प्रेरित होती है। उक्त दोनों स्थितियों के बीच, भर्तृहरि के अनुसार मध्यमा-वाक् है जो वाक्य एवं अर्थ के दृष्टिकोण से भिन्नता को बनाये रखते हुए प्रकाशित होती है। भाषा की ये तीन अवस्थाएँ हैं, जिनके माध्यम से शब्द अथवा वाक् सूक्ष्म से स्थूल स्थिति में परिणत होता है। शब्द जो प्रारम्भ में अन्तस्थ रहता है, दूसरे तक पहुँचने के लिए बाह्य रूप से प्रकाशित होता है। इसी प्रकार से भाषा के द्वारा ज्ञानात्मक स्थिति की अभिव्यक्ति होती है अतः सभी ज्ञान शब्द अथवा भाषा से सम्बद्ध हैं। मनुष्य के अनुभव का प्रकाशन शब्द के माध्यम से ही होता है। पश्यन्ती वाक् आयाम रहित है परन्तु जव वह प्राण तत्त्व से संयुक्त होता है, तब काल से सम्बद्ध होकर क्रमबद्ध होता है। काल के कारण ही पश्यन्ती रूपी वर्ण चेतना क्रमशः मध्यमा एवं बैखरी रूपी स्थूल स्थिति में परिणत होती है। प्रतिभा अर्थात् पश्यन्ती स्थिति में ज्ञान आन्तरिक अन्तर्भूत, अव्यक्त समन्वयात्मक, स्थिति में रहता है क्योंकि काल से उत्पन्न विभिन्नतामूलक स्थिति से परे रहता है। चेतना पश्यन्ती के रूप में सूक्ष्म, अन्तर्भूत स्थिति में रहती है परन्तु जब वह प्राण तत्त्व से संयुक्त होती है तव काल के अंतर्गत क्रमिक रूप से प्रकाशित होती है। काल शक्ति ही पश्यन्ती चेतना स्थिति को क्रमबद्ध रूप से मध्यमा तथा बैखरी को भेदयुक्त भूमि में प्रकाशित करता है। श्रोता के दृष्टिकोण से यह क्रम विपरीत है अर्थात् पहले भेद-भूमि

में प्रकाशित स्थिति का अनुभव होता है एवं तदनन्तर सूक्ष्म अप्रकाशित पश्यन्ती स्थिति का बोध होता है। पश्यन्ती स्थिति में भी ज्ञान अन्तर्भूत प्रतिभा के रूप में विद्यमान रहता है जो काल के क्रम से परे होता है। बैखरी वाक् का स्थूलतम विकास है जिसे उच्चारित एवं प्रत्यक्षानुभव किया जाता है। प्राण तत्त्व वह सहकारी कारण है जिससे समन्वित होकर वाक् बैखरी की स्थिति में काल के संदर्भ में क्रमिक रूप से प्रकाशित होती है। मध्यमा वाक् बैखरी की पूर्वावस्था है जो विशेष रूप से मन एवं बुद्धि से सम्बन्धित रहता है। उच्चारित होने से पहले अथवा शून्य के बाद मन में वाक् की क्रमानुसारता ही मध्यमा कहलाती है। भाषा के उपयुक्त प्रयोग से मानसिक चिन्तन के रूप में मध्यमा वाक् ही क्रमानुसार बैखरी के रूप में रूपान्तरित होता है। मध्यमा से और उच्च, सूक्ष्म, अन्तर्भूत समन्वयात्मक स्थिति ही पश्यन्ती वाक् है। वाक्यस्फोट के आन्तरिक तात्पर्य का अनुभव पश्यन्ती कहलाता है। उक्त स्थिति में शब्द एवं अर्थ की कोई भिन्नता नहीं रहती, न तो काल के संदर्भ में वाक् की कोई क्रमानुसारता ही रहती है, परन्तु उसमें प्रकाशन की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है, जिसे प्रतिभा कहा गया है। अत: ऋषियों की 'श्री' जो अपने पश्यन्ती रूप में है, शब्द के रूप में प्रकाशित होती है, इसीलिए वेद एवं प्रतिभा को पश्यन्ती वाक् का समानार्थक बताया गया है। चूँकि पश्यन्ती वेद-ज्ञान की स्थिति के परे की अवस्था है, अत: वर्णन के द्वारा उसे परिभाषित करना असम्भव है। यह अपरोक्ष ज्ञान की स्थिति है अत: साक्षात् अनुभव से ही उसका बोध प्राप्त किया जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि पश्यन्ती वाक् अन्तस्थ, अप्रकाशित, समन्वयात्मक, अभेद, बीजरूप स्थिति है। श्री उमापति कहते हैं कि नाभिचक्र अर्थात् मणिपुरचक्र से उत्पन्न होता हुआ अपने में समस्त विभिन्नताओं को सूक्ष्म अप्रकाशित रूप से धारण करता हुआ परिस्फुट होने के निमित्त चित्त में जाकर ज्ञान रूप में परिणत होता है तथा प्राण-वायु के साथ संयुक्त होकर विभिन्न रूप में प्रकाशित होने के लिए उन्मुख होता है। श्री उमापति मयूर के अण्डे के साथ इसकी तुलना करते हुए कहते हैं कि जैसे मयूर के अण्डे में अप्रकाशित रूप से मयूर के सभी वर्ण अन्तर्भूत रहते हैं एवं उपयुक्त प्रक्रिया के द्वारा निश्चित समय में उन वर्णों की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार से सूक्ष्म, अव्यक्त सभी विशेषताएँ पश्यन्तीवाक् से प्राण वायु के सहयोग से मध्यमा तथा बैखरी के रूप में विभिन्नताओं से युक्त होकर प्रकाशित होती है। श्री उमापति के अनुसार पश्यन्तीवाक् प्राण वायु से संयुक्त होकर विभिन्न वर्णों को धारण करता हुआ कण्ठ में ध्वनि के रूप में विद्यमान रहता है, कर्णगोचर नहीं होता। उक्त स्थिति के साथ उदान वायु के संयोग से बैखरी का विकास होता है, जो चिन्तन के अनुसार स्थूल रूप से प्रकाशित होकर कर्णगोचर होता है। उक्त पद में श्री उमापति वाक् के सूक्ष्म अप्रकाशित, अन्तर्भूत, अव्यक्त, समन्वयात्मक अभेद स्थिति से विभिन्नता युक्त स्थूल रूप से अभिव्यक्त स्थिति

की तुलना करते हुए कहते हैं कि अव्यक्तावस्था समन्वित सूक्ष्मावस्था है, जो व्यक्तावस्था में अनेक विभिन्नताओं से युक्त होकर विकसित होती है। व्यक्तावस्था की समस्त विशिष्टताएँ अव्यक्तावस्था में अन्तर्भूत रहती हैं, परन्तु प्रतिभात नहीं होती। मयूर के अण्डे के अन्दर रहने वाला तरल पदार्थ अव्यक्त सूक्ष्म रूप से मयूर के अनेकों विशिष्टता पूर्ण रंग एवं सौन्दर्य का धारक है, जो उपयुक्त समय में वैचित्र्यपूर्ण व्यक्तावस्था में परिणत होता है एवं अपनी सारी विशिष्टताओं को अनुभव गोचर बनाता है। उसी प्रकार पश्यन्तीवाक् अपने में विभिन्न अभिव्यक्तियों को अव्यक्त रूप में अन्तर्भूत रहता है एवं प्राण तथा उदान वायुओं से समन्वित होकर उनके सहयोग से वैचित्र्यपूर्ण अभिव्यक्ति के रूप में प्रकाशित होकर अनुभव गोचर होता है।

पद नं. ३९–तत्त्वों की कार्य पद्धति

भावानुवाद

परम शिव की कृपा से चार वाक्, शुद्ध विद्या एवं पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा आत्मा ज्ञान प्राप्त करती है, ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता। यह आत्मा में विद्यमान रहता है। मूलाधार में नाद तत्त्व, नाभि में बिन्दु तत्त्व, सूक्ष्म में सादाख्य तत्त्व जिससे सूक्ष्म एवं अन्य तीन भी आविर्भूत होते हैं। ईश्वर एवं शुद्ध विद्या आत्मा की प्रगति में सहायता करते हैं। बैखरी उच्चारित होती है एवं जिसे सुना भी जाता है। बैखरी कण्ठ एवं मुख में विद्यमान रहती हैं। बुद्धि इन्द्रियों के माध्यम से विषयों को ग्रहण करती है। विद्या आत्मा की अन्तरंग है।

उक्त पद में श्री उमापति आत्मा के प्रति ईश्वर की अपार करुणा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि अनादि काल से आणवाधृत आत्मा को अज्ञानता के अन्धकार से मुक्त कर अपनी स्वरूपता में सम्मिलित कर लेने के उद्देश्य से ईश्वर अनेक विभिन्नताओं से युक्त जगत की सृष्टि करता है। यद्यपि सृष्टि का उपादान कारण माया तत्त्व है परन्तु अचेतन माया स्वयं विभिन्नतामूलक व्यवस्थित विश्व-प्रपंच के रूप में विकसित नहीं हो सकती। चित् शक्ति आत्मा को अज्ञानता रूपी बन्धन से ज्ञान रूपी प्रकाश में लाने के लिए तदनुकूल विषयों को उत्पन्न करती है। जैसे–शुद्धमाया तत्त्व से पाँच शिवतत्त्व–शिव, शक्ति, सादाख्य, ईश्वर एवं शुद्ध विद्या विकसित होते हैं, जो अशुद्ध तत्त्वों पर नियंत्रण रखते हुए आत्मा को क्रमशः ज्ञान की ओर प्रवृत्त करते हैं। चूँकि आत्मा आणवाधृत स्थिति में अज्ञानता से ग्रसित होकर अचेतनवत रहती है, इसीलिये चित्-शक्ति अशुद्ध माया-तत्त्व से कई तत्त्वों–कला, निवृत्ति, काल, विद्या, राग–ये पंच कंचुक उत्पन्न करती है जो शुद्ध माया तत्त्व द्वारा प्रभावित होकर आणवाधृत पशु आत्मा से साक्षात रूप से सम्बन्धित रहती है। नियति एवं कलाशक्तितत्त्व के द्वारा विद्या तत्त्व, शुद्ध विद्या के द्वारा राग तत्त्व, ईश्वर

तत्त्व के द्वारा मायातत्त्व, शिवतत्त्व के द्वारा पुरुषतत्त्व, सदाशिव तत्त्व के द्वारा नियंत्रित होते हैं। अशुद्ध माया से उत्पन्न उक्त तत्त्व आत्मा को भोग एवं भोग्य प्रदान करते हैं। उक्त तत्त्वों से सम्बद्ध होकर पशु-आत्मा, तनु, करण, भुवन, भोग की प्राप्ति करती हुई कर्म के माध्यम से निरन्तर विभिन्न प्रकार के अनुभवों को प्राप्त करती है। विद्यातत्त्व बुद्धि के द्वारा आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होने में सहयोग प्रदान करता है। आत्मा विद्यातत्त्व से संयुक्त होकर बुद्धि एवं इन्द्रियों के द्वारा विषयों के अनुभवों को प्राप्त करती है। विद्यातत्त्व आत्मा को ज्ञान प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रेरित करता है। कलतत्त्व भी आत्मा को ज्ञान प्राप्त करने में अनुकूलता एवं सहयोग प्रदान करता है। श्री उमापति कहते हैं कि इन तत्त्वों के अतिरिक्त ईश्वर ने वाक् तत्त्व को चार स्तरों में विकसित किया। परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं बैखरी वाक्। ये चार विकास, आत्मा को सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के सन्दर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आगम-शास्त्रों के अनुसार, श्री उमापति कहते हैं कि मूलाधार चक्र में नादतत्त्व शक्ति के रूप में विद्यमान रहता है। इस परम नाद से जिस बिन्दुतत्त्व का विकास होता है उसकी अवस्थिति नाभि चक्र में रहती है। सादाख्य तत्त्व हृदय कमल में विद्यमान रहता है एवं उससे अन्य तीन सूक्ष्म तत्त्व उत्पन्न होते हैं। ईश्वर एवं शुद्ध-विद्या आत्मा को ज्ञान प्राप्त करने में सहायता प्रदान करते हैं अत: यह स्पष्ट है कि शुद्ध माया-तत्त्व के उक्त सभी विकास आत्मा के अध्यात्मिक मार्ग में अनुकूलता उत्पन्न करते हैं। वाक्तत्त्व में सर्वोच्च स्थिति परावाक् कई शैव दार्शनिकों के अनुसार परम शिव एवं उसकी विमर्श शक्ति, जो उससे तादात्म्य है, को सूचित करती है (प्रत्यभिज्ञा दर्शन)। तन्त्र दर्शन के अनुसार भी परावाक् परम शिव से समानार्थक है। उक्त दृष्टिकोण भर्तृहरि के अर्थ को समझने का वैसा ही माध्यम है जैसा कि प्रकाश के माध्यम से अन्धकार का दूर हो जाना है। शब्दब्रह्मवाद के अनुसार परावाक् शब्द जगत से उसी प्रकार सम्बन्धित है जैसे परमतत्त्व उसके प्रकाशन से सम्बन्धित रहता है। शैव सिद्धान्त परावाद के उक्त स्वरूप को अस्वीकार करता हुआ शब्द एवं अर्थ की अपरिहार्यता को खण्डित करता है। शैव सिद्धान्त परावाक् अथवा नादतत्त्व को परब्रह्म न मानकर शक्ति (परिग्रह शक्ति) के रूप में स्वीकार करता है एवं वाक् के विभिन्न स्तरों को आभास न मानकर वृत्ति-रूपी परिवर्तन स्वीकार करता है।[१] शब्द स्वयं प्रकाश नहीं है वरन् अर्थ वाहक है, जो स्वतन्त्र रूप से विद्यमान अर्थ को प्रकाशित करता है। बिन्दु तत्त्व इच्छा को अशुद्ध तत्त्व में रूपान्तरित करता है, जिससे शब्द की उत्पत्ति होती है। बिन्दु अथवा नाद वह ज्ञापक हेतु है जो शिव-शक्ति द्वारा संचालित होता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार नाद शब्द का व्यंजक एवं शब्द व्यंग्य नाद की बाह्य अभिव्यक्ति का परिणाम है, जो अर्थ का वाहक है विभिन्न एवं स्थूल रूप से प्रकाशित नाद का कारण बिन्दु तत्त्व है बिन्दु ही शब्द एवं आधार रूपी दो प्रकार के

१. शैव दर्शन–दार्शनिक दृष्टिकोण से–के शिव रमन पृष्ठ २२९

प्रकाशनों का मूल कारण है। जिस प्रकार बिन्दु तत्त्वों से शुद्धाध्व का विकास है, उसी प्रकार 'शब्द-जगत' भी शुद्ध-विकास से, क्योंकि वह मल एवं कर्म से मुक्त है, अतः दुःख रहित आनन्द की अभिव्यक्ति है। उक्त दोनों प्रकार की धारायें एक मूल स्रोत से प्रवाहित होती है जो कारक शक्ति एवं ज्ञापक-शक्ति का समन्वय हैं। शुद्धाध्व में यह शुद्ध तत्त्व रूप में विद्यमान रहती हैं, परन्तु मिश्राध्व में स्थूल शब्द से मिश्रित होकर क्रमशः अशुद्धाध्व के रूप में परिणत होती हैं। विपरीत क्रम में इसे इस प्रकार से समझा जा सकता है कि शब्द प्रपंच, सूक्ष्म रूप में सूक्ष्मवाक् तदनन्तर शुद्धवाक् से आविर्भूत होता है। वाक् का स्थूल रूप वर्ण कहलाता है जो उदान वायु से सम्मिलित होकर उच्चारित एवं अनुभूत होता है यह बैखरी वाक् का स्थूलतम प्रकाशन है। बैखरी वाक् जब प्राण वायु से प्रेरित होकर प्रकाशित होती है तब वह ध्वनि के रूप में कण्ठ में विद्यमान रहता है। अहंकार तत्त्व उक्त स्थिति के पृष्ठभूमि में रहता है एवं बुद्धि से प्रेरित होकर अप्रकाशित रूप में कण्ठ में विद्यमान रहता है। इसे सूक्ष्म बैखरी कहते हैं, जो प्रतिष्ठा कला से संयुक्त रहती हुई सूक्ष्म कर्ण को श्रुतिगोचर होती है। स्थूल बैखरी निवृत्ति कला से संयुक्त रहती है वह मुख के द्वारा उच्चारित होती है। वाक् तत्त्व का यह स्थूलतम प्रकाशन है। सूक्ष्म रूप में मध्यमा अव्यक्त रहने के कारण ध्यान के द्वारा प्राप्त की जाती है। पश्यन्ती निर्विकल्प ज्ञान की स्थिति है एवं परा बोध के रूप में सम्पूर्ण ज्ञान-जगत की मूल स्रोत है। यद्यपि अव्यक्त है परन्तु पश्यन्ती स्वयं प्रकाश है। सभी निश्चयात्मक ज्ञान एक अद्वैत सूक्ष्मातिसूक्ष्म निर्विकल्पक चेतना की ओर संकेत करते हैं–यही पश्यन्ती स्थिति है। श्री उमापति कहते हैं कि आत्मा को अज्ञानता के अन्धकार से मुक्त करने के लिए सृष्टि के सभी तत्त्वों को चित् शक्ति ही उत्पन्न करती है वही निमित्त एवं संचालक तत्त्व है जिसकी अन्तःप्रेरणा से सृष्टि प्रक्रिया आत्मा के मोक्ष मार्ग में सहयोग प्रदान करती है। उक्त सभी तत्त्व आत्मा के प्रति ईश्वर की कृपा की अभिव्यक्ति है। ईश्वर आत्मा के कल्याण के लिए ही इन सभी तत्त्वों को उत्पन्न एवं संचालित करता है। ईश्वर-शक्ति जो कृपा स्वरूप है, सृष्टि में अनुस्यूत रहने के कारण आत्मा क्रमशः ईश्वराभिमुख होती रहती है। श्री उमापति कहते हैं कि शिव-शक्ति ही एक मात्र प्रेरणा एवं उपाय है जिससे आत्मा पशुत्व से मुक्त होकर ईश्वर से अनन्य हो जाती है।

पद नं. ४०

भावानुवाद

राग तत्त्व की व्याख्या करना कठिन है। आत्मा के साथ कर्म संयुक्त होकर इच्छा अर्थात् नियति तत्त्व को उत्पन्न करते हैं। राजा कर्म करने का आदेश देता है एवं उन कर्मों

के परिणाम को भी उपभोग करने का आदेश देता है, उसी प्रकार से आत्मा भी ईश्वर द्वारा दी गई आज्ञा के अनुसार कर्म करती है एवं फल का उपभोग भी करती है। काल तत्त्व शिव-शक्ति से युक्त होकर भूतकाल, वर्तमान काल एवं भविष्य काल के परिणामों को उत्पन्न करता है।

राग तत्त्व आत्मा से सम्बन्धित वह आसक्ति है, जिससे आत्मा में मनोशारीरिक संकल्पात्मक प्रवृत्ति (इच्छाशक्ति) उत्पन्न होती है। राग वह साधन है जिससे आसक्ति के रूप में बौद्धिक प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् राग ही प्रेरक तत्त्व है, जो बुद्धि से संयुक्त होकर बौद्धिक संकल्पात्मक प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। मनुष्य की मानसिक वृत्ति में ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं संकल्पात्मक नामक तीन स्थितियाँ होती हैं। ये प्रवृत्तियाँ अपने में विशिष्ट होते हुए भी परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहती हैं। शिव ज्ञान सिद्धि के अनुसार विद्या तत्त्व से राग तत्त्व की उत्पत्ति होती है परन्तु पौष्कर आगम कल में राग का मूल आधार मानता है। श्री उमापति शिवाचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ में कल, काल, विद्या एवं राग इत्यादि के मूल आधार के रूप में माया तत्त्व को स्वीकार किया है। कुछ भी हो ये सभी तत्त्व ईश्वर के इच्छानुसार ही आत्मा से संयुक्त होकर उस विभिन्न अनुभवों को प्राप्त करवाते हैं। आणव वह मूल अनादि मल है जिससे आत्मा का चैतन्य सम्पूर्ण रूप से आच्छादित रहता है। माया से उत्पन्न इन तत्त्वों से संयुक्त होकर आत्मा जब विभिन्न अनुभवों को प्राप्त करती है, तब ईश्वर की कृपा से उसके एवं असत् सम्बन्धी सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होते हैं। राग वह अज्ञानता जनित आसक्ति है जो आत्मा को विभिन्न मायेय से सम्बन्धित रखता है। राग ही वह प्रेरक तत्त्व है जो बुद्धि से संयुक्त होकर मनुष्य को सांसारिक विषयों के प्रति आकृष्ट करता हुआ सकाम संकल्पात्मक कार्य में प्रवृत्त करता है। यह ऐच्छिक कार्य का प्रेरक तत्त्व है। राग की प्रेरणा से ही मनुष्य की बुद्धि निरन्तर विषय से विषयान्तरित होती रहती है। संसार भूमि में कर्म करने के लिए एवं उसके फलों की प्राप्ति के लिए ही बुद्धि के साथ राग तत्त्व का संमिश्रण होता है। कर्म एवं उसके परिणाम के सामान्य नियम को बनाये रखने के लिए ईश्वर द्वारा राग-तत्त्व को प्रदान किया जाता है। यह वह प्रेरक तत्त्व है, जो मनुष्य को निरन्तर कर्म बन्धन में आबद्ध रखता है एवं अनुभवों को प्राप्त करवाता है। आणवमल प्रसूत अज्ञानता को दूर करने के निमित्त हीं चित्तशक्ति आत्मा को माया तत्त्व से उत्पन्न राग, कल, इत्यादि से सम्बद्ध करती है। शिव-शक्ति की इच्छा में ही राग की प्रेरणा से आत्मा कर्म एवं कर्मफल की प्रक्रिया में आबद्ध हो जाती है। कर्म फल को प्रदान करने के लिए ही नियति की उत्पत्ति होती है, नियति कर्म-फल का वह आधार है जो मनुष्य के लिए उसके द्वारा किये गये कर्म के परिणाम के रूप में भाग्य का निर्माण करती है। अतः यह स्पष्ट है कि आत्मा को अनादि मूल मल-आणवमल से मुक्त करने के लिए ही शिव-शक्ति उसे इन तत्त्वों के द्वारा आबद्ध

करती हुई निरन्तर विभिन्न प्रकार के सांसारिक अनुभवों को प्राप्त करवाती है। जैसे–राजा प्रजा के उपभोग के लिए विविध सामग्री को उपलब्ध करवाता है एवं उन सामग्रियों के उपभोग की अनुमति भी प्रदान करता है, उसी प्रकार से शिव-शक्ति आत्मा को इन तत्त्वों के माध्यम से विभिन्न सांसारिक विषयों के अनुभवों को प्रदान करती है, एवं उन अनुभवों के परिणामों को ग्रहण करने का भी आदेश देती है। अर्थात् सम्पूर्ण प्रक्रिया एवं तत्सम्बन्धी विषयों का संचालन शिव-शक्ति की इच्छा के अनुसार ही होता है। माया से उत्पन्न अन्य तत्त्व भी आत्मा के लिए उतने ही आवश्यक है जितने की राग तत्त्व। जिस प्रकार राग-तत्त्व की प्रेरणा से आत्मा विभिन्न विषयों से आबद्ध रहती है उसी प्रकार कलतत्त्व से युक्त होकर अपने कर्मों के द्वारा आत्मा अनुभवों की पूर्वापर स्थिति भूत, वर्तमान एवं भविष्य को उत्पन्न करती है। आत्मा अपने विगत कर्मों के अनुसार वर्तमान एवं भविष्य जीवन की स्थितियों को प्राप्त करती है। ये सभी राग एवं कल इत्यादि से उत्पन्न विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

पद नं. ४१

भावानुवाद

कल इत्यादि तत्त्व श्रोत्रादि इन्द्रियों से युक्त होकर वस्तुओं का उपभोग करते हैं। पुंस्त्व उत्पन्न होकर आत्मा से युक्त होता है एवं आत्मा पुरुषतत्त्व कहलाती है ज्ञानी व्यक्तियों की ऐसी ही मान्यता है। मंत्र पाँच हैं, कल भी पाँच हैं। जब वे शुद्ध होते हैं तब पुरुष तत्त्व को भी शुद्ध करते हैं–ऐसा आगम में कहा गया है।

आत्मा अनादि काल से आणवमल के द्वारा आधृत रहने के फलस्वरूप जड़वत् पड़ी रहती है। उसमें अज्ञानता के घने आवरण के कारण चैतन्य की कोई अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। आत्मा स्वयं अज्ञानता को दूर करने में समर्थ भी नहीं होती। ईश्वर की कृपा शक्ति के द्वारा माया तत्त्व नामक उपादान से विश्व की सृष्टि होती है एवं आत्मा को तनु, करण, भुवन, भोग इत्यादि प्राप्त होते हैं। कल, इन सांसारिक उपादानों में एक मुख्य उपादान है, जिससे आत्मा आंशिक रूप से मलावरणों को दूर करने में समर्थ होती है। 'कल' शब्द का तात्पर्य ही 'अनावरण' तथा 'दिशा-निर्देशन' है, अर्थात् कल से संयुक्त होकर आत्मा अपनी आध्यात्मिक यात्रा में सही निर्देश को प्राप्त करती है एवं अन्ततः कल मलावरण को दूर करने में सहायक भी सिद्ध होता है। कल माया से प्राप्त वह साधन है जिससे सम्बद्ध होकर आत्मा इस विश्व संसार में विभिन्न विषयों का उपभोग करती है। कल ही आत्मा को अन्तःकरण से युक्त करता हुआ ज्ञानात्मक वृत्ति को प्रदान करता है। भावात्मक, ज्ञानात्मक एवं संकल्पात्मक वृत्तियों में कल आत्मा को अंतःकरण से संयुक्त बनाकर संकल्पात्मक वृत्ति को उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होता है। अन्तःकरण की संकल्पात्मक

वृत्ति से क्रमशः भावात्मकवृत्ति का विकास होता है इसी प्रकार आत्मा उक्त तीनों वृत्तियों से संयुक्त होकर विभिन्न अनुभवों को प्राप्त करती है। क्रमशः इन वृत्तियों से संयुक्त होने के फलस्वरूप आत्मा में 'पुंस्त्व' का आविर्भाव होता है। सांसारिक उपभोग की स्थिति में आत्मा माया के सभी तत्त्वों एवं कर्म से संयुक्त होकर 'सकल' कहलाती है। विभिन्न उपभोगों के उपरान्त–ईश्वर कृपा से आत्मा निष्काम कर्म के सम्पादन के द्वारा कर्मबन्धन से मुक्त हो जाती है, तब माया तथा आणव ये दो ही मल रह जाते हैं। यह स्थिति आत्मा की क्रमशः 'शुद्धावस्था' प्राप्त करने की स्थिति है। अन्ततः माया मल तिरोहित होने पर केवल आणव मल के रहने पर आत्मा 'विज्ञान कल' की स्थिति में कहलाती है। इसी स्थिति में ईश्वर कृपा से ही आणवमल के निष्प्रभ होने पर आत्मा शिव-चैतन्य में अवस्थित हो जाती है। यही मलावरण से मुक्ति है। मुक्ति की इस प्रक्रिया में "कण्टकेन कण्टकं" की पद्धति शिव-शक्ति कल इत्यादि को आत्मा से संयुक्त करती हुई विभिन्न अनुभवों के माध्यम से इन सांसारिक विषयों के प्रति उदासीन बना देती है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार सांसारिक विषयों के उपभोग से ही इन विषय–विषों के प्रति आत्मा की उदासीनता आती है अर्थात् आत्मा की इस आध्यात्मिक यात्रा में माया से उत्पन्न कल इत्यादि अत्यन्त आवश्यक हैं अन्यथा आत्मा आणव-मल के प्रकोप से जड़वत् स्थिति से शिव-चैतन्य को प्राप्त नहीं कर सकती। इसीलिए माया से उत्पन्न सभी विषय आत्मा की मुक्ति यात्रा में आंशिक प्रकाशकत्व उत्पन्न करते हैं एवं सहायक सिद्ध होते हैं।

आणवाधृत आत्मा केवल स्थिति में कहलाती है। सांसारिक स्थिति में आत्मा राग, कल इत्यादि से युक्त होकर क्रियाशील होती है, तथा पंच-कंचुक के माध्यम से विषयों के अनुभव करने पर उसमें पुंसत्व का आविर्भाव होता है एवं तभी वह पुरुषतत्त्व कहलाती है। (अर्थात् आत्मा जब माया से उत्पन्न काल, नियति, कल, विद्या, राग इत्यादि से युक्त होती है तब वह पुरुष कहलाती है।) आत्मा की इस स्थिति में ही सभी प्रकार की विषयासक्ति उत्पन्न होती है एवं आत्मा अज्ञान, अहंकार, आसक्ति, आकांक्षा विभ्रम (देहात्मबोध) इन पाँचों क्लेशों से पीड़ित हो जाती है। उसमें काम, क्रोध, मात्सर्य इत्यादि क्लेशों के भी आविर्भाव होते हैं। इन सभी क्लेशों के मूल में आत्मा में प्रकृति माया से उत्पन्न तत्त्वों से संयुक्त होने के फलस्वरूप पुंस्त्व का आविर्भाव होता है। जो आत्माएँ प्रलयाकल अर्थात् आणव तथा कर्म मल से आबद्ध स्थिति में रहती हैं, वहीं पुरुषतत्त्व कहलाती हैं क्योंकि पुरुषतत्त्वरूपी आत्मा सांसारिक उपभोग के विषयों से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित होकर अपने को तद्रूप अथवा तदाकार समझती हैं। पुंस्त्व से संयुक्त होकर आत्मा सांसारिक विषयों को सामान्य एवं विशेष रूप से उपभोग करती हैं। जैसे–प्रकृति में निश्चित समय में निर्धारित कल की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार से उपभोग के उपरान्त निश्चित समय में आत्मा का मल परिपक्व होता है। आत्मा से संयुक्त सभी प्राकृतिक तत्त्व

जड़ या अचेतन है। सभी प्राकृतिक तत्त्वों के प्रयोजन आत्मा से मलावरोध को दूर करना है। उपभोग उपरान्त ईश्वर कृपा से उपयुक्त समय में इन अचेतन पदार्थ के प्रति आत्मा की अनासक्ति उत्पन्न होती है, जिससे आत्मा सांसारिक सभी उपभोग एवं तत् सम्बन्धी विषयों के प्रति उदासीन हो जाती है। आत्मा की यह अनासक्ति ही आत्म शुद्धि है, जो पुरुष तत्त्व के शुद्धि करण से ही आती है। आत्म बुद्धि का अंतिम लक्ष्य मोक्ष है, परन्तु कर्म इसमें दो प्रकार की बाधाओं को उत्पन्न करता है। अर्थात् कर्म से दो प्रकार की आसक्तियाँ उत्पन्न होती है–एक वस्तु जगत एवं दूसरा शब्द जगत[१]।

वर्ण से पद एवं पद से मन्त्र ही शब्द जगत है। देह, विश्व प्रपंच एवं उसके विभिन्न वस्तु जगत हैं। तनु, इन्द्रिय, अन्तःकरणादि, भुवन, पंचमहाभूत, विभिन्न कलाओं की शक्ति इत्यादि छः अध्व हैं, जिनमें आत्मा को नाना प्रकार के सांसारिक अनुभवों की प्राप्ति होती है। गुरू कृपा से ही इन अध्वों की शुद्धि होती है एवं अध्व शुद्धि से तत्त्व शुद्धि होती है। इसी प्रकार क्रमशः कर्म-फल का अन्त होता है। जब अध्व एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं, तब मन्त्र भी पद में एवं पद वर्ण में अन्तर्भूत हो जाते हैं, वे भिन्न एवं स्वतन्त्र नहीं रहते। वे संयुक्त रूप में मूल तत्त्व में विद्यमान हो जाते हैं। शब्द भुवन में, भुवन तत्त्व में, तत्त्व कल में एवं अध्व-शुद्धि के उपरान्त कल तिरोधान शक्ति में, अन्त में तिरोधान शक्ति शिव तत्त्व में अन्तर्लीन हो जाती है। यह सत्य ज्ञान को प्राप्त करने की क्रमिक स्थिति है। दीक्षा रूपी शिवकृपा से अज्ञानता का अन्धकार दूर होने पर इस शुद्धावस्था की उपलब्धि होती है, यही शुद्धावस्था की प्रक्रिया है जो क्रमशः अवस्थान्तर से प्राप्त होती है। भुवन शुद्धि की क्रमिक प्रक्रिया से भोक्तृत्व का निवारण होने के उपरान्त तत्त्व शुद्धि होती है। गुरू द्वारा प्रदत्त सम्यक् आत्म-ज्ञान के निरन्तर मनन से, ईश्वर की कृपा से आत्म-चैतन्य एवं ईश्वर-चैतन्य दोनों की उपलब्धि अभेद तत्त्व के रूप में होती है। गुरू, कल, मण्डल, आधार, अक्षर, प्रकाशम्, मलम्, अवस्था, मात्रा, मन्त्रम्, पद, वर्णम्, भुवनम्, तत्त्वम्, दैव्यम् एवं कर्मम् सभी को परिशुद्ध करते हुए निवृत्ति कला से शान्ति कला तक, मूलाधार

---

१. शिवागम के क्रियापाद में पंच कल का उल्लेख प्राप्त होता है–निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति एवं शान्त्यातीत ये शुद्ध माया से उत्पन्न सम्पूर्ण भौतिक जगत को नियन्त्रित करने वाले तत्त्व हैं। इन कलों की तुलना मानव देह में उन स्नायु संस्थानों से की जा सकती है जिनके माध्यम से मस्तिष्क सम्पूर्ण देह पर नियंत्रण रखता है। परम तत्त्व इन कलों के माध्यम से ही अपने क्रिया-शक्ति को संचालित करता है एवं कल तदनुसार भौतिक जगत को प्रवृत्त करता है। भौतिक जगत दो भागों में विभाजित है–शब्द अथवा प्रत्यय जगत एवं द्रव्य जगत। शब्द जगत इक्यावन वर्ण, इक्यासी शब्द एवं ग्यारह मन्त्रों का समन्वय है। मन्त्र ऐसे हैं–ईशानमूर्ध, ततपुरुष, वक्त्र, अघोर, हृदय, वामदेव, गुह्य, सद्योजातमूर्ति, हृदय, शिक्षा, शिख, कवच, नृतृतय एवं अंष्ट्र। भौतिक जगत, पंचकल, छत्तीस तत्त्व एवं दो सौ चौब्बीस भुवनों का समन्वय है।

चक्र से सहस्रार तक यात्रा करवाता है। यह यात्रा वह महायात्रा है, जिसमें आत्मा उपभोग की स्थिति में मूलाधार में विद्यमान रहती है, तदुपरान्त क्रमशः शुद्धिकरण के माध्यम से ऊर्ध्वगति को प्राप्त करती है एवं स्वाधिष्ठान अनाहत, मणिपूर, विशुद्ध तथा आज्ञा चक्र को पार करती हुई सहस्रार में परमतत्त्व से सम्मिलित होती है। आत्मा की यह अध्यात्मिक यात्रा परोक्ष एवं अन्त में अपरोक्ष रूप से चित् शक्ति के द्वारा ही सम्पन्न होती है जिसे क्रमशः तिरोधान एवं अनुग्रह शक्ति कहा जाता है।

पद नं. ४२

भावानुवाद

सात्विक प्रकाशक, राजसिक उपभोगात्मक एवं तमस इन्द्रियों का आधार है, ईश्वरीय कृपा से बुद्धि निश्चयात्मक गुण सम्पन्न है एवं पचास भावों से ६१२ भाव उत्पन्न होते हैं। हंस दूध एवं जल को अलग कर देता है। श्री कण्ठ रूद्र की शक्ति से अव्यक्त प्रकृति व्यक्त होती है जो गुण तत्त्व कहलाती है। गुण तीन हैं, परन्तु यह एक समझा जाता है गुण परिणाम के अनुसार आत्मा सुख दुःख को प्राप्त करती है मूल प्रकृति, गुण तत्त्व, एवं बुद्धि तत्त्व भिन्न प्रकार के हैं एवं विभिन्न कार्यों को उत्पन्न करते हैं। प्रधान के तीन गुण हैं। जिसमें प्रकाशकत्व, महानता, विशालता, लघुता, व्याप्ति, निकटता, बोधता, गौरव इत्यादि तत्त्व गुणात्मक हैं।

प्रकृति त्रिगुणात्मक तत्त्व है। सत्व, रज एवं तम् की समन्वयात्मक साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। इन तीनों गुणों के परिमाण एवं परिणाम भेद से प्रकृति की व्यक्तावस्था होती है; जिसमें विभिन्न प्रकार के तत्त्वों का विकास होता है। गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है एवं व्यक्तावस्था सृष्टि है। उक्त दोनों अवस्थाओं में ही तीनों गुण परस्पर समायोजित एवं समन्वित स्थिति में रहते हैं। ये तीनों गुण परस्पर विलक्षण गुण सम्पन्न हैं। सत्व गुण में प्रकाशकत्व, लघुत्व ज्ञानोद्दीपकत्व पाये जाते हैं। इसमें लघुता अर्थात् हल्कापन है। सफेद रंग से इसकी तुलना की गयी है। तम गुण इसके विपरीत धर्मी है। यह अनावश्यक, अज्ञानता, भ्रम, मोह, उदासीनता, आलस्य इत्यादि के द्वारा मनुष्य के अध्यात्मिक मार्ग में प्रतिकूल तत्त्वों को उत्पन्न करता है। रजोगुण उद्दीपक, उत्तेजक एवं सब प्रकार की क्रिया-शीलता का आधार है, वही जीव को विभिन्न प्रकार के कर्मों को करने के लिए प्रेरित करता है। ये गुण परस्पर विलक्षण स्वभाव होते हुए भी सदैव ही समन्वित एवं समायोजित रहते हैं। गुण–परिमाण के वैषम्य के कारण प्रकृति से उत्पन्न तत्त्व में विभिन्नताएँ पायी जाती हैं अर्थात् गुणों के समन्वय भेद के कारण सृष्टि तत्त्वों के स्वरूप एवं स्वभाव भेद उत्पन्न होते हैं। तत्त्व गुण प्रकाशक एवं ज्ञानोद्दीपक होने के कारण साधन-

मार्ग के लिए अनुकूल स्थिति उत्पन्न करता है, परन्तु तम गुण पूर्णतः विपरीत होने के कारण अध्यात्मिक प्रगति में वाधक होता है। रजोगुण का अपना विशिष्ट धर्म है उससे प्रेरित क्रियाशीलता या गतिशीलता आत्मा की अध्यात्मिक यात्रा के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार प्रकृति जात विशेषताओं से प्रभावित होने के कारण आत्मा तद्नुकूल प्रवृत्ति कार्य एवं परिणाम को प्राप्त करती है। आत्मा से प्रकृति तत्त्व का यह सम्बन्ध एवं आत्मा के उपभोग के लिए प्रकृति से गुण वैषम्य के आधार पर विभिन्न विषयों की उत्पत्ति, सृष्टि के संचालक विभिन्न कारण, श्रीकण्ठ रूद्र की इच्छा से ही होता है। प्रकृति अचेतन तत्त्व है, इसीलिए आत्मा की आवश्यकता के अनुसार वह अपने को संचालित नहीं कर सकती। आत्मा की आध्यात्मिक यात्रा के लिए उपयोगी एवं उपयुक्त ढंग से प्रकृति का विकास श्रीकण्ठ रूद्र के संचालन से ही होता है। ईश्वर की इच्छा ही इस विश्व प्रकृति को संचालित करती है, जो आत्मा के लिए सर्वथा कल्याणकारी होती है। आणवाधृत अज्ञानपाश में आबद्ध आत्मा को ज्ञान के प्रकाश के द्वारा मोक्ष प्रदान करना ही ईश्वरीय कृपा का प्रकाशन है। अत: ईश्वर-शक्ति द्वारा नियन्त्रित सभी विषय आत्मा के लिए लाभदायक सिद्ध होते हैं। प्रकृति से तीनों गुणों के समन्वय से गुण-वैषम्य के आधार पर जितने तत्त्व उत्पन्न होते हैं उनमें प्रथम–सृष्टि महत् तत्त्व है, जीवों में जिसकी अभिव्यक्ति बुद्धि के रूप में होती है। चूँकि बुद्धि सत्वगुण प्रधान है इसलिए वह प्रकाशक है। यही कारण है कि मनुष्य बुद्धि के प्रयोग से ही विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करता हुआ उसकी आलोचना करता है। सामान्य रूप से बुद्धि निश्चयात्मिका है चूँकि तत्त्व ही त्रिगुणात्मक है, अत: बुद्धि में रज एवं तम् गुण का समावेश भी रहता है। यदि किसी कारणवश बुद्धि में तमगुण की अधिकता होती है तब वह भ्रम, अज्ञानता एवं मोह के आवेश में आकर सम्यक् ज्ञान को निर्णीत करने में असमर्थ हो जाती है। गुण वैषम्य के कारण प्रत्यय सर्ग अर्थात् बौद्धिक अभिव्यक्ति के अनुसार बुद्धि के अनेक भेद होते हैं।

१-विपर्यय २-अशक्ति ३-सृष्टि

सिद्धि के भेद के अनुसार पचास प्रकार के भेद उत्पन्न होते हैं। इन पचास भेदों से पुन: गुण वैषम्य के आधार पर ६१२ भेद उत्पन्न होते हैं। प्रश्न यह है कि इतने प्रकार के भेद के रहते हुए आत्मा कैसे अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए इनकी सहायता से कार्य करती है। इस प्रश्न के उत्तर के रूप में बताया गया है कि हंस जैसे दूध एवं जल को अलग कर दूध को ही ग्रहण करता है, उसी प्रकार कृपा-शक्ति से अनुप्राणित आत्मा तमोभाव से उत्पन्न विषयों को त्यागकर सत्व गुणात्मक विषयों को ही ग्रहण करती है। यही ईश्वरीय कृपा की विशिष्टता है कि वह आत्मा को सत्य की ओर प्रेरित करती है। सत्य सम्यक ज्ञान को प्राप्त करने के सन्दर्भ में सत्व गुण सहायक सिद्ध होता है क्योंकि स्वभावत: इसमें लघुता, प्रकाशकत्व, व्यापकता, निकटता, बोधता एवं मर्यादा अर्थात्

गौरव इत्यादि अनुकूल विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं। इन तत्त्वों के कारण ही आत्मा सत्य की ओर प्रेरित होकर आत्मज्ञान को प्राप्त करती है, जो कि मोक्ष का सूचक है, स्वरूपतः आत्मा ईश्वर चैतन्य में अवस्थित रहती है। यही आत्मा की मूल स्थिति है जो अज्ञानता के कारण आवरित रहती है। शिव कृपा से आवरण उन्मोचित होकर ज्ञान की पुनःप्राप्ति ही मोक्ष ज्ञान है। केवल कृपा ही इस स्थिति को प्रदान करने में समर्थ है।

पद नं. ४३

भावानुवाद

अहंकार तत्त्व कर्म के अनुसार देह में विद्यमान रहता है। यह प्राण वायु से सम्बद्ध है, एवं तीव्र अभिमान कि मेरे तुलनीय शक्तिशाली कोई नहीं है, यह अहं उत्पन्न करता है। यह इन्द्रियों एवं शरीर से उपभोग करवाता है। इच्छा ही इसका एकमात्र आधार है। मन तत्त्व सदैव ही चिंतनशील एवं चित्त चिन्तनशील होते हुए भी सदैव शंकायुक्त है।

मूला प्रकृति से प्रथम तत्त्व महत् जो कि सत्व गुणात्मक है, उत्पन्न होता है। महत् से अहंकार तत्त्व की उत्पत्ति होती है। अहंकार वह तत्त्व है जिससे कई प्रकार के तत्त्व प्रकाशित होते हैं। अहंकार मूलतः अभिमान को उत्पन्न करता है, अभिमान अर्थात्? "मैं एवं मेरे की अनुभूति"। यह आधारभूत प्रेरक तत्त्व है जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति इस संसार में विभिन्न प्रकार के कार्यों को करता है। अहंकार तत्त्व जब सत्व-गुणात्मक होता है तब उससे मन एवं दश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, एवं जब यह तमोगुण प्रधान होता है तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध नामक पाँच तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। तैजस् नामक राजस अहंकार दोनों प्रकार की उत्पत्ति में सहायता प्रदान करता है। यद्यपि अहंकार एक ही है तथापि वह गुण विशेष के आविर्भाव और तिरोभाव से अर्थात् गुणों के न्यूनाधिक्य से भिन्न-भिन्न कार्य उत्पन्न करता है। अभिमान ही "मैं ऐसा हूँ यह मेरा है"–इदृश भाव उत्पन्न करता है। इन्द्रियों से गृहित एवं मन से विचारित विषय –"मैं अधिकृत हूँ", "मैं इसे करने में समर्थ हूँ, "ये विषय मेरे लिए ही हैं"। मेरे अतिरिक्त अन्य कोई इसमें अधिकृत नहीं है अतः मैं ही प्रवृत्त या शक्त हूँ–इस प्रकार के अभिमानयुक्तचिन्तन अहंकार तत्त्व की सामान्य अभिव्यक्ति हैं। इसी का आश्रय कर बुद्धि "यह मुझे करना है"–ऐसा अध्यवसाय (निश्चय) करती है। जैसा कि पहले बताया गया है कि अहंकार से दो प्रकार के सर्ग या सृष्टि उत्पन्न होते हैं। सात्विक अहंकार से मन, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पंच कर्मेन्द्रियाँ अर्थात् एकादश गणों की उत्पत्ति होती है। इन गणों में मन, संकल्प करने वाली इन्द्रिय है जो ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय दोनों रूपों में उभयात्मक है। मन से अधिष्ठित होकर ही ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति होती हैं। इन्द्रियों के द्वारा किसी विषय के "यह

वस्तु मात्र है''–इस प्रकार का संवेदन रूपी आलोचन प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। तदनन्तर वस्तु के संदर्भ में 'विशेष्य-विशेषण-भाव' पूर्वक विवेचन करना मन की संकल्पवृत्ति है। द्वितीय प्रकार का 'वस्तु धर्म जनित' सविकल्प ज्ञान निश्चयात्मक ज्ञान के रूप में प्रतिपादित होता है। यह संकल्प लक्षण व्यापार मत की सजातीय अर्थात् अहंकारादि से एवं विजातीय अर्थात् तन्मात्र आदि तत्त्वों से पृथक् करने के कारण मन का स्वलक्षण माना जाता है। अन्य इन्द्रियों के साधर्म्य अर्थात् समान धर्मिता होने के कारण मन भी इन्द्रिय-लक्षण-युक्त है। अन्तःकरण का एवं अन्तः व्यापार से युक्त होने के कारण यह अन्तरीन्द्रिय कहलाता है। चूँकि सात्विक अहंकार से इसकी उत्पत्ति होती है इसलिए इसमें प्रकाशकत्त्व पाया जाता है और यही कारण है कि बुद्धि से युक्त मन विषयों के सम्यक् स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। सात्विक अहंकार से पंच ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक्) एवं पंच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ) की उत्पत्ति होती है। श्रोतृ आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों की वृत्ति, पंच तन्मात्र–शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध इन पाँच विषयों का आलोचन मात्र एवं वाक् आदि पंच कर्मेन्द्रियों के व्यापार वचन, ग्रहण, विहरण, उत्सर्ग एवं आनन्द कहे जाते हैं। अहंकार तत्त्व में उत्पन्न ये द्विविध सर्ग राजस् अहंकार से प्रेरित होते हैं। इनके अतिरिक्त महत्, अहंकार एवं मन की संयुक्त स्थिति को अन्तःकरण कहा जाता है। प्राण इत्यादि पंच वायु अन्तःकरण की सामान्य वृत्ति के विषय हैं। यद्यपि इन तीनों के स्वतन्त्र लक्षण हैं परन्तु प्राण आदि पंच वायु इसके सामान्य अर्थात् सम्मिलित व्यापार है। तीनों करणों की सामान्य वृत्ति रूप पंच प्राण वायु की शरीर धारण ही वृत्ति है, क्योंकि प्राणादि क्रिया के रहने पर ही जीवन का अस्तित्त्व रहता है और उसके अभाव से जीवन का अभाव हो जाता है। इनमें ''प्राण'' वायु नासाग्र, हृदय, नाभि और पैर के अंगुष्ठ में रहता है। ''अपान'' वायु कण्ठ, पीठ, पाद, पायु, उपस्थ एवं पार्श्व में रहता है। ''समान'' वायु हृदय, नाभि तथा सभी जोड़ों में रहता है। ''उदान'' वायु हृदय कण्ठ, तालु, मूर्धा और भ्रूमध्य में रहता है। ''व्यान'' वायु त्वक् में रहता है।

तात्विक एवं अध्यात्मिक दृष्टिकोण से अहंकार तत्त्व अत्यन्त ही महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली है। एक ओर तो वह व्यक्ति की क्रियाशीलता को बनाये रखता है जिससे अनुप्राणित होकर व्यक्ति सत्य संकल्प के द्वारा क्रमशः प्रगति कर सकता है। दूसरी ओर तीव्र अभिमान-वोध एवं करणों की चंचलता अध्यात्मिक प्रगति में बाधक भी है। अहंकार तत्त्व से उत्पन्न इन त्रयोदश करण (अन्तकरण एवं वाह्यकरण) को क्रमशः अनुकूल, सहायक एवं प्रकाशक बनाना ही साधक के साधना की उपलब्धि है। ये करण वे साधन हैं जिनसे साधक अपनी अध्यात्मिक यात्रा प्रारम्भ करता है। स्वभावतः चंचल होने के कारण इन्द्रियाँ बाधायें करती हैं, परन्तु अन्तर्योग से ये क्रमशः अन्तर्मुखी होकर साधक के नियन्त्रण में आ जाती है एवं सहायक सिद्ध होती है।

पद नं. ४४

भावानुवाद

दस इन्द्रियों के (ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय) कर्म क्या है? ज्ञानेन्द्रियाँ चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक् हैं। आकाश शब्द का आधार है, जिसे कान सुनता है। त्वक् वायु के स्पर्श को ग्रहण करता है। चक्षु, अग्नि को ग्रहण करती है एवं यह उसके आकार एवं रूप को ग्रहण करती है। जिह्वा जल के रूप में रस को ग्रहण करती है। नासिका पृथ्वी तत्त्व के रूप में गन्ध संवेदना को प्राप्त करती है। वाक् कर्मेन्द्रिय आकाश का स्थान लेते हुए शब्द को प्रकाशित करती है। पाद, गमनशीलता को अभिव्यक्त करता है। पाणि आदान प्रदान करता है। वायु जल का स्थानान्तरण करते हुए जल का निस्सरण करता है। उपस्थ पृथ्वी का स्थान लेते हुए शुक्र को संचालित करता है।

उक्त पद में ज्ञानेन्द्रिय एवं पंच कर्मेन्द्रिय के स्वरूपों एवं उनके कार्यों के बारे में उल्लेख किया गया है। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा एवं त्वक् वे ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जिनके साथ मन:संयोग होने पर ये इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रूप से अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। चक्षु इन्द्रियों के द्वारा दृश्य संवेदन को ग्रहण किया जाता है। अग्नि तत्त्व का सूक्ष्म तन्मात्ररूप 'रूप' है। अग्नि तत्त्व से बनी चक्षु अग्नि के सूक्ष्म तन्मात्र रूप को ग्रहण करती है। कर्ण इन्द्रिय आकाशरूपी तत्त्व में विद्यमान शब्द तन्मात्र को ग्रहण करता है। त्वचा वायु के स्पर्श की संवेदना प्राप्त करती है, क्योंकि स्पर्श ही वायु का सूक्ष्मरूप है जो त्वक् इन्द्रिय से ग्रहणीय है। पृथ्वी तत्त्व से बनी नासिका इन्द्रिय पृथ्वी का सूक्ष्म तन्मात्र रूप गन्ध संवेदना को प्राप्त करती है। जल का धर्म रस है जिसे जिह्वा इन्द्रिय ग्रहण करती है। इन पंच ज्ञानेन्द्रियों की वृत्ति पंच तन्मात्रों का विवेचन करना है। पंच कर्मेन्द्रिय के भी अपने-अपने निश्चित कार्य होते हैं। वाक् इन्द्रिय का व्यापार वचन के माध्यम से ध्वनि उत्पन्न करना है। पाणि अर्थात् हस्त का कार्य विषयों का आदान-प्रदान करना है, पाद के माध्यम से जीवन विभिन्न प्रकार की गतिशीलता को बनाये रखता है। पाद की सहायता से ही वह एक स्थान से दूसरे स्थान में जाता है। वायु शरीर में जल के सन्तुलन को बनाये रखते हुए दूषित जल का नि:सरण करता है। उपस्थ पृथ्वी का स्थान लेते हुए शुक्र का संचरण एवं मलादि का त्याग करता है। ये दस इन्द्रियाँ मन:संयोग से स्वतन्त्र रूप से अपने-अपने स्वलक्षण व्यापार को सम्पन्न करती है। इन्द्रियाँ ऐसी द्वार हैं जिनके माध्यम से मन बाह्य विषयों को ग्रहण करता हुआ अन्त:करण को उस विषय का सम्यक बोध प्रदान करता है। अन्त:करण ही विषयों के विशद ज्ञान को प्राप्त करती हैं। इन्द्रियाँ अकेले बोध को उत्पन्न नहीं कर सकतीं, वे मात्र संवेदना को ही प्राप्त करती हैं। उन इन्द्रियों की रचना तत् सम्बन्धित तत्त्वों से ही होती है जिनके सूक्ष्म रूप को इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं। प्रकृति माया से उत्पन्न इन तत्त्वों का विकास एवं संचालन ईश्वरेच्छा से ही होता है।

पद नं. ४५

भावानुवाद

जब हम तत्त्वों की गणना करते हैं तब पंच भूत तत्त्व, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ एवं मन को प्राप्त करते हैं। इनके क्रमशः आकार, अक्षर एवं चिन्ह विद्यमान हैं। वायु अत्यन्त तीव्र गति से प्रवाहमान होकर तब विषयों को वहन करता है। अग्नि जो स्वयं प्रज्वलन है दूसरों को उत्ताप प्रदान करता है। जल स्वयं शीतल है एवं अन्य को शीतलता प्रदान करता है। पृथ्वी स्वयं सशक्त रहकर अन्य विषयों को धारण करती है।

उक्त पद में सन्त उमापति शिवाचार्य ने इन्द्रियों एवं तत् सम्बन्धित विषयों की ही पुनर्विवेचना की है। ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के विषय क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध नामक पंच तन्मात्र तथा क्षिति, अप, तेज, मरूत्, ब्योम नामक पंच तत्त्व हैं। आकाश, वायु का आधार है जो विषयों को सूक्ष्म रूप से वहन करता हुआ तीव्र गति से प्रवाहमान रहता है। रूप अग्नि तत्त्व का सूक्ष्म तन्मात्र है, उत्ताप अग्नि का धर्म है स्वयं प्रज्वलित होकर अन्यों को उत्ताप प्रदान करना अग्नि तत्त्व का धर्म है। जल तत्त्व का सूक्ष्म तन्मात्र रस है, जो सदा जल में विद्यमान रहता है, सामान्य रूप से जल शीतलता को प्रदान करता है। जिह्वा इन्द्रिय इसकी विशिष्टता को ग्रहण करती है। गन्ध तन्मात्र का आधार पृथ्वी तत्त्व है, नासिका इन्द्रिय की संरचना उक्त तन्मात्र को ग्रहण करने के लिए उपयुक्त है। सशक्तता पृथ्वी तत्त्व का धर्म है, इसीलिए वह स्वयं सशक्त रहकर अन्य विषयों का आधार बनती है एवं स्थूल, सावयव पदार्थ को धारण करती है। अतः स्पष्ट है कि तामस अंहकार से उत्पन्न पंच तन्मात्र, स्थूल महाभूत के सूक्ष्म रूप हैं। महाभूत तन्मात्रों से उत्पन्न होकर उनकी विशिष्टताओं को प्राप्त होते हैं। प्रकृति माया से उत्पन्न ये चौबीस तत्त्व स्थूल सांसारिक विषयों को उत्पन्न करते हैं, जो आत्मा के विभिन्न कर्मों के क्षेत्र एवं आधार को प्रदान करते हैं। प्रकृति तत्त्व से उत्पन्न सूक्ष्म करणों से युक्त होकर आत्मा स्थूल विषयों का उपभोग करती है अर्थात् माया ही आत्मा को तनु, करण, भुवन एवं भोग प्रदान करती है। उपभोग के माध्यम से क्रमशः उपभोग से विरत होने की स्थिति को लाने के लिए चित् शक्ति ही आत्मा को कर्म एवं माया से संयुक्त करती है। शुद्ध एवं शुद्धाशुद्ध तत्त्व के उपरान्त वह आत्मा को स्थूल जगत के स्थूल विषयों के उपभोग के लिए प्रकृति माया से उत्पन्न उक्त त्रयोदश करणों (तीनों अन्तःकरण एवं दशबाह्यकरण) से सम्बद्ध करती है। प्रकृति माया, माया तत्त्व की स्थूल अभिव्यक्ति है, जिसके स्थूल रूप का प्रकाशन ये इन्द्रियाँ है। प्रकृति माया आत्मा को एक ओर तो इन इन्द्रियों से सम्बद्ध करती है, दूसरी ओर इन्द्रियों द्वारा ग्रहणीय विषयों को भी उत्पन्न करती है। इसी प्रकार आत्म तत्त्व प्रकृति के सूक्ष्म एवं स्थूल प्रकाशन से सम्बद्ध होकर इस परिवर्तनशील जगत की प्रक्रिया में अनुभवों से आवद्ध हो जाती है।

पद नं. ४६

भावानुवाद

देह इन तत्त्वों में आबद्ध हो जाता है एवं अनेक दुःखों का उपभोग करता है तथा कठिनाइयों का सामना करते हुए सर्प जैसे अपने देह से निकलता है तथा पक्षी अण्डे से बाहर आता है, वैसे ही यह (आत्मा) देह से सम्बद्ध होती है (विभिन्न विषयों का उपभोग करती है)। कल, सूक्ष्म, पुरीयष्टकम् शुभ एवं अशुभ ऐसे तीस तत्त्व देह से सम्बन्धित होकर विभिन्न अनुभवों के माध्यम से स्वर्ग एवं नरक जैसा अनुभव करवाते हैं। ईश्वर की कृपा से इस विश्व में पुनः उसका जन्म होता है ऐसा आगम में कहा गया है।

उक्त पद में श्री उमापति बद्ध आत्मा के सांसारिक उपभोग की स्थिति का वर्णन करते हैं। माया तत्त्व से विकसित सूक्ष्म एवं स्थूल शुद्ध एवं अशुद्ध सभी तत्त्वों से सम्बद्ध होकर आत्मा विभिन्न तत्त्वों के स्वरूपानुकूल विषयों का उपभोग करती है। यद्यपि आत्मा स्वयं में निष्कल, निरअवयव भावरहित चैतन्य सत्ता है, परन्तु शुद्ध-अशुद्ध तत्त्वों से संयुक्त होने के फलस्वरूप आत्मा में सभी के गुण-दोष आरोपित होते हैं परिणामतः आत्मा सुख-दुःख के चक्र में आबद्ध हो जाती है। मूलतः आत्मा सुख-दुख से रहित शुद्ध ज्ञान सत्ता है परन्तु प्रकृति-जात विभिन्न तत्त्वों से सम्बद्ध होकर उनके भावों से आच्छादित रहती है और यही आत्मा के बन्धन की स्थिति है। आणव-मल से उत्पन्न अज्ञानता जनित मोह के कारण आत्मा इन आरोपित विषयों से अपने को सम्बद्ध सोचती है और उसी के फलस्वरूप उसका कर्म बन्धन भी होता है। माया कर्म से आबद्ध होकर आत्मा इस परिवर्तनशील संसार में सुख-दुख के आवर्तन में फँस जाती है। उक्त स्थिति में सांसारिक विभिन्न विषयों के अनुभवों को प्राप्त करने के उपरान्त सर्प की तरह बाह्य स्थूल देह को त्याग कर देती है जैसे सर्प बाह्य स्थूल देह का कार्य सम्पन्न होने के उपरांत उसे त्यागकर बाहर आ जाता है एवं जैसे पक्षी निश्चित समय में आकार ग्रहण करने के बाद अण्डे से निर्गत हो जाता है उसी प्रकार प्रकृति से प्राप्त स्थूल देह से अनेक अनुभवों को प्राप्त करने के उपरांत आत्मा उसे त्याग देती है, परन्तु यह त्याग अन्तिम त्याग नहीं होता क्योंकि अज्ञानता प्रसूत माया-मोह, भोगों से उत्पन्न सांसारिक बन्धन अनेक रहते हैं। इसीलिए आत्मा को पुनः देह धारण करते हुए विषय सम्बन्धित सुख-दुःखों का उपभोग प्राप्त करना पड़ता है। ये सांसारिक प्रक्रियायें ईश्वरेच्छा से ही होती हैं जो आत्मा को इन प्रकृति-जात सांसारिक विषयों के उपभोग के उपरान्त उनकी निःस्सारता के सम्यक् ज्ञान को प्रदान करती है। प्रकृति जात इन त्रिगुणात्मक विषयों के उपभोग के बिना सत् असत् का सम्यक ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता इसीलिए इन विषयों से आत्मा को सम्बद्ध करती हुई चित् शक्ति क्रमशः उसे पारमार्थिक सत्य की ओर ले जाती है। सांसारिक विषयों के अनुभव सुख-

दुःखात्मक होने पर भी वे अन्ततः आत्मा के लिए शुभ फलदायक होते हैं। परम कल्याणकारी शिव-शक्ति की कोई भी प्रेरणा आत्मा के लिए निश्चित रूप से शुभ को ही उत्पन्न करती है। माया तत्त्व से उत्पन्न सूक्ष्म एवं स्थूल तत्त्वों से सम्बद्ध होना आत्मा के लिए विभिन्न विषयों के अनुभवों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। तत्त्वों से इस सम्बद्धता को ही पुरीयष्टक कहते हैं। शुद्ध माया से उत्पन्न शुद्ध तत्त्व, शुद्धाशुद्ध माया से उत्पन्न सत् विद्या तत्त्व एवं प्रकृति से उत्पन्न चौबीस अशुद्ध तत्त्व से आबद्ध होकर आत्मा सूक्ष्म तथा स्थूल देह को माया प्राप्त करती है। स्थूल देह संसरणशील है अर्थात् सुख दुःखात्मक सांसारिक विषयों के उपभोग के उपरान्त आत्मा उसे पक्षी के अण्डे एवं सर्प के वाह्य देह की तरह त्याग देती है एवं सूक्ष्म देह के साथ निर्गत हो जाती है। इस सूक्ष्म को देही पुरीयष्टकम् कहा जाता है। वासना की निवृत्ति न होने के कारण आत्मा को पुनः स्थूल देह धारण करना पड़ता है। जब तक विषयासक्ति की निवृत्ति नहीं होती है, जब तक कर्म के समस्त कर्मफलों का अन्त नहीं हो जाता, तब तक माया तत्त्व से सम्बद्ध होकर आत्मा सुख दुःखात्मक अनुभवों को प्राप्त करती रहती है। शुद्ध माया से उत्पन्न देह शिव तत्त्व कहलाता है, जो मल कर्म रहित होता है। यही वेदागम का आधार एवं दुःख से परे विमुक्त-स्थिति है। शुद्ध माया से उत्पन्न शिव तत्त्व क्रमशः (१) नाद (क्रियाशक्ति), (२) बिन्दु (ज्ञान एवं क्रिया शक्ति समन्वित), (३) तादाख्य (अधिकार क्रिया-शक्ति सम्पन्न), (५) माहेश्वर (अधिकांश ज्ञान शक्ति सम्पन्न) एवं शुद्धविद्या है। उन शिव तत्त्वों को मामया, कुण्डली तथा बिन्दु भी कहा जाता है। मलातीत एवं कर्मातीत होने के कारण स्वयं शिव ही अपनी शक्ति के माध्यम से इसका संचालन करता है। अभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से ये ज्ञान, क्रिया एवं इच्छा शक्ति के प्रकाशन हैं। शुद्ध एवं शिव तत्त्व होने के कारण इन्हें 'प्रेरक काण्ड' कहा जाता है।

शुद्धाशुद्ध तत्त्व सात हैं–काल, नियति, कल, विद्या, राग, माया एवं पुरुष। इन सात तत्त्वों में प्रथम तीन अर्थात् काल, नियति एवं कला तत्त्व का नियंत्रण शक्ति तत्त्व द्वारा होता है, जबकि विद्या तत्त्व का नियंत्रण शुद्ध विद्या, राग तत्त्व का नियन्त्रण ईश्वर तत्त्व, माया तत्त्व का नियन्त्रण शिव तत्त्व एवं पुरुष तत्त्व का नियंत्रण सदाशिव करते हैं। ये शुद्धा-शुद्ध तत्त्व आत्मा के उपभोग के लिए चित् शक्ति द्वारा प्रदान किये जाते हैं, जो 'भोग्य खण्ड' कहलाते हैं। तदुपरान्त प्रकृति तत्त्व अर्थात् अशुद्ध माया द्वारा तनु, करण, भुवन एवं भोग उत्पन्न किये जाते हैं, जिसे अशुद्ध प्रपंच भी कहते हैं। ये भी भोग्य-खण्ड के अंतर्गत हैं। अशुद्ध प्रपंच में पूर्वोक्त चौबीस तत्त्व उत्पन्न होते हैं। उपर्युक्त ये तीन प्रकार की तात्विक सृष्टि आत्मा के लिए वैसे ही आवरण युक्त बन्धन सृष्टि करती है जैसे कि एक सिंह तीन प्रकार के लौह-पिंजर में हो, जैसे पिंजराबद्ध सिंह अपने सब खान-पान इत्यादि जीवन धारण करने के विषयों को प्राप्त करने पर भी उस पिंजर से मुक्त होने के

लिए छटपटाता है, एवं आबद्ध-स्थिति में रहने पर भी अपने को पूर्ण शक्तिशाली मानता है उसी प्रकार आत्मा भी भ्रमवश अपने को एक ओर तो पूर्ण शक्तिशाली मानती है एवं दूसरी ओर वद्धावस्था का अनुभव करती हुई उससे मुक्त होने के लिए निरन्तर व्याकुल रहती है। यद्यपि उसका आन्तरिक स्वरूप, शिव-चैतन्यमय है, तथापि उसको अज्ञात है, परन्तु उस आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने के लिए वह आन्तरिक रूप से निरन्तर प्रयत्नशील रहती है। आत्मा का ईश्वर-चैतन्य के प्रति स्वाभाविक आकर्षण के ही कारण आत्मा की ओर से यह प्रक्रिया होती है। वास्तव में चित् शक्ति ही इन समस्त व्यापारों का संचालन करती है। ये सभी विषय आत्मा से जन्म-जन्मान्तर सूक्ष्म रूप में सम्वद्ध रहते हैं। महा-प्रलय तक यह प्रक्रिया चित्-शक्ति के निर्देशन में चलती ही रहती है। महाप्रलय से पुनर्सृष्टि तक सबकी विश्रान्ति की अवधि होती है। स्थूल-शरीर सूक्ष्म शरीर के ऊपर आधारित रहता है जैसे सर्प अपने देह के बाह्य आवरण भाग को छोड़ने पर भी अन्दर से और एक देह के साथ निर्गत होता है एवं पक्षी भी अण्डे के बाह्य भाग को छोड़कर अन्दर से एक दूसरे शरीर की सहायता से निर्गत होता है, उसी प्रकार आत्मा स्थूल देह को छोड़कर अन्य देह को लेकर निर्गत होती है। जब तक कर्मफल का अन्त नहीं होता तब तक सूक्ष्म देह आत्मा के साथ विद्यमान रहता है। स्थूल देह के माध्यम से आत्मा इस पृथ्वी पर विद्यमान रहती है एवं सूक्ष्म देह, जिसे यातना देह कहते हैं, के साथ आत्मा स्वर्ग-नरक इत्यादि का उपभोग करती है। सूक्ष्म देह स्थूल देह का आधार है जो प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रकृति के सूक्ष्म तत्त्व से उत्पन्न यह सूक्ष्म अथवा 'पुरीयष्टकम्' देह, मन, बुद्धि, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पंच कर्मेन्द्रियाँ पंच ज्ञोनन्द्रियाँ, प्रकृति, पंच कलादि तत्त्वों से समन्वित है। कर्मानुसार पाप-पुण्य जनित संस्कार के आधार पर आत्मा तदनुकूल देवलोक एवं मनुष्य लोक में निवास करती है। कर्मों के फलानुसार स्वर्ग एंव अशुभ कर्म के फलानुसार नरक की प्राप्ति होती है। मनुष्य-लोक वह कर्म भूमि है जहाँ आत्मा अपनी प्रचेष्टा से आध्यात्मिक प्रगति को प्राप्त करने का अवसर प्राप्त करती है। इस कर्मभूमि में कर्म का सदुपयोग न करने से अधोगति होती है। भूलोक में ही आत्मा को स्थूल देह की प्राप्ति होती है एवं उक्त स्थूल देह के परिवर्तन से जन्मान्तर का उपभोग होता है। संस्कार वशात् सूक्ष्म देह आत्मा के साथ ही विद्यमान रहती है। चित् शक्ति की प्रेरणा से ये प्रक्रियाएँ घटित होती हैं। आत्मा स्वतः अपनी इच्छा से इन परिवर्तनों को सम्पादित करने में समर्थ नहीं होती। ईश्वर ही सर्व शक्तिमान है, जिसकी कृपा से स्वर्ग, मेघ, भूमि, माता, पिता इन पंच अग्नि अथवा आहूति से आत्मा मुक्त होती है। ये पंचाग्नि, विद्या कहलाती है, जो आत्मा को उसके कर्मानुसार बन्धन में रखती है। केवल ईश्वर कृपा ही आत्मा को क्रमशः मोक्ष की ओर प्रेरित करती है—यही वेदागम का सन्देश है।

पद नं. ४७

भावानुवाद

चौरासी लाख योनियों में जन्म होते हैं, जिनमें उद्भिद् जीवन–उन्नीस लाख, कीट जीवन, पन्द्रह लाख, देव जीवन–ग्यारह लाख जलजन्तु, पक्षी एवं पशु प्रत्येक दस लाख, मनुष्य जीवन–नौ लाख, ये सम्पूर्ण चौरासी लाख हैं। इनमें से कुछ अण्डज, कुछ स्वेदज, कुछ बीजजात एवं कुछ जरायुज ऐसे चार प्रकार के जीव भी होते हैं।

भारतीय अध्यात्म शास्त्र के अनुसार चौरासी लाख योनियों में विभिन्न प्रकार के जन्मों के उपरान्त मनुष्य जन्म की प्राप्ति होती है। इन चौरासी लाखों में उद्भिद् योनि उन्नीस लाख, रेंगनेवाली कीट योनि–पन्द्रह लाख, देव योनि ग्यारह लाख, जलज प्राणी दस लाख, पक्षी योनि दस लाख, पशु योनि दस लाख एवं मनुष्य योनि नौ लाख ये कुल मिलाकर चौरासी लाख जन्मों को पार करने के उपरान्त जीव बन्धन से मुक्त हो सकता है, ऐसा शास्त्र में कहा गया है। इन असंख्य जन्मों में कुछ अण्डज जन्म है। अर्थात् बई प्राणियों का जन्म अण्डे से होता है, कई स्वेदज (पसीने से उत्पन्न) अर्थात् स्वेद से उत्पन्न होने वाले प्राणी, कई जन्म बीज से उत्पन्न होने वाले, एवं उन्नत कोटि के प्राणियों के जन्म जरायुज से होते हैं। इन अनेकों योनियों में ऊर्ध्वलोक, अधोलोक एवं भूलोक में सभी प्राणी आते-जाते हैं अर्थात् सृष्टि प्रपंच में जितने प्रकार के जीव विद्यमान हैं, सभी विभिन्न जन्मों को पार करते हुए अपने-अपने कर्मानुसार ऊर्ध्व एवं अधोगति को प्राप्त हो रहे हैं। सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, अखण्ड चैतन्य सत्ता ही सबका आधार एवं लक्ष्य है। आणव मल जनित अज्ञानता से सत्य ज्ञान आच्छादित हो जाने के कारण ही आत्मा को इतना परिभ्रमण करना पड़ता है परन्तु सभी ईश्वरीय प्रेरणा से अन्ततः ईश्वरीय स्थिति को प्राप्त होते हैं जो आत्मा के लिए परमाश्रय है।

पद नं. ४८–शुद्धावस्था

भावानुवाद

मनुष्य जितने पाप एवं पुण्य कर्म करता है उन सभी का अनुभव करना पड़ता है, यही सकलावस्था है। भूतकाल का संचित कर्म प्रारब्ध बन जाता है। प्रारब्ध एवं आगम्य पुनः संचित कर्म कहलाता है अतः पाप एवं पुण्य के अनुसार वह ईश्वर की कृपा से मोक्ष प्राप्त करता है। तिरोधान शक्ति जो आच्छादित रूप से ईश्वर की कृपा हैं, आत्मा को शुद्ध बनाती है एवं तभी हम शक्ति निपात ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं।

भारतीय दर्शन के अनुसार मनुष्य संसार-रूपी इस कर्म-भूमि में निरन्तर कर्म करता

आ रहा है। कर्म में अन्तर्निहित वासना-युक्त अभिप्राय के अनुसार कर्म का परिणाम उत्पन्न होता है जिसे अवश्यम्भावी रूप से मनुष्य को ग्रहण करना पड़ता है। कर्म द्विविध हैं–शुभ एवं अशुभ। अच्छे अभिप्राय से किया गया कर्म शुभ कर्म कहलाता है, जो पुण्य-रूपी अच्छे परिणाम को उत्पन्न करता है एवं इसके विपरीत बुरे अभिप्राय से किये गये कर्म का बुरा फल उत्पन्न होता है जिसे पाप कहा जाता है। यह विश्व प्रपंच ऐसे ही पाप एवं पुण्य को उत्पन्न करने वाले असंख्य कर्म फलों का उपभोग-स्थल है। कर्मफल का यह अमोघ नियम प्रत्येक के लिए सामान्य रूप से प्रयुक्त होता है। मनुष्य किसी भी क्षण नैष्कर्म की स्थिति में नहीं रहता, यही कारण है कि उसे कर्मफलों को भी निरन्तर भोगना पड़ता है। कर्मफल के उपभोग के संदर्भ में वह पुनः कर्म करता है, इसी प्रकार कर्म एवं कर्मफल की शृंखला वृक्ष एवं बीज की तरह निरन्तर चलती रहती है। अनवरत किये गये कर्म के सभी परिणाम मनुष्य को एक ही जन्म में प्राप्त नहीं हो सकते। इसीलिए भारतीय-दर्शन में पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त माना गया है। कर्म एवं कर्मफल की सम्पूर्ण व्याख्या के लिए जन्मान्तरवाद को स्वीकार करना आवश्यक है। एक जीवन में मनुष्य उन कर्मों के फल को प्राप्त नहीं कर सकता है, उन फलों को प्राप्त करने के लिए उसे फिर से जन्म लेना पड़ता है। यद्यपि कर्म एवं कर्म फल बीज एवं पेड़ की तरह निरन्तर गतिमान हैं, परन्तु समझने की सुविधा के लिए इसे तीन भागों में बाँटा गया है अर्थात् तीन प्रकार के कर्म बताये गये हैं–१. संचित कर्म, २. प्रारब्ध कर्म, ३. संचीयमान अथवा क्रियमान कर्म। संचित कर्म वह कर्म है जो भूतकाल में किया गया है एवं जिसका परिणाम भी अभी प्राप्त नहीं हुआ, भविष्य में प्राप्त होने वाला है। प्रारब्ध कर्म वह कर्म है जिसे भूतकाल में किया गया है एवं जिसका परिणाम भी प्राप्त हो रहा है अर्थात् वर्तमान जीवन के सभी उपभोग, चाहे सुखात्मक या दुःखात्मक हों अपने ही किये गये अतीत कर्मों के परिणाम हैं। संचीयमान कर्म सम्प्रति काल में किये गये कर्म हैं जिनका परिणाम भविष्य में प्राप्त होने वाला है। कर्म के इस सार्वभौम नियम के आधार पर ही मनुष्य भूत, वर्तमान एवं भविष्य जीवन में आबद्ध रहता है। इसीलिए भारतीय चिन्तन परम्परा में वर्तमान को भूतकाल का परिणाम एवं भविष्य का बीज या आधार माना गया है। कर्म फल के नियम के अनुसार ही आत्मा विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करती रहती है। अच्छे कर्म से पुण्य फल को प्राप्त करने वाला उच्च योनि में जन्म लेता है एवं बुरे कर्मों के पाप को प्राप्त करने वाला जीव निम्न योनि में जन्म लेता है। कीट पतंग एवं पशु योनि से भी मनुष्य योनि में उन्नति एवं अवनति के उतार-चढ़ाव भी होते हैं क्योंकि मनुष्य ही स्वतन्त्र संकल्प जन्य प्राणी है जो अपनी इच्छानुसार कर्म को करता हुआ जीवन में जाति, धर्म, ऐश्वर्य, गुण तथा विविध प्रकार की परिस्थिति को प्राप्त करता है। विभिन्न अभिप्राय से अनुप्राणित कर्मों के परिणामस्वरूप मानव जीवन में अनेक प्रकार के सुख दुख को भी प्राप्त करता है। ईश्वर

१. भगवद्गीता

कृपा से ही प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मानुसार देह एवं अन्यान्य विषयों की प्राप्ति होती है। ईश्वर परम कृपालु एवं न्याय-प्रिय है, इसीलिए किसी के प्रति कोई अन्याय अविचार नहीं हो सकता। न्याय-परायणता ही ईश्वर कृपा का स्वरूप है। मनुष्य द्वारा किये गये कर्मों के संस्कार वायु के साथ गन्ध की तरह स्वतः संचारित होते हैं, एवं भविष्य जीवन में परिणाम को प्रदान करने के लिए मातृ गर्भ में ही सूक्ष्म रूप में आत्मा से संयुक्त हो जाते हैं। चित्-शक्ति की प्रेरणा से यह कार्य स्वतः होता है। संचित कर्म एवं प्रारब्ध कर्म जो भूतकाल में किये गये हैं, मनुष्य के नियंत्रण के बाहर हैं इसलिए उन कर्मों के परिणाम को शान्त चित्त से ग्रहण करना ही उचित है परन्तु वर्तमान में किया गया कर्म ईश्वर प्रदत्त स्वतन्त्र इच्छा के कारण अनेकांश में मनुष्य के नियंत्रण के अंतर्गत रहता है। यही कारण है कि महापुरुषों ने हमें क्रियमान कर्म के संदर्भ में ही बार-बार चेतावनी दी है कि सत्-असत्, नैतिक-अनैतिक, धर्म-अधर्म की विवेचना करते हुए कर्म को सम्पादित करना चाहिए जिससे आने वाले परिणाम हमारे लिए सर्वथा अनुकूल हों। संचित अथवा आगम्य कर्म उस बीज की तरह हैं जिन्हें जमीन के अन्दर बोया गया है एवं भविष्य में उनसे अवश्य ही वृक्ष उत्पन्न होने वाला हैं। जैसा बीज है तदनुकूल ही वृक्ष तथा उसका फल उत्पन्न होता है। प्रारब्ध कर्म उस वृक्ष की तरह है जिससे उसकी गुणवत्ता के अनुरूप फल प्राप्त हो रहा है। माया-कर्म की संयुक्तावस्था के रूप में आत्मा की तीन अवस्थायें मानी गयी है– (१) केवलावस्था (२) सकलावस्था एवं (३) शुद्धावस्था। केवलावस्था में आत्मा इस विश्व प्रपंचरूपी कर्मभूमि में नहीं रहती इसलिए वह कर्म को सम्पादित भी नहीं करती। सूक्ष्म शरीर के साथ रहने पर भी आत्मा कोई कर्म नहीं करती इसीलिए आत्मा को कोई परिणाम भी प्राप्त नहीं होता परन्तु इस विश्व प्रपंच में आत्मा आणव, कर्म एवं माया इन तीनों पाशों से संयुक्त रहती है। इस अवस्था को सकलावस्था कहते हैं। यही अवस्था कर्म करने की अवस्था होती है एवं आत्मा सम्बद्ध प्रकृति एवं प्रवृत्ति के अनुसार काम करती रहती है तथा तदनुकूल परिणाम को भी प्राप्त करती है। अनेक कर्मफलों को प्राप्त करने के उपरांत ईश्वर कृपा से आत्मा सांसारिक विषयों की निःसारता का अनुभव करने के कारण ईश्वराभिमुख होती है एवं चर्या, क्रिया, योग तथा ज्ञानरूपी साधनों के द्वारा क्रमशः आध्यात्मिक प्रगति को प्राप्त करती हुई शिवकृपा से शिव चैतन्य का आस्वादन करती है। सांसारिक विषयों की अस्थिरता का अनुभव होने के कारण आत्मा में नित्यता एवं स्थायित्व के प्रति तीव्र आकर्षण उत्पन्न होता है एवं तभी मल का परिपाक होता है। मल परिपक्व होने से आत्मा को शाश्वत सत्य के अनुसन्धान की आकांक्षा क्रमशः तीव्र से तीव्रतर होने लगती है। अन्त में ईश्वर की कृपा से ही ईश्वर रूपी सत्य का बोध प्राप्त होता है। मल-परिपाक के साथ ही नित्य, कूटस्थ, शाश्वत सत्य का अनुसन्धान आत्मा की शुद्धावस्था का परिचायक है। क्रमशः आत्मा इन सभी मोह युक्त विषयों की सम्बद्धता से अपने को मुक्त करना चाहती है परन्तु यह कार्य उसकी शक्ति एवं सीमा के अंतर्गत

नहीं है। सांसारिक विषयों की परिवर्तनशीलता एवं सुख-दु:ख रूपी निरर्थक परिणामों को उत्पन्न करने की प्रवृत्ति से ही आत्मा उसके प्रति उदासीन हो जाती है। आत्मा की यह स्थिति चित्-शक्ति की अन्त:प्रेरणा से ही आती है परन्तु चित् शक्ति प्रकाशित रूप से इस कार्य को नहीं करती परम गुह्य, आच्छादित रूप से आत्मा में सत्व ज्ञान को उत्पन्न करती है। चित् शक्ति की यह आवरित, अप्रकाशित, अन्तर्लीन प्रक्रिया तिरोधायी कहलाती है। तिरोधायी अथवा तिरोधान शक्ति की अनुप्रेरणा से ही आत्मा शुद्धावस्था में क्रमशः परिपक्व स्थिति को प्राप्त करती है, तथा अन्त में वाह्य सांसारिक विषयों से उदासीन होकर ईश्वरोन्मुख होने पर वही तिरोधानशक्ति अपने को पूर्ण रूप से प्रकाशित करती हुई अनुग्रह शक्ति में रूपांतरित हो जाती है। ईश्वर के अनुग्रह से तीव्र शक्ति-निपात से आत्मा से सभी मल वैसे ही दूर हो जाते हैं जैसे कि एक पत्थर के प्रहार से सभी कौए उड़ जाते हैं। शिव ज्ञान रूपी प्रकाश के उदय होने से अज्ञानान्धकार संपूर्ण रूप से तिरोहित हो जाता है। चित् शक्ति ही पाश क्षय का कारण है। इसी की अन्त:प्रेरणा से शुद्धावस्था का आविर्भाव एवं उसकी परिपक्वता होती है एवं उपयुक्त समय में वही तिरोधान शक्ति अनुग्रह शक्ति के रूप में पूर्णरूप से प्रकाशित होकर सभी बन्धनों का क्षय करती हुई आत्मा को मोक्ष प्रदान करती है। केवल शिवकृपा से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है और कोई उपाय नहीं।

पद नं. ४९–शक्ति निपात

भावानुवाद

यदि अन्वेषण किया जाय तो (स्पष्ट होता है कि) शक्ति निपात चार प्रकार के हैं। ज्ञान पाद असंख्य हैं। उन व्यक्तियों के प्रति (अर्थात् जिन्होंने ज्ञान पाद को प्राप्त किया) ज्ञान स्वरूप नटराज आचार्य के रूप में आविर्भूत होते हैं। यह उनकी कृपा के कारण केवलावस्था एवं सकलावस्था से मल को दूर कर देता है। यह पूर्ण रूप से शुद्धावस्था है। वे जो चर्या, क्रिया एवं योग का प्रतिपालन करते हैं, प्रशंसा को प्राप्त करते हैं–उक्त पद्य के द्वारा कहा गया है कि आगम शास्त्रों का यही वक्तव्य है।

शैव-सिद्धान्त दर्शन के अनुसार ईश्वर कृपा ही आध्यात्मिक प्रगति एवं मोक्ष की एकमात्र उपाय है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य अपने प्रयास से, साधना के माध्यम से आत्मोन्नति को प्राप्त करता है, परन्तु सिद्धान्त दार्शनिक का कथन है कि स्वतन्त्र इच्छा का प्रयास भी ईश्वरकृपा के कारण ही सम्भव हो सकता है, जैसा कि पहले बताया गया है। तिरोधान शक्ति की प्रेरणा से मनुष्य क्रमशः सांसारिक विषयों की नि:सारता की उपलब्धि से ईश्वरोन्मुख होता है एवं उपयुक्त समय में ईश्वर कृपा का आविर्भाव होता है। पात्रता के अनुसार कृपा के प्रकाशन के चार स्वरूप देखने की मिलते हैं–मन्द, मन्दतर, तीव्र,

तीव्रतर। मन्दतर शक्ति निपात कृपा की न्यूनतम अभिव्यक्ति है, जो आत्मा को अध्यात्म जीवन की ओर प्रेरित करती है। उससे और कुछ प्रभावशाली शक्ति-निपात मन्द-शक्ति निपात कहलाता है जिसमें क्रमशः अज्ञानान्धकार दूर होता हुआ पाश बन्धन शिथिल होता है। तृतीय स्तर का शक्ति-निपात तीव्र शक्ति निपात की अवस्था है। इससे सांसारिक विषयों की अस्थिरता एवं अनित्यता का बोध उत्पन्न होने के फलस्वरूप आत्मा में वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्य एवं अनासक्ति से ही सांसारिक बन्धन शिथिल होते हैं। आध्यात्मिक जीवन के लिए यह अनुकूल एवं अभिप्रेत है। इस स्थिति में व्यक्ति संसार में कमल के पत्ते की तरह रहता है अर्थात् विश्व प्रपंच में रहते हुए भी विश्व की आसक्तियों से अप्रभावित रहता है। आत्मा की इस स्थिति की परिपक्वावस्था ही तीव्रतर शक्ति-निपात का आह्वान करती है। यह ईश्वरीय कृपा की वह अभिव्यक्ति है जिसमें आत्मा अपनी आध्यात्मिक यात्रा में अन्तरंग रूप से ईश्वरानन्द का अनुभव प्राप्त करती है। चतुर्थ एवं अन्तिम स्थिति तीव्रतम शक्ति-निपात की स्थिति है जिसमें अहं तत्त्व का नाश होने पर आत्मा पूर्णरूप से ईश्वर के प्रति आत्म समर्पण करती है।

साधना के चार पक्ष माने गये हैं—चर्या, क्रिया, योग एवं ज्ञान। शिव, जो सच्चिदानन्द, असीम, शाश्वत एवं सर्वव्यापी सत्ता है आत्माओं को मुक्ति प्रदान करने के लिए स्थूल, सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर ऐसी तीन स्थितियों में अभिव्यक्त होता है। साधक क्रमशः अलग-अलग पर्याय में इन स्थितियों का ज्ञान प्राप्त करता है। वेद एवं आगम ग्रन्थों में ईश्वर के इन विभिन्न स्वरूपों के विकास का वर्णन प्राप्त होता है। जो साधक स्थूल दृष्टिकोण से ईश्वर को स्थूल रूप से जानना चाहता है, वह बाह्य भौतिक तत्त्वों से एवं अपने स्थूल शरीर के द्वारा ईश्वर की आराधना करता है, इस स्थूल प्रक्रिया का नाम चर्या है, जिसे साधक सकल स्थिति में सम्पादित करता है। जैसे–जैसे साधक की आध्यात्मिक चेतना प्रकाशित होती जाती है वैसे-वैसे उसका बौद्धिक दृष्टिकोण भी प्रखर होता जाता है एवं ईश्वर की कल्पना सकल-निष्कल अर्थात् सूक्ष्म रूप में करने में समर्थ होता है। वह शास्त्र द्वारा प्रतिपादित बाह्य एवं आन्तरिक विधान के माध्यम से ईश्वर की आराधना करता है, इस प्रकार की आराधना को 'क्रिया' कहते हैं। 'योग' उपासना की वह प्रणाली है जिससे साधक के ज्ञान की व्यापकता एवं गहनता दोनों ही विकसित एवं तीव्र होती है। चित्त एवं चिंतनशीलता के विकास के फलस्वरूप साधक निष्कल रूप में ईश्वर की कल्पना कर सकता है एवं सकल-निष्कल को उसी सूक्ष्म निष्कल की ही अभिव्यक्ति या प्रकाशन के रूप में ग्रहण करने में समर्थ होता है। इस प्रकार की चेतना से प्रेरित होकर साधक शास्त्रीय विधि से अन्तःकरण के द्वारा निष्कल की उपासना करता है इसे 'योग' कहते हैं। ज्ञान वह अन्तिम साधन है जिसके अभ्यास से साधक सत्य ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। सत्य, सच्चिदानन्द, अनन्त, असीम, शाश्वत सर्व व्यापक सत्ता है। इस परम

सत्ता की उपासना साधक शुद्ध ज्ञानरूपी साधना के द्वारा ही करता है, अर्थात् ज्ञान से ही ज्ञान को प्राप्त करने का यह अन्तिम साधन है। अत: उक्त चार प्रणालियाँ साधन के अलग-अलग पक्ष हैं जिससे साधक परमतत्त्व का अनुभव प्राप्त करने का प्रयास करता है। इन साधनों से आत्मारूपी फूल की कली पूर्ण विकसित फूल में परिणत होती है उससे फल की उत्पत्ति अंतिम स्थिति में कल की पूर्ण परिपक्वता से पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है। जैसे-जैसे ज्ञान प्रकाशित होता जाता है वैसे-वैसे अज्ञानता दूर होती जाती है। ज्ञान की पूर्णावस्था ही ईश्वर से पूर्ण मिलन है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानरूपी साधन के द्वारा ज्ञान-स्वरूप सच्चिदानन्द का अनुभव करना ही जीवन का लक्ष्य है। आगम शास्त्र के अनुसार उक्त चार साधन प्रतिपादित होते हैं।

पद नं. ५०—मुक्ति के भेद

भावानुवाद

युवती स्त्री से प्राप्त आनन्द ही मोक्ष है, पंच ग्रन्थियों को दूर करना ही मोक्ष है, तीन गुणों का निराकरण ही मोक्ष है, मुख्य कर्मों से विरत होना ही मोक्ष है, मलों को निवृत्त करना ही मोक्ष है, देह की शुद्धि ही मोक्ष है, विवेक ही मोक्ष है, विभिन्न स्थानों से आत्म तत्त्व का विलोप ही मोक्ष है, सिद्धियों की प्राप्ति ही मोक्ष है, पाषाणवत् हो जाना ही मोक्ष है–ये सभी वर्णन दोषयुक्त हैं। तीन मलों का निराकरण एवं आत्मा का कृपा से मिलन ही मोक्ष है। यही मोक्ष का नित्य, शाश्वत, सत्य स्वरूप है। मोक्ष को प्राप्त करने का यही सर्वोत्तम उपाय है।

उक्त पद में श्री उमापति शिवाचार्य विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार मोक्ष के स्वरूप का आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं। लोकायत या चार्वाक सिद्धान्त के अनुसार स्थूल शारीरिक इन्द्रियगत सुख ही जीवन का लक्ष्य है। प्रत्यक्ष को एक मात्र प्रमाण मानने के फलस्वरूप चार्वाक दर्शन में किसी प्रकार के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का विकास नहीं हो पाया। इन्द्रियातीत जगत का कोई तत्त्व एवं तदनुकूल आध्यात्मिक दृष्टिकोण की कोई मान्यता चार्वाक दर्शन में नहीं है। "ऋणम् कृत्वा घृतम् पिवेत" की भौतिकवादी नीतिशून्य जीवन प्रणाली के अनुसार इन्द्रियगत सुख ही उनके लिए मोक्ष-स्वरूप है। उसके अतिरिक्त किसी स्थायी आध्यात्मिक जीवन की कल्पना उनके लिए न तो सम्भव है और न ही वह उसकी आवश्यकता का अनुभव करता हैं। न्याय वैशेषिक जैसे सिद्धान्त जो बहु तत्त्ववादी है, महाभूत एवं तन्मात्र से पृथकत्व को ही मुक्ति मानते हैं। भारतीय दर्शन में न्याय दर्शन ही एकमात्र दर्शन है जिसमें चैतन्य आत्मा को आगन्तुक धर्म माना गया है। आत्मा जब देह धारण करती है एवं विभिन्न तत्त्वों तथा इन्द्रियों के संस्पर्श में आती है,

तभी आत्मा में चैतन्य का आविर्भाव होता है। अत: उनके लिए मोक्ष आत्मा का देह एवं इन्द्रियों से पृथकत्व है। विदेह आत्मा से चैतन्य तिरोहित हो जाता है। इसलिए महाभूत एवं तन्मात्रादि से पृथकत्व ही न्याय वैशेषिक के अनुसार मोक्ष का स्वरूप है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न विभिन्न विषयों से अपने को सम्बद्ध सोचना ही बन्धन है। आत्मा स्वरूपत: एक चेतन, निस्त्रैगुण्य एवं निष्क्रिय सत्ता है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों से अपने को सम्बद्ध करते हुए आत्मा अज्ञानता जनित मोहवश जन्म-मृत्यु के आवर्तन में आवद्ध हो जाती है। इस मिथ्या सम्बन्ध से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। सांख्य दर्शन के अनुसार आत्मा को जब प्रकृति पुरुष अर्थात् अनात्मा एवं आत्मा का भेद ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह त्रिगुणात्मिका प्रकृति के बन्धन से मुक्त होकर आत्मस्थ चैतन्य सत्ता में निर्लिप्त भाव से अवस्थित हो जाती है। यही मोक्ष की स्थिति है। जैन दर्शन के अनुसार राग-द्वेष जनित कर्मों से चैतन्य स्वरूप आत्मा की ओर उद्गल कणों का निरन्तर प्रवाह होता रहता है, जिसे 'आश्रय' कहते हैं। इस आश्रय से आत्मा का चैतन्य आवृत्त या धूमिल हो जाता है। आवृत्त चैतन्य से उत्पन्न सापेक्ष ज्ञान के कारण आत्मा जन्म-मृत्यु के चक्र में आवद्ध रहती है। यद्यपि आत्मा स्वरूपत: केवल ज्ञानी (सम्यक् रूप से सर्वव्यापक ज्ञान सम्पन्न) है, परन्तु राग द्वेष जनित कर्मों के कारण 'कषाय' की उत्पत्ति होती है। जिससे आत्मा अनात्म तत्त्व से आवद्ध हो जाती है। अत: जैन दर्शन के अनुसार कषाय युक्त कर्म का त्याग ही मोक्ष है। इस सन्दर्भ में यह सूच्य है कि जैन धर्म एक अनीश्वरवादी धर्म है राग-द्वेष जनित कर्म-बन्धन ही आत्मा के ज्ञान को संकुचित करते हुए उसे आवद्ध कर देता है। कर्मबन्धन से मुक्ति ही आत्मा के लिए वास्तविक सम्यक् ज्ञान की स्थिति को उत्पन्न करती है यही मोक्ष का स्वरूप है, ऐसा बताया गया है। तदनन्तर सन्त उमापति शैव दर्शन के आन्तर सम्प्रदाय पाशुपत की ओर संकेत करते हुए बताते हैं कि मात्र तीन मलों से मुक्ति ही मोक्ष नहीं है। आणव माया एवं कर्म यद्यपि आत्मा के लिए पाश-बन्धन उत्पन्न करते हैं, जिससे आत्मा जन्म मृत्यु के आवर्तन में आबद्ध रहती है परन्तु केवल मलाचरण का दूर होना ही आत्मा के लिए मोक्ष की स्थिति मानी नहीं जा सकती। पुन: कतिपय ऐसे कर्मयोगी हैं जिनके अनुसार यह नश्वर, इस परिवर्तनशील देह के नित्यत्व की प्राप्ति ही मोक्ष है। अर्थात् विशेष यौगिक प्रक्रिया को ही मोक्ष माना गया है। एक अन्य दार्शनिक के अनुसार सत् एवं असत् की भिन्नता के विवेक को ही मोक्ष का स्वरूप माना गया है। उक्त दृष्टिकोण से श्री उमापति सम्भवत: मायावादी की ओर ही संकेत करते हैं। श्री उमापति के अनुसार सांसारिक विषयों की असत्यता एवं आत्मा की सत्यता की उपलब्धि ही उनके लिए मोक्ष है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन में और भी कई प्रकार के मोक्ष के वर्णन पाये जाते हैं जैसे–देह से आत्मा के संयोग की मुक्ति को ही मोक्ष माना गया है। अर्थात् अज्ञानता के कारण अनादि काल से आत्मा देह से संयुक्त होकर जन्म

मृत्यु के आवर्तन में आबद्ध है। इस अवांच्छित संयोग का नाश ही मोक्ष है। कई सिद्ध योगी ऐसे हैं जिन्होंने साधन प्रणाली के सन्दर्भ में आविर्भूत विभिन्न प्रकार की सिद्धियों को मोक्ष माना है। भारतीय साधन पद्धति में अनेक प्रकार की यौगिक प्रक्रियायें पायी जाती हैं, जिनके साधन से अलौकिक शक्तियों का आविर्भाव होता है। इन शक्तियों को भी किसी दर्शन में मोक्ष माना गया है, तदनन्तर आत्मा का प्रवृत्तियों से रहित होकर सभी विषयों से असम्बद्ध होकर पाषाणवत् हो जाना भी मोक्ष का स्वरूप माना गया है।

श्री उमापति उपर्युक्त विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों द्वारा प्रतिपादित मोक्ष के स्वरूपों की आलोचना करते हुए बताते हैं कि वास्तव में उक्त कोई भी दृष्टिकोण आत्मा के मोक्ष स्वरूप को स्पष्ट नहीं करता। शैव सिद्धान्त के अनुसार आत्मा चित् स्वभाव अणु है। अनादि काल से आणव के द्वारा आधृत होने के कारण ईश्वर से विच्छिन्न होकर अज्ञान के अन्धकार में डुबी हुई जड़वत स्थिति में रहती हुई आत्मा को आणव मल से मुक्त कराने के लिए ईश्वर माया एवं कर्म-पाश को प्रदान करता है। ये दोनों पाश होने के उपरान्त भी आत्मा के लिए आंशिक प्रकाशकत्व का कार्य करते हैं। माया एवं कर्म से आबद्ध होकर आत्मा इस परिवर्तनशील संसार में विविध प्रकार के उपभोगों को प्राप्त करती रहती है, जिससे क्रमशः मल परिपक्व होने से उसका बन्धन शिथिल हो जाता है। उपयुक्त समय में ईश्वर की कृपा से सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होने पर अज्ञानता रूपी अन्धकार सम्पूर्ण रूप से तिरोहित हो जाता है, यही शक्ति निपात की स्थिति है। शक्ति निपात से ही मलावरण दूर हो जाता है एवं आत्मा सत्य-ज्ञान को प्राप्त करते हुए सत्य में अभेद रूप में विद्यमान हो जाती है। ईश्वर की कृपा, जो स्वतः-ज्ञान प्रकाश है, यही एकमात्र साधन है, जिससे आणव-मल से उत्पन्न अज्ञानान्धकार भी तिरोहित हो जाता है एवं आत्मा सत्-स्वरूप में स्थिर हो जाती है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा सद्सत स्वभाव रूप है। तात्पर्य यह है कि आत्मा या तो आणव-मल से संयुक्त रहती है या शिव-चैतन्य में लीन रहती है। आणवाधृत आत्मा अज्ञानता के आवरण के कारण उसी से सम्बद्ध होकर अपने मूल स्वरूप शिव-चैतन्य का बोध प्राप्त नहीं कर सकती, यह आत्मा की बन्धन की स्थिति है। इस स्थिति में आत्मा असत् तत्त्व वे सम्बद्ध होकर असत् भाव को ग्रहण करती है। परन्तु यह उसका मूल स्वरूप नहीं है। मूलतः आत्मा चैतन्य-स्वभाव है एवं ईश्वर से अद्वैत सम्बन्ध से सम्बन्धित रहती है, यही आत्मा की मोक्ष की स्थिति है। इस स्थिति में आत्मा शिव-चैतन्य से एक होकर उसी में विद्यमान रहती है यद्यपि मौलिक-रूप से कोई भी ऐसी अवस्था नहीं है, जो आत्मा को शिव-चैतन्य से पृथक् कर देती हो क्योंकि सर्वव्यापक चैतन्य स्वरूप ईश्वर से पृथक् होना असम्भव है, परन्तु आणवाधृत होने के कारण अज्ञानान्धकार शिव-चैतन्य का अनुभव होने नहीं देता। आत्मा ईश्वरीय सत्ता का अनुभव न कर पाने के कारण अज्ञान से उत्पन्न अहंकार एवं 'ममकार' में लिप्त रहती है।

एकमात्र ईश्वर की कृपा ही आत्मा को इस स्थिति से उद्धार कर सकती है। आणवाधृत आत्मा स्वयं कोई भी प्रयास करने में असमर्थ रहती है। शिव-शक्ति की प्रेरणा से ही आत्मा माया एवं कर्म से संयुक्त होकर प्रयत्नशीलता को प्राप्त करती है। चूँकि ज्ञान ईश्वर चैतन्य है अतः ईश्वर जिसे प्रदान करता है वही ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। अज्ञानता के अन्धकार को दूर करते हुए स्वतः ज्ञान को प्राप्त कर लेना किसी के स्वतन्त्र प्रयास से सम्भव नहीं है। यदि ऐसा होता तो ईश्वर प्रयासलब्ध हो जाता। प्रयासलब्ध ईश्वर परतन्त्र एवं शून्य हो जाता है जो ईश्वर प्रत्यय के लिए असम्भव है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर की कृपा ही एकमात्र उपाय है जिसके द्वारा ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर-कृपा जव परोक्ष रूप से आत्मा को ज्ञान प्राप्त करने के लिए तैयार करती है तब उसे तिरोधान शक्ति कहा जाता है। वही कृपा जब पूर्ण रूप से प्रकाशित होकर आणवमल को सम्पूर्ण रूप से अभिभूत करते हुए आत्मा को ईश्वर-शक्ति से आप्लावित कर देती है तव उसे अनुग्रह कहा जाता है। ईश्वर कृपा ही दो रूपों में क्रियाशील होकर आत्मा को अज्ञानता से ज्ञान के प्रकाश में ले जाती है और यही आत्मा का सत्य-स्वरूप है। एकमात्र ईश्वर-कृपा से ही आत्मा ईश्वरीय सच्चिदानन्द सत्ता में विद्यमान होकर उसके अनन्तस्वरूप के आस्वादन को प्राप्त करती है। यही मुक्ति है। सांसारिक किसी भी प्रकार के विषय से सम्बद्ध होकर मुक्ति को प्राप्त करना सम्भव नहीं है क्योंकि वे सब माया से उत्पन्न परिवर्तनशील अचेतन तत्त्व है, अतः वास्तव में निःस्सार है। ईश्वर ही अनन्त चैतन्य स्वरूप है एवं चित्-स्वरूप आत्मा का ईश्वर से मिलन ही मुक्ति है। अन्य सभी अवस्थाएँ मुक्तेतर अवस्था है। इसीलिए श्री उमापति शिवाचार्य उक्त श्लोक के माध्यम से मुक्ति के विभिन्न दृष्टिकोणों की आलोचना करते हुए कहते हैं कि चित् स्वभाव आत्मा का अनन्त चैतन्य में शाश्वत रूप में अवस्थित हो जाना ही मुक्ति है, अन्यान्य सभी दशाएँ मुक्ति से भिन्न एवं निम्न कोटि की दशाएँ है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान ही साधन एवं ज्ञान ही साध्य है। शिव-कृपा ही शिव-शक्ति या शिव-चैतन्य है जो अज्ञानता रूपी मलावरण से मुक्त करती हुई आत्मा को अनन्त ज्ञान स्वरूप ईश्वर चैतन्य में अवस्थित कर देती है अतः शिव-कृपा ही शिव-स्वरूप को प्रदान करने में समर्थ है, यही मुक्ति है।

पद नं. ५१—सत्य परक अध्याय

भावानुवाद

पूर्व में बताया गया अंश सामान्य है क्योंकि ईश्वर आत्मा के साथ पाशों को सम्बन्धित करता है। अब सत्य के स्वरूप का विवेचन किया जायेगा। अभी सत्य स्थिति का वर्णन किया जायेगा। जैसा कि भस्म अग्नि को आच्छादित करती है एवं कालिमा ताम्र को आवृत्त करती है उसी प्रकार आत्मा आणव मल के द्वारा आच्छादित रहती है।

आत्म तत्त्व जिसे पशु कहा जाता है, अनादि काल से पाशों से आबद्ध है। आत्मा की यह स्थिति उसकी मौलिक स्थिति नहीं है। अर्थात् स्वरूपत: आत्मा कदापि पाशबद्ध अज्ञान तत्त्व नहीं है। यदि ऐसा होता तो उसके लिए उस स्थिति से मोक्ष प्राप्त करने की कोई सम्भावना ही नहीं होती। आत्मा की पाशबद्ध स्थिति के कारण ही उसे पशु कहा जाता है। इस स्थिति से मुक्त करने के लिए ही ईश्वर माया एवं कर्म के उपयोग से आत्मा को सृष्टि प्रक्रिया में निहित कर देता है। जैसा कि पहले बताया गया है आणवमल से आच्छादित होने के कारण ज्ञान-स्वरूप आत्मा के ऊपर अज्ञानता का आवरण पड़ जाता है जिससे वह सत्य ज्ञान को प्राप्त करने में असमर्थ हो जाती है। अज्ञानता के आवरण को दूर करने के लिए सांसारिक विषयों के अनुभव आवश्यक हैं क्योंकि विभिन्न अनुभवों के माध्यम से ही मल परिपक्वता होती है। सृष्टि प्रक्रिया में जन्म, मृत्यु के चक्र में आत्मा सकल-स्थिति में रहती है जिसमें आणव, माया एवं कर्म ये तीनों पाश विद्यमान रहते हैं। सकल अवस्था में जागतिक अनुभवों से आत्मा क्रमश: तत्त्व ज्ञान को प्राप्त करती है। माया से उत्पन्न सांसारिक सभी विषय परिवर्तनशील तथा भंगुर हैं, इस बोध को प्राप्त करते हुए आत्मा इन नाशवान विषयों से विरक्त होती हुई नित्यता तथा शाश्वत आनन्द का अन्वेषण करती है। इस अन्वेषण के संदर्भ में ही वह सच्चिदानन्द ईश्वर तत्त्व की ओर उन्मुख होती है। आत्मा में यह परिवर्तन ईश्वर द्वारा संचालित प्रक्रिया से ही होता है। यह ईश्वर की ही कृपा है कि वह आत्मा को आणव मल से मुक्त कराने के लिए माया एवं कर्म को प्रदान करता है। आत्मा का अनादि काल से आणवाधृत होना शैव-सिद्धान्त के अनुसार सामान्य सिद्धान्त है। श्री उमापति शिवाचार्या ने इस सामान्य सिद्धान्त का विशद विवेचना उक्त ग्रन्थ के प्रथमार्ध्य में की है। आत्मा की बद्धावस्था एवं सृष्टि की विभिन्न प्रक्रिया के माध्यम से उसकी सकलावस्था का जो वर्णन किया गया है उसे उमापति सामान्य स्थिति कहते हैं। अब आत्मा की इस बद्धावस्था से क्रमश: मुक्त होने की प्रक्रिया का वर्णन किया जायेगा। जैसे अग्नि भस्म द्वारा आच्छादित होने पर यद्यपि बाह्य रूप से प्रकाशित नहीं होती परन्तु उसका सम्पूर्ण नाश भी नहीं होता है। उपयुक्त प्रक्रिया से भस्म को हटा देने के बाद वह पुन: अपने मूल स्वरूप में प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार से आत्मा स्वरूपत: चैतन्य सत्ता है। आणवमल से आच्छादित होने के कारण उसकी ज्ञान स्वरूपता अग्नि के भस्माच्छिदित होने की तरह आवरित रहती है, परन्तु कदापि नष्ट नहीं होती क्योंकि आत्मा का स्वरूप होने के कारण उसकी ज्ञान-प्रकाशता नष्ट नहीं हो सकती। इस दृष्टान्त के द्वारा उमापति आणवाधृत स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे ताम्रपत्र के ऊपर कालिमा पड़ने से उसकी ताम्रता नष्ट हो जाती है एवं उसका स्वरूप अस्पष्ट हो जाता है उसी प्रकार आणवाधृत आत्मा का चैतन्य स्वरूप आच्छादित होकर अस्पष्ट तो हो ही जाता है एवं आत्मा अचेतन जड़वत् प्रतीत होती है, परन्तु इससे उसका स्व स्वरूप नष्ट नहीं होता।

उपयुक्त प्रक्रिया से अज्ञानता का आवरण यदि दूर किया जा सके तो पुनः ज्ञान स्वरूपता उद्भावित हो जाती है। उक्त ग्रन्थ के शेषार्द्ध में श्री उमापति इस आध्यात्मिक प्रक्रिया का विशद विवेचन प्रस्तुत करने जा रहे हैं, जिसे उन्होंने इस ग्रन्थ का 'वास्तविक सत्य' (उणमै) अंश बताया है।

पद नं. ५२–आत्म अभिलक्षण

भावानुवाद

शुभ एवं अशुभ कर्मों के अनुसार शरीर प्राप्त होता है वह इन्द्रिय एवं अंत:करण के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करता है एवं फलादि तत्त्व शुद्धावस्था इत्यादि का उपभोग करता है परन्तु वह अज्ञ रहता है। वह ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता उसमें जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय एवं तुरीयातीत सभी अवस्थाओं को आणव मल आच्छादित कर देता है। वह मूलाधार में विद्यमान रहता है। यह सत्य है एवं यही आत्मा की स्थिति है ऐसा कहा गया है।

सामान्य रूप से अन्यान्य भारतीय दर्शन की तरह शैव-सिद्धान्त में भी कर्मवाद का सिद्धान्त वैसा ही माना जाता है। ईश्वर परम न्याय परायण है। वही कर्मफल का प्रदानकर्ता भी है इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मानुसार अच्छा या बुरा फल प्राप्त होता है अच्छे कर्मों का अच्छा परिणाम एवं बुरे कर्मों का बुरा परिणाम अवश्यम्भावी रूप से प्राप्त होता है, जीवन की प्रत्येक स्थिति एवं उपलब्धि सभी विषय मनुष्य के अपने कर्मों के ही परिणाम हैं। शरीर, इन्द्रिय एवं विश्व के सभी भोग्य पदार्थ तथा परिस्थितियाँ मनुष्यों को अपने ही कर्मानुसार प्राप्त होती है, जो ईश्वर प्रदत्त है। ये कर्मजनित विषयों का उपभोग मनुष्य को विभिन्न प्रकार के अनुभवों को प्रदान करता है। शरीर एवं इन्द्रियाँ माया जनित हैं, जो सांसारिक अनुभवों को प्राप्त करने का साधनमात्र है। इन साधनों से मनुष्य विभिन्न अनुभवों को प्राप्त करता हुआ अध्यात्मिक प्रगति की ओर अग्रसर होता है, क्योंकि ये सभी तत्त्व चित् शक्ति (तिरोधान शक्ति) के द्वारा संचालित होने के कारण आत्मा के लिए सदैव ही उपकारी होते हैं। केवल स्थूल देह एवं इन्द्रियाँ ही नहीं, सूक्ष्म देह अर्थात् शुद्धाशुद्ध माया से उत्पन्न देह तदनन्तर शुद्ध माया से प्राप्त शुद्ध देह सभी अनुभवों के विभिन्न स्तरों के माध्यम अर्थात् शास्त्र है। जिस तत्त्व का जो स्वरूप है उस तत्त्व से उसी के अनुकूल अनुभव उत्पन्न होते हैं, जैसे–स्थूल शरीर से स्थूल अनुभव, सूक्ष्म तत्त्व से सूक्ष्म अनुभव एवं शुद्ध तत्त्व से शुद्ध अनुभव प्राप्त होते हैं, कर्मानुसार उपयुक्त स्थिति को प्राप्त करने के उपरान्त तदनुकूल विभिन्न अनुभवों को प्राप्त करते हैं। इन अनुभवों के माध्यम से एवं चित्-शक्ति की प्रेरणा से आत्मा क्रमशः सम्यक् ज्ञान की ओर प्रेरित होती है। यह सम्यक्

ज्ञान ही आत्मा को निःस्सार परिवर्तनशील संसार से विमुख करता हुआ ईश्वराभिमुख कर देता है। आत्मा की यह ऊर्ध गति ईश्वर की कृपा से होती है, इसके लिए और कोई उपाय नहीं है। अनादि काल से आणवमल के प्रभाव से आत्मा की ज्ञान सत्ता आच्छादित रहने के कारण सत्य ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो पाती। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, तुरीयातीत सभी अवस्थाओं में आणवमल के प्रभाव से आत्मा का स्वरूप-ज्ञान आच्छादित रहता है। एकमात्र ईश्वर की कृपा से ही यह आच्छादन दूर हो सकता है। कर्म, मायादि तत्त्व चित्-शक्ति द्वारा संचालित होते हैं, इसलिए ईश्वर-शक्ति सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया में सर्व व्यापक अन्तर्भूत सत्ता है, जो तिरोधान के रूप में आत्मा की स्वरूप-शक्ति को जाग्रत करती है। आणवाधृत आत्मा अज्ञानता से आवृत्त होकर मूलाधार चक्र में सुप्त स्थिति में रहती है। चित्-शक्ति की प्रेरणा से विभिन्न अनुभवों के माध्यम से वह क्रमशः ईश्वराभिमुख होती हुई उच्चतर स्थिति को प्राप्त करती है एवं मूलाधार चक्र से उसकी यात्रा अन्य अर्ध चक्र की ओर होती रहती है।

पद नं. ५३

भावानुवाद

जब शरीर मृत हो जाता है तव उसे हम अचेतन कहते हैं श्रोत्रादि पंच ज्ञानेन्द्रियाँ इस भूत तत्त्व इत्यादि के माध्यम से हम विषयों के ज्ञान को प्राप्त करते हैं तथा अन्तःकरण के साथ युक्त होकर इन्द्रियों के द्वारा विषयों को प्राप्त करते हैं परन्तु आत्मा केवल ईश्वर की सहायता से ही इन विषयों के ज्ञान को प्राप्त करती है।

विगत कर्म के अनुसार आत्मा को तनु, करण, भुवन एवं भोग इत्यादि उपभोग के साधन एवं उपकरण प्राप्त होते हैं। जिनके उपयोग से आत्मा अनुभवों को प्राप्त करती है। शरीर एवं करण वह साधन है जिसके उपयोग से आत्मा विभिन्न कर्मों को सम्पादित करती है। कर्म से कर्मफल एवं उस कर्मफल को प्राप्त करने के सन्दर्भ में पुनः कर्म, यह चक्र निरन्तर बीज एवं पेड़ की तरह चलता रहता है। जीवित शरीर आत्मा द्वारा नियन्त्रित होने के कारण क्रियाशील रहता है तथा आत्मा की प्रत्येक इच्छा को सम्पादित करने के लिए उद्यत एवं तैयार रहता है। शरीर प्रकृति माया से उत्पन्न स्वभावतः अचेतन, परिवर्तनशील एवं नाशवान है। काल धर्म के अनुसार उत्पन्न होने के वाद ही क्रमशः परिवर्तनशीलता के आवर्तन में क्रमशः शरीर का विनाश होता रहता है। अन्ततः जव ऐसी स्थिति आती है कि वह आत्मा द्वारा करने वाले कार्यों के लिए उपयुक्त नहीं रह जाता तव आत्मा उसका त्याग कर देती है। आत्मा द्वारा शरीर का त्याग अर्थात् आत्मा का शरीर से निर्गत हो जाना ही मृत्यु कहलाती है। यह आत्मा की अध्यात्मिक यात्रा में एक अवस्थान्तर मात्र है। इस

अवस्थान्तर के विना आत्मा विभिन्न कर्मों को सम्पादित नहीं कर सकती तथा तदनुरूप इस जगत संसार के नानात्व का अनुभव भी प्राप्त नहीं कर सकती। सांसारिक सुखदु:खात्मक अनुभवों के माध्यम से मल परिपाक होता रहता है। यह जगत संसार ईश्वर द्वारा प्रदत्त सोद्देश्य देन है जिससे आत्मा में निहित मूल-मल का परिपाक होता है एवं अन्तत: संसार की नि:स्सारता का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करते हुए आत्मा ईश्वराभिमुख होती है। देहस्थ आत्मा देह एवं इन्द्रियों का उपयोग आवश्यकता के अनुसार करती है। देह उपभोग का साधन है। आत्मा द्वारा संचालित होने के कारण यह जीवित अथवा साधारण अर्थ में चेतन कहलाता है। जब आत्मा देह से निर्गत हो जाती है तब यह मृत एवं अचेतन हो जाता है। नाशवान होने के कारण मृत देह पंचतत्त्व में विलीन हो जाती है परन्तु आत्मा चेतन अपरिवर्तनीय शाश्वत पुरातन तत्त्व है[१]। वही ज्ञाता तथा भोक्ता भी है। अचेतन होने के कारण देह ज्ञाता तथा भोक्ता नहीं हो सकती। वह उपभोग का साधन एवं भोग्य पदार्थ के रूप में रहती है। भारतीय दर्शन का यह सामान्य दृष्टिकोण है कि स्वभावत: आत्मा एवं देह भिन्न हैं, परन्तु अज्ञानता के कारण ये अभिन्न प्रतीत होते हैं जिसे "देहात्म बोध" कहा जाता है। अज्ञानता के कारण अचेतन देह को चेतनज्ञातारूप आत्मा के रूप में सोचना ही अज्ञानता जनित भ्रम है। सम्यक ज्ञान उत्पन्न होने से देह एवं आत्मा की भिन्नता सूचित होती है एवं आत्मा माया तत्त्व से उत्पन्न विषयों की अचेतनता का ज्ञान प्राप्त करते हुए आत्म स्वरूप का अनुसन्धान करती है। आत्मा के इस कार्य में चित्-शक्ति की भूमिका गुप्त रूप में परन्तु सर्वव्यापक सत्ता के रूप में रहती है अर्थात् चित्-शक्ति ही वह सर्वव्यापक अनुस्यूत सत्ता है जिसकी अन्त:प्रेरणा से सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया का विकास एवं संचालन होता है। आणवाधृत आत्मा भी चित्-शक्ति से प्रेरित होकर अज्ञानता की अचेतनावस्था से उत्थित होकर माया-कर्म रूपी साधनों के उपयोग से अनुभवों को प्राप्त करती है। आत्मा, जो कि शुद्ध चित्-सत्ता है, सूक्ष्म एवं स्थूल माया तत्त्व से उत्पन्न कलादि तत्त्व एवं अन्त:करण-वाह्यकरण से सम्बद्ध होकर भुवन-भोग का उपयोग करती है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार पति, पशु एवं पाश इन तीन तत्त्वों की मान्यता रहने पर भी चित्-शक्ति (ईश्वर शक्ति) ही वह सर्व व्यापक, सर्वशक्तिमान, आधारभूत, अन्तर्लीन तत्त्व मानी गयी है, जिसकी प्रेरणा से ही सम्पूर्ण सृष्टि संचालित होती है। आत्मा को अज्ञानता के अन्धकार से मुक्त करते हुए उसे उसकी मूल स्थिति अर्थात् ईश्वर से एकत्व, अनन्यत्व को प्रदान करने के लिए ही चित्-शक्ति इस व्यापक सृष्टि की रचना करती है। चित्-शक्ति ही एकमात्र उपाय है जिससे आत्मा ईश्वर को प्राप्त कर सकती है। ईश्वर शक्ति ही ईश्वरानुभव का एकमात्र साधन है। यही ईश्वर कृपा है। चित्-शक्ति, शिव-शक्ति एवं कृपा शक्ति पर्यायवाची हैं। आत्मा के लिए वही साधन एवं साध्य दोनों है।

१. भगवद्गीता

पद नं. ५४

भावानुवाद

(यदि यह बताया जाय कि-) इन्द्रियाँ आत्मा को ज्ञान प्रदान करती हैं परन्तु (तब प्रश्न यह आता है कि-) अचेतन कैसे चेतना को ज्ञान प्रदान कर सकता है। जो सब विषयों के ज्ञाता है (अर्थात् सर्वज्ञ है) वही आत्मा को ज्ञान प्रदान कर सकता है। वह अचेतन को कोई ज्ञान प्रदान नहीं करता।

उक्त पद में श्री उमापति शिवाचार्या चैतन्य स्वरूप आत्मा एवं अचेतन इन्द्रियों के स्वरूप का तुलनामूलक विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं। करण अर्थात् इन्द्रियाँ पंच भौतिक देह का ही अंश हैं। बाह्य इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ) तथा अन्तरिन्द्रियाँ (अन्त:करण– मन, बुद्धि, अहंकार, चित्) के माध्यम से आत्मा भुवन तथा भोग को ग्रहण करती है। बाह्य इन्द्रियाँ बाह्य विषयों को ग्रहण करके अन्त:करण को प्रदान करती हैं। अन्त:करण के माध्यम से आत्मा उन विषयों के उपभोग को प्राप्त करती है अर्थात् आत्मा ही भोक्ता है, क्योंकि वह चेतन सत्ता है। इन्द्रियाँ एवं बाह्य विषय भोग्य हैं। वे भोक्ता नहीं बन सकते क्योंकि वे सभी अचेतन हैं। अन्त:करण सूक्ष्म तत्त्व से निर्मित होने के कारण सूक्ष्म विषयों को ग्रहण करता है। बाह्य इन्द्रियाँ स्थूल एवं पंच भौतिक हैं। इसीलिए बाह्य स्थूल विषयों को ग्रहण करने का माध्यम बनती है। ये सभी करण आत्मा के साधन हैं। स्वरूपत: माया जनित होने के कारण ये अचेतन हैं। आत्मा, जो कि चैतन्य अर्थात् ज्ञान स्वरूप है, सृष्टि प्रक्रिया में चित्-शक्ति की प्रेरणा से माया कर्म से सम्बद्ध होकर परिवर्तनशील सृष्टि में विभिन्न अनुभवों को प्राप्त करती है। उक्त प्रक्रिया में माया से उत्पन्न सभी तत्त्व आत्मा के लिए साधन रूप में क्रियाशील होते हैं एवं आत्मा प्रयोजनानुसार उपयुक्त समय पर विभिन्न तत्त्वों के उपयोग से सांसारिक सभी विषयों के अनुभव को प्राप्त करती रहती है। आत्मा ही ज्ञाता एवं भोक्ता हो सकती है। क्योंकि वही चिद्रूप है। माया से उत्पन्न समस्त सूक्ष्म एवं स्थूल विषय मूलत: अचेतन हैं। चित्-शक्ति की प्रेरणा से क्रियाशील होने के कारण एवं चैतन्य स्वरूप आत्मा से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध होने के कारण माया से उत्पन्न सूक्ष्म तत्त्व चेतन प्रतिभात होते हैं, एवं भ्रमवशात् कभी-कभी ज्ञाता समझे जाते हैं परन्तु ये तत्त्व ज्ञाता नहीं हो सकते क्योंकि एकमात्र चित् तत्त्व ही ज्ञाता बन सकता है, जो कि आत्मा है। आत्मा से प्रकृति जात सूक्ष्म एवं स्थूल करणों की घनिष्ट, अन्तरंग सम्बद्धता के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि ये करण ही ज्ञान प्राप्त करते हैं एवं वही ज्ञान आत्मा को प्रदान करते हैं। यह सर्वथा असम्भव एवं भ्रमात्मक है। अचेतन तत्त्व न तो स्वयं ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न ही वह ज्ञान को दूसरों में संचालित कर सकता है। ज्ञान प्राप्त करना केवल ज्ञान-सत्ता (आत्मा) के लिए ही सम्भव है चैतन्य स्वरूप आत्मा स्थूल अथवा सूक्ष्म किसी भी दृष्टिकोण से प्रत्यक्षीभूत नहीं हो सकती। वह तो सर्वव्यापक ज्ञान स्वरूप चैतन्य

सत्ता है। इसीलिए अनुभव की प्रक्रिया में आधारभूत अनुभविता के रूप में उसकी विद्यमानता इन्द्रियगोचर न होने पर भी अविवादित है। वह स्वयं ही ज्ञान स्वरूप है इसलिए अन्य किसी से ज्ञान प्राप्त करने का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। अत: माया प्रसूत विभिन्न साधन एवं उपकरणों के माध्यम से यह ज्ञाता के रूप में अनुभवों को प्राप्त करती है। ईश्वर चित्-शक्ति के रूप में सर्वव्यापी है वही एकमात्र ज्ञान का प्रेरक कारण है। आत्मा में ज्ञान उत्पन्न करने का सर्वव्यापक मूल कारण है। उसी की अन्त: प्रेरणा से आत्मा ज्ञान प्राप्त करती है। माया प्रसूत सभी विषय अचेतन होने के कारण ज्ञान उत्पन्न करने में सर्वथा अयोग्य हैं। चित्-शक्ति ही सर्वव्यापी ज्ञान सत्ता के रूप में, आत्मा में, ज्ञान-प्रकाश प्रज्वलित करती है।

पद नं. ५५

भावानुवाद

आत्मा अनेक विषयों को जानती है परन्तु वे सभी असत्य एवं नाशवान् हैं, ऐसा जान लेना आवश्यक है। इस मानवीय ज्ञान से ईश्वर का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। सनातन आत्मा इन्द्रियों से युक्त होकर विषयों का उपभोग करती है, जो असत्य एवं नाशवान् हैं। इन्द्रियों से संबंधित होकर उस सत्य ज्ञान को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

इस पद में श्री उमापति असत्य से सत्य ज्ञान की भिन्नता का विवेचन कर रहे हैं। नि:सन्देह रूप से सत् तत्त्व का ज्ञान ही सत्य ज्ञान है, एवं परिवर्तनशील, नाशवान, विषयों का ज्ञान असत् है। इस सन्दर्भ में श्री उमापति कहते हैं कि माया से उत्पन्न सृष्टि के समस्त विषय अचेतन तथा विनाशशील हैं, क्योंकि माया अचेतन एवं पाश रूप है, अत: माया-जनित विषयों का ज्ञान सत्य ज्ञान नहीं हो सकता। माया सृष्टि की उपादान कारण है। सृष्टि के सभी तत्त्व माया से उत्पन्न होते हैं, अत: ये सब सांसारिक, अचेतन तथा उत्पत्तिजन्य विनाशशील हैं। शैव-सिद्धान्त के अनुसार माया तीन पाशों में एक पाश है, वह स्वरूपत: वन्धन रूप है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के तत्त्व से आत्मा को कदापि सत्य-ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। सांसारिक विषयों का ज्ञान सापेक्ष, क्षणिक तथा सीमित है। इसलिए इससे सत्य-का ज्ञान नहीं हो सकता परन्तु शैव सिद्धान्त के अनुसार इस सांसारिक जगत-प्रपंच का ज्ञान भी तात्पर्य पूर्ण एवं उपयोगी है। माया अचेतन तत्त्व है इसलिए वह स्वयं सृष्टि को उत्पन्न नहीं कर सकती, चित्-शक्ति ही वह आधारभूत सर्वव्यापक संचालक-शक्ति है जिसकी अन्त: प्रेरणा से सृष्टि विकसित होती है। अचेतन माया सृष्टि का मात्र उपादान कारण है एवं चित्-शक्ति निमित्त कारण, जो सृष्टि में अन्तर्लीन भी है। यही कारण है कि विश्व प्रपंच एक ओर तो आत्मा के लिए पाश-रूप है, दूसरी ओर चित्-शक्ति के

द्वारा संचालित होने के कारण उपयोगी एवं प्रकाशक भी है। यद्यपि सांसारिक ज्ञान सापेक्ष, सीमित एवं नाशवान है पर सर्वव्यापी चित्-शक्ति के कारण इस पाश ज्ञान से भी आत्मा क्रमश: सत्य ज्ञान की ओर उन्मुख होती रहती है। चूँकि चित्-शक्ति ही संचालिका एवं सर्वव्यापी शक्ति है, (जो आत्मा को शाश्वत सत्य-ज्ञान की ओर प्रेरित करती है), इसीलिए आत्मा क्रमश: सांसारिक विषयों की भंगुरता को उपलब्ध करती है। अत: यह स्पष्ट है कि माया जनित् सांसारिक विषय अचेतन एवं पाश रूप होने के कारण नित्य शाश्वत् सत्य ज्ञान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकते। चित्-शक्ति की क्रियाशीलता एवं अन्त:प्रेरणा के कारण ही आत्मा क्रमश: शाश्वत ज्ञान की ओर अग्रसर होती है एवं यह भी सत्य है कि चित्-शक्ति की सर्वव्यापकता एवं संचालन क्षमता के कारण ही माया-जनित सृष्टि आत्मा के लिए उपयोगी सिद्ध होती है। स्वरूपत: पाश होने के कारण यह आत्मा के लिए बन्धन भी है, परन्तु चैतन्य-स्वरूपा चित्-शक्ति आत्मा को आन्तरिक रूप से क्रमश: परम-ज्ञान की ओर उन्मुख करती है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार चित्-शक्ति ही एकमात्र सर्वशक्तिमान तत्त्व है, जिसका सृष्टि प्रक्रिया में पूर्ण कर्तृत्व है। चित्-शक्ति ही सत्य ज्ञान दायिनी है। सांसारिक विषयों की नि:स्सारता का ज्ञान भी चित्-शक्ति की प्रेरणा से ही होता है एवं नित्य, शाश्वत सच्चिदानन्द तत्त्व के आनन्दानुभव की उपलब्धि करवाने वाली साधन शक्ति भी चित्-शक्ति ही है। अत: यह स्पष्ट है कि ज्ञान तत्त्वत: आत्म का स्वरूप है, जो आणवाधृत होने के कारण आच्छादित रहता है। सच्चिदानन्द की स्वरूप शक्ति चित्-शक्ति के सहयोग से ही आत्मा अज्ञानता के आवरण का भेदन करती हुई तत्त्वज्ञानी हो सकती है। चित्-शक्ति ही आत्म-ज्ञान, ईश्वर ज्ञान तथा समस्त विषयों के ज्ञान को प्रदान करती है। यह ज्ञान रूप की अखण्ड चैतन्य सत्ता है। इसलिए सत्य ज्ञान में ही तत्त्व का स्वरूप उद्भासित होता है। ज्ञान ही ज्ञान को प्रज्वलित कर सकता है। चित्-शक्ति एवं आत्म-तत्त्व दोनों ही ज्ञान सत्ता है। इसीलिए चित्-शक्ति ही ज्ञान दायिनी हो सकती है। अचेतन माया इसके लिए असमर्थ है। माया कर्म भ्रमात्मक इन्द्रिय ज्ञान को उत्पन्न करते हैं क्योंकि वे स्वत: पाशरूप हैं। सत्य स्वरूपा चित्-शक्ति ही सत्य ज्ञान को प्रदान कर सकती है। इस पद में श्री उमापति असत्य एवं सत्य ज्ञान के स्वरूप तथा तत्त्व ज्ञान के वास्तविक साधन का विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

पद नं. ५६

भावानुवाद

सर्वप्रथम प्रश्न यह उपस्थित होता है कि–प्रपंच का ज्ञान कौन प्राप्त करता है? आत्मा इस ज्ञान को प्राप्त नहीं करती। ईश्वर को अचेतन का कोई ज्ञान नहीं (क्योंकि वह

पूर्ण है) आत्मा स्वयं कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती, इन्द्रियों से युक्त होकर भी नहीं। आत्मा कृपाशक्ति से प्रपंच को प्राप्त नहीं करती। कृपा से युक्त होकर इन्द्रियों के माध्यम से वह इस विश्व प्रपंच के ज्ञान को प्राप्त करती है। प्रकाश एवं अन्धकार एक साथ नहीं रहते हैं।

इस पद में श्री उमापति ज्ञान की प्रक्रिया, ज्ञान के विषय एवं ज्ञाता के स्वरूप के वारे में विवेचन कर रहे हैं। सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया जा रहा है कि इस विश्व प्रपंच का ज्ञान कौन प्राप्त करता है? पूर्वपद में बताया गया है कि आत्मा ही ज्ञाता है क्योंकि माया से उत्पन्न विश्व के अन्य सभी तत्त्व अचेतन हैं। अत: वे ज्ञाता नहीं हो सकते। तब चेतन तत्त्व आत्मा के ज्ञातृत्व के विषय में प्रश्न क्यों उठ रहा है? पूर्व पद में यह भी बताया गया है कि आत्मा चित्-शक्ति की प्रेरणा से ज्ञान प्राप्त करती है। सृष्टि प्रपंच में विद्यमान होकर अनुभवों को प्राप्त करने की अन्त:प्रेरणा आत्मा की चित्-शक्ति से ही प्राप्त होती है। चित्-शक्ति के स्वत: प्रवृत्त होकर क्रियाशील हुए बिना आत्मा अथवा माया तत्त्व अपने से न तो सृष्टि करने में समर्थ होती है और न ही अनुभव प्राप्त करने में। चित् तत्त्व होने पर भी आणवमल जनित अज्ञानता से आत्मा का ज्ञान सम्पूर्ण आच्छादित रहता है इसीलिए आत्मा ज्ञाता रूप में भी विषयों को जान नहीं सकती। जब तक चित्-शक्ति प्रपंच की सृष्टि नहीं करती एवं आत्मा को माया-कर्म से सम्बद्ध नहीं कर देती, तब तक आत्मा विषयों के ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकती। शैव-सिद्धान्त के अनुसार सर्वशक्तिमान परम तत्त्व ईश्वर ही मात्र पंचकृत्य के अधिकारी है। सृष्टि, स्थिति, प्रलय, निग्रह एवं अनुग्रह ये पंचकृत्य ईश्वर द्वारा ही सम्पादित होते हैं। अत: शिव-शक्ति के द्वारा सृष्टि होने के उपरान्त ही आत्मा विषयों का अनुभव कर सकती है। अत: यह स्पष्ट है कि प्राक्-सृष्टि की स्थिति में आत्मा विषयों का अनुभव प्राप्त नहीं कर सकती, और न ही सत्य ज्ञान (शिव-ज्ञान) को प्राप्त कर सकती है। आणवाधृत आत्मा का ज्ञान मलावरण से सम्पूर्ण रूप से आच्छादित रहता है। अत: सृष्टि के बाद चित्शक्ति द्वारा माया कर्म से सम्बद्ध होने के उपरान्त ही आत्मा विषयों के ज्ञान को प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त करती है, जो चित्-शक्ति की देन है। केवल इतना ही नहीं, ज्ञान प्राप्त करने की अन्य विशेष स्थिति अथवा सहकारी कारण भी चित्-शक्ति द्वारा प्रदत्त होते हैं। चित्-शक्ति स्वयं ज्ञान रूपिणी है। जैसे-सूर्य के प्रकाश की सामान्य पृष्ठभूमि में विद्यमान विषयों का ही ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। सूर्य के प्रकाश के विना चक्षु, इन्द्रिय, न तो स्वयं विषयों को जान सकती है न ही अचेतन विषय अपने को स्वत: प्रकाशित कर सकते हैं। अत: यह स्पष्ट है कि स्वयं चित् सत्ता होने के उपरान्त भी आत्मा स्वत: विषयों के ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकती। आणवाधृत आत्मा अपने प्रयास से भी मलावृत होने के कारण ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकती, क्योंकि प्रयास करने की अन्त:प्रेरणा एवं शक्ति भी तो आत्मा को चित् शक्ति से ही प्राप्त होती

है। जैसे–ज्वलन्त अग्नि ही बारूदरूपी आच्छादित अग्नि को प्रज्वलित कर सकती है। उसी प्रकार से चित्-शक्ति ही ज्ञान-स्वरूप आत्मा के आच्छादित ज्ञान को प्रज्वलित करने में समर्थ होती है। केवल इतना ही नहीं चित्-शक्ति की सर्वव्यापकता से ही आत्मा को ज्ञान की वह पृष्ठ-भूमि प्राप्त होती है जिसमें आत्मा का ज्ञान प्रकाशित हो सकता है। चित्-शक्ति का अस्तित्व ही प्रकाश-रूपी आधार है, जिसमें अज्ञानता का अन्धकार दूरीभूत हो सकता है, अतः यह स्पष्ट है कि विषयों का सान्निध्य एवं इन्द्रिय की सक्रियता रहने पर भी जैसे सूर्य के प्रकाश के बिना "देखने की क्रिया" सम्पन्न नहीं हो सकती है, उसी प्रकार चित्-शक्ति ज्ञानरूपी सर्वव्यापक आधार के बिना आत्मा भी विषयों के ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकती। ज्ञान की प्रक्रिया में चित्-शक्ति की यह अहम् भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। चित्-शक्ति केवल ज्ञान-प्रकाश रूपी सामान्य पृष्ठभूमि ही प्रदान नहीं करती वरन आत्मा में अन्तर्भूत होकर आत्म-शक्ति को भी जागृत करती है। अतः चित्-शक्ति द्वारा प्रदत्त अन्तःप्रेरणा के बिना मलावृत आत्मा यह ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं होती है। अतः चित्-शक्ति ही इस द्वैत भूमिका के फलस्वरूप ही आत्मा को ज्ञान प्राप्त करा सकती हैं। इसीलिए सन्त उमापति यह प्रश्न उठा रहे हैं कि वास्तव में देखने की क्रिया किसके कारण सम्पन्न होती है? वह कौन सा तत्त्व है? स्पष्ट है कि उक्त प्रश्न के उत्तर के रूप में यही कहा जायेगा कि चित्-शक्ति ही वह सहकारी अंतर्भूत अनिवार्य तत्त्व है जिसके सार्वभौम अस्तित्त्व के कारण ही अनुभव उत्पन्न हो सकता हैं। चित्-शक्ति ही वह अंतर्भूत प्रेरक तत्त्व है जो विषय एवं विषयी के सम्बन्ध को स्थापित करता हुआ विषयी अर्थात् आत्मा को ज्ञान प्राप्त करने में समर्थवान बनाती है। ज्ञाता का ज्ञातृत्व एवं भोग्य विषयों का विषयाधृत होना दोनों ही चित्-शक्ति की ही देन हैं। इसीलिए शैव-सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर कृपा ही जीव के लिए भोग एवं मोक्ष दोनों की एकमात्र एवं अन्तिम साधन है। स्वरूपतः ईश्वर सत् एवं माया जनित सभी विषय असत् अर्थात् परिवर्तनशील नाशवान है। यद्यपि सत्-सर्वव्यापक है परन्तु असत् की भंगुरता से उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। सत् एवं असत् के बीच आत्म तत्त्व हैं, जो असत् एवं पुनः सत् से भी सम्बन्धित होता है। चित्-शक्ति की सहायता से ही आत्मा में इन दोनों से सम्बन्धित होने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। आत्मा के लिए चित्-शक्ति अर्थात् ईश्वर कृपा ही एकमात्र साधन है जिससे सम्पन्न होकर आत्मा क्रमशः असत् तदनन्तर सत् से सम्बन्धित होती है। जैसा कि पूर्व पदों में वर्णन किया गया है। चित्-शक्ति की प्रेरणा से ही विषयानुभव के उपरान्त आत्मा सत् एवं असत् के सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करती हुई ईश्वराभिमुख होती है एवं ईश्वर कृपा से ही वह ईश्वर को भी प्राप्त करती है अतः आत्मा ही वह माध्यम है जो सत् रूपी ईश्वर एवं असत् रूपी अज्ञानता दोनों के बीच विद्यमान रहती है। सच्चिदानन्द तत्त्व अज्ञानता रूपी अन्धकार से कभी सम्बद्ध नहीं होता एवं अज्ञानता रूपी पाश भी कदापि सत् को प्राप्त

नहीं हो सकता। इसीलिए कहा गया है कि प्रकाश एवं अन्धकार की तरह ईश्वर एवं मल संयुक्त नहीं होते, क्योंकि ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। जैसे प्रकाश के आविर्भाव से अन्धकार स्वतः दूर हो जाता है, उसी प्रकार शिव शक्ति के आविर्भाव से अज्ञानता रूपी अन्धकार स्वतः दूर हो जाता है। इसीलिए सन्त उमापति कहते हैं कि प्रकाश एवं अन्धकार एक साथ नहीं रह सकते अर्थात् सत् एवं असत् का कभी संयोग नहीं हो सकता।

पद नं. ५७

भावानुवाद

असत्य (पाशम्) सत्य को जान नहीं सकता। असत्य सत्य से संयुक्त भी नहीं हो सकता। असत्य एवं सत्य में एक सत्य है (पशु)। जब तक चक्षु इन्द्रिय अन्धकार एवं प्रकाश-रूप नहीं हो जाती तब तक उसी प्रकार से ईश्वर की कृपा से वह (आत्मा) सत्य एवं असत्य की भिन्नता को समझ नहीं सकती है। आत्मा सदसत् है।

इस पद में श्री उमापति सत्य एवं असत्य की परिभाषा तथा उनके स्वरूप तथा पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन कर रहे हैं। असत्य अर्थात् अज्ञानता एवं तज्जनित पाश बन्धन स्वरूपतः आवरक, भ्रमात्मक, बन्धन को उत्पन्न करने वाला, सापेक्ष परिवर्तनशील तथा नाशवान विषय हैं। ऐसे विषय से सम्बन्धित होने के फलस्वरूप आत्मा उक्त अवांछित प्रभाव से प्रभावित होकर सीमित, संकीर्ण, बाधित तथा भ्रमात्मक स्थिति में हो जाती है परन्तु सत्य निर्विवाद, अबाधित, अखण्ड, अपरिवर्तनीय, स्वयं प्रकाश ज्ञान सत्ता है। असत्य स्वरूपतः सत्य से विपरीत एवं बाधित होने के कारण कभी सत्य हो नहीं सकता। सत्य एवं असत्य विपरीत स्वभाव है। सत्य प्रकाशमय एवं असत्य अन्धकार स्वरूप है। सत्य चैतन्य स्वरूप असत्य अचेतन है। सत्य सर्वव्यापक असत्य सापेक्ष तथा संकीर्ण है। सत्य अखण्डित चैतन्य सत्ता तथा असत्य सीमित एवं बाधित है। सत्य सर्व शक्तिमान, स्वप्रकाश, नित्य शाश्वत तत्त्व है। असत्य संकीर्ण एवं नाशवान है। जैसे अन्धकार प्रकाश के आविर्भाव से स्वतः तिरोहित हो जाता है, उसी प्रकार सत्य के प्रकाश से असत्य तिरोहित हो जाता है। परम तत्त्व सच्चिदानन्द ही सत्य है। अज्ञानता-रूपी आणवमल अन्धकारमय मूलपाश है जो अनादिकाल से आत्मा को अज्ञानता के आवरण में आधृत करता हुआ उसे अचेतनवत् बना देता है। पाशरूपी असत्य एवं प्रकाश-रूपी शिवतत्त्व का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। पाश सच्चिदानन्द सत्ता को प्रभावित करने में सदैव ही असमर्थ है, क्योंकि सच्चिदानन्द सर्व-शक्तिमान सर्वव्यापक चैतन्य सत्ता है। उसके प्रकाश से पाश-तत्त्व का अज्ञानता रूपी प्रभाव ही नष्ट हो जाता है, एवं पाश में बन्धन उत्पन्न करने की और कोई शक्ति ही नहीं रहती। वह सच्चिदानन्द के चैतन्य से अभिभूत होकर

निष्क्रिय एवं अप्रभावी हो जाता है। वास्तव में पाश तत्त्व (मूल तत्त्व) ईश्वर तत्त्व से संयुक्त ही नहीं हो सकता क्योंकि स्वयं प्रकाश ईश्वर की ज्योति से स्वतन्त्र उसकी कोई स्वतन्त्र प्रभावी-सत्ता नहीं रह जाती। वह सम्पूर्ण रूप से निष्प्रभावी हो जाता है। दो वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित होने के लिए दोनों का स्वतन्त्र, विशिष्ट अस्तित्त्व आवश्यक है जिससे एक दूसरे को प्रभावित कर सके, परन्तु इस स्थिति में ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक चैतन्य सत्ता है। अपनी तादात्म्य शक्ति-चित् शक्ति के माध्यम से वह ज्ञान रूप में अन्तर्यामी रहता है। सृष्टि में अनुस्यूत सर्वशक्तिमान ईश्वर की चैतन्य सत्ता सभी विषयों को अपने में समा लेती है इसलिए पाश तत्त्व की कोई स्वतन्त्र प्रभावशाली सत्ता ही नहीं रहती, जिससे वह ईश्वर को प्रभावित कर सके। वास्तव में अद्वैत दृष्टिकोण सम्पन्न शैव-सिद्धान्त के अनुसार किसी भी विषय का ईश्वर से सम्वन्ध स्थापित नहीं हो सकता। विषयों का ईश्वरीय चैतन्य में समाविष्ट हो जाना ही ईश्वर तत्त्व के आविर्भाव का परिणाम है, अत: यह स्पष्ट है कि ईश्वर से भिन्न स्वतन्त्र-अस्तित्त्वसम्पन्न कोई विषय नहीं है। परन्तु पाश-तत्त्व अज्ञानतामूलक, सापेक्ष, बाधक आवरक तत्त्व है। वह स्वयं प्रकाश, ज्ञान स्वरूप सच्चिदानन्द सत्ता को कैसे प्रभावित कर सकता है? उसके लिए सत्य से सम्बन्धित होना सदैव असम्भव है परन्तु इन दोनों के मध्य आत्म तत्त्व विद्यमान है, जो चैतन्य-स्वभाव होने पर भी पाश से प्रभावित हो जाता है एवं अपने मूल आश्रय-सच्चिदानन्द को भी प्राप्त करता है। आणवाधृत आत्मा अज्ञानता के प्रभाव से सम्पूर्ण आवृत्त-चैतन्य होकर अचेतनवत् रहती है। आत्मा की इस स्थिति में असत् से उसका सम्बन्ध रहता है, इसलिए वह अज्ञानता जनित भ्रम की स्थिति में रहती है। सत्य ज्ञान के अभाव के कारण उसमें अपने स्वरूप के ज्ञान का भी अभाव रहता है। असत् से सम्बन्धित होने के कारण ही आत्मा में सत्य ज्ञान का अभाव रहता है। परम कृपालु ईश्वर आत्मा को सदा के लिए इस स्थिति में नहीं रखते क्योंकि आत्मा तो उसी का स्वरूप है एवं उसमें ही उसका आधार एवं आश्रय है। आत्मा को उसके मूल स्वरूप का ज्ञान एवं उसकी अपनी मौलिक स्थिति को प्रदान करने के लिए ही ईश्वर सृष्टि करता है तदनन्तर पंचकृत्य के द्वारा आत्मा को ही अपने चैतन्य में अवस्थित कर लेता है। ज्ञान प्रकाश से आत्मा असत्य के प्रभाव से मुक्त होकर सत्य-ईश्वर चैतन्य में विद्यमान हो जाती है। जब आणवमल चित्-शक्ति के प्रकाशन से सम्पूर्ण निष्प्रभ होकर निष्क्रिय हो जाता है तब आत्मा शाश्वत् रूप से शिव-चैतन्य में अवस्थित हो जाती है। अत: आत्मा ही वह मध्यवर्ती सत्य है जो असत्य एवं सत्य दोनों से सम्बन्धित होती है। अनादि काल से आणवाधृत होने के कारण असत्य से उसका सम्बन्ध रहता है इसलिए उस स्थिति में असत् एवं शिव-शक्ति की प्रेरणा से जब वह शिव-चैतन्य में अवस्थित हो जाती है, सत् कहा जाता है। वास्तव में इन दोनों तत्त्वों से सम्बन्धित होने की विशेषता के कारण ही आत्मा को 'सदसत' कहा

जाता है। यह कोई तार्किक दृष्टिकोण नहीं है, न तो तर्कशास्त्र का कोई सिद्धान्त ही है। यह तो आत्मा की दो स्थिति के अनुसार एवं बन्धन से मोक्ष को प्राप्त करने की सम्भावना के आधार पर ही आत्मा 'सदसत्' के रूप में अभिहित की जाती है। बन्धन की स्थिति में असत् से संयुक्त एवं मोक्ष की स्थिति में सत् से संयोग सूचित होता है अत: उक्त पद में श्री उमापति सत्य एवं असत्य की विपरीत धर्मिता का विवेचन करते हुए आत्मा की दो स्थितियों में इन दोनों के अन्तरंगतापूर्ण सम्बन्ध का वर्णन करते हैं। अर्थात् आत्म तत्त्व में ही इन दो विपरीत धर्मी विषयों से सम्बन्धित होने की विशेषता पायी जाती है। उक्त दोनों तत्त्वों से क्रमशः सम्बन्धित होने पर भी आत्मा की अपनी विशिष्टिता रहती है। अर्थात् आणवाधृत स्थिति में अज्ञानता प्रसूत विभिन्न प्रकार के अनुभव उत्पन्न होने पर भी उसकी ज्ञान-स्वरूपता नष्ट नहीं होती जैसे–चक्षु इन्द्रिय अन्धकार के कारण देख न पाने पर भी उसमें दृष्टि संवेदन का सामर्थ्य अवश्य ही विद्यमान रहती है उसी प्रकार आणवाधृत आत्मा अज्ञानान्धकार से आवृत्त होने पर भी अन्त:स्थ स्थिति में ज्ञान प्रकाश-स्वरूप रहती है और यही कारण है कि शिव-शक्ति की प्रेरणा से अज्ञानता रूपी आवरण दूर होने पर स्वरूप ज्ञान स्वत: प्रकाशित हो जाता है, क्योंकि वह नित्य अनश्वर है एवं आत्मा अखण्ड चैतन्य सत्ता के साथ 'अनन्य' स्थिति में विद्यमान होकर आनन्दानुभव में निमग्न हो जाती है अत: यह स्पष्ट है कि आत्मा की उक्त दोनों स्थितियों को सूचित करने के लिए ही उसे 'सदसत्' कहा गया है। स्वरूपत: वह चैतन्य सत्ता है। इसलिए असत् से सम्बन्धित होने पर भी उसकी ज्ञानरूपता नष्ट नहीं होती, मात्र आच्छादित होती है, जो ईश्वर कृपा से पुन: प्रकाशित हो जाती है।

पद नं. ५८

भावानुवाद

यदि यह कहा जाए कि दीपक ही चक्षु इन्द्रिय को प्रकाश प्रदान करता है तब यह सूचित होता है कि चक्षु इन्द्रिय का अपना कोई प्रकाश ही नहीं है। चक्षु इन्द्रिय अन्धकार में भी अपने प्रकाश से विषयों को दिखाती है अत: चक्षु इन्द्रिय स्वयं ही प्रकाशरूप है। आत्मा प्रकाश में अवस्थित विषयों को देखती है। पशु विशेष विषय को देखती है, दूसरे को नहीं। चक्षु इन्द्रिय का प्रकाश एवं अन्य प्रकाश एक साथ संयुक्त होते हैं, परन्तु उनके स्वरूप में भिन्नता है।

इस पद में श्री उमापति शिवाचार्या पूर्वपद के विस्तार के रूप में आत्मा के ज्ञान प्राप्त करने का विवेचन चक्षु इन्द्रिय के द्वारा बाह्य विषयों को ग्रहण करने की प्रक्रिया के साथ तुलनात्मक रूप में कर रहे हैं। अर्थात् चक्षु इन्द्रिय बाह्य प्रकाश के सहयोग से दृश्य

वस्तुओं को देखती है। देखने की इस प्रक्रिया में कम से कम कई सामान्य स्थितियाँ होनी चाहिये। जैसे–इन्द्रिय की स्वस्थसक्रियता, बाह्य विषयों के प्रत्यक्षीकरण होने के अनुकूल उनकी विद्यमानता तथा उपयुक्त प्रकाश जिससे बाह्य विषय सामान्य तौर पर प्रत्यक्षीभूत हो सकते हैं। इन स्थितियों की समन्वयात्मक अनुकूलता से ही इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। उक्त प्रक्रिया में सभी तत्त्व अपने निजस्वरूप में विद्यमान होते हुए समन्वयात्मक एवं समायोजित रूप में कार्य करते हैं। कोई भी दूसरे की भूमिका का निर्वाह नहीं करता, न तो दूसरे के स्वरूप को ही प्रदान कर सकता है, यह स्पष्ट है कि चक्षु-इन्द्रिय देखने के कार्य में समर्थ है। यदि ऐसा न होता तो बाह्य-विषय अथवा प्रकाश उसे देखने के कार्य के योग्य नहीं बना सकता था। प्रत्येक विषय ही अपने स्वभाव एवं योग्यता के अनुसार निर्धारित कार्य को सम्पन्न करता है। दूसरा विषय उसे उसकी योग्यता को प्रदान नहीं कर सकता। इन्द्रिया अपने-अपने निर्धारित कार्यों को सम्पन्न करने में योग्य है। जैसे चक्षु-इन्द्रिय देखने का कार्य, कर्ण-इन्द्रिय सुनने का कार्य, जिह्वा इन्द्रिय स्वाद ग्रहण करने का कार्य इत्यादि करती हैं। इन्द्रियों में निर्धारित इन कार्यों को करने की योग्यता स्वत: स्वाभाविक रूप से विद्यमान होती है। उसे न वह कहीं बाहर से उधार लेती हैं और न कोई उन्हें विशिष्ट योग्यता से सम्पन्न ही कर सकता है अत: यह स्पष्ट है कि देखने की प्रक्रिया में देखने की शक्ति या योग्यता स्वत: स्वाभाविक रूप से चक्षु इन्द्रिय में ही निहित रहती है। उसी प्रकार से आत्मा ज्ञान-स्वरूप होने के कारण स्वाभाविक रूप से ज्ञाता बन सकती है। यदि आत्मा चित्-सत्ता न होती तो बाह्य प्रक्रिया से उसे कदापि ज्ञाता नहीं बनाया जा सकता था। श्री उमापति कहते हैं कि ऐसा कहना कि बाह्य प्रकाश चक्षु इन्द्रिय को देखने की शक्ति प्रदान करता है, सर्वथा असत्य है, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय अन्धकार में भी देखने का कार्य कर सकती है और वह अपनी प्रक्रिया में क्रियाशील रहती है। बाह्य प्रकाश बाह्य विषयों को प्रकाशित करता हुआ दिखाने की प्रक्रिया में अवश्य ही सहयोग करता है परन्तु वह दृष्टि संवेदन को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि ऐसा होता तो सभी अचेतन पदार्थ एक दूसरे को देख पाते परन्तु केवल आत्मा ही चक्षु इन्द्रिय की सहायता से विषयों को ग्रहण करती है। चक्षु इन्द्रिय में स्वत: स्व विशिष्टता विद्यमान है, जिससे वह देखने का कार्य करती है। देखने की प्रक्रिया में बाह्य प्रकाश सहकारी कारण मात्र है, जिसकी विद्यमानता के कारण देखने की क्रिया सम्पन्न होती है परन्तु इसमें एक विषय का ध्यान रखना आवश्यक है कि दृष्टि संवेदन एवं बाह्य प्रकाश का एक साथ सामन्जस्यपूर्ण समायोजन होना आवश्यक है, अन्यथा देखने की प्रकयिा सम्भव नहीं हो सकती। इसी प्रकार से चित्-शक्ति की सर्वव्यापकता अर्थात् पृष्ठभूमि के रूप में उसकी अवस्थिति आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होने के लिए नितान्त आवश्यक है अन्यथा आत्मा अन्धकार में चक्षु

इन्द्रिय की तरह व्यर्थ ही भटकती रहती। चैतन्य-शक्ति की सर्वव्यापकता के कारण ही चैतन्य रूपी आत्मा में ज्ञान प्रकाशित हो सकता है। चित्-शक्ति की सर्वव्यापकता से चेतन आत्मा में ही ज्ञान स्फुरित हो सकता है। अन्य अचेतन तत्त्व में वैसा नहीं हो सकता जैसे वाह्य-प्रकाश एवं चक्षु इन्द्रिय का प्रकाश दोनों एक साथ संयुक्त रूप से समन्वित होने के कारण ही देखने की प्रक्रिया होती है, उसी प्रकार चित्-शक्ति रूपी सर्वव्यापक चैतन्य का जब आत्म-चैतन्य से संयोग स्थापित होता है तभी आत्मा में ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। यह प्रक्रिया ज्वलन्त अग्नि के द्वारा सुप्त अग्नि को प्रज्वलित करने की तरह है। आणवाधृत आत्मा सुप्त चैतन्य है। चित्-शक्ति के स्पर्श से वह जाग्रत होकर क्रमशः पूर्णता को प्राप्त होती है। आत्म चैतन्य तत्त्वतः सर्वव्यापक, पूर्ण चैतन्य ही है। वह अपनी पूर्णता को चित्-शक्ति में विद्यमान होकर ही प्राप्त कर सकती है। आत्म चैतन्य जब ईश्वर-चैतन्य में समवेत हो जाता है तभी उसकी पूर्णता होती है। ईश्वर-शक्ति सर्वव्यापक, अखण्ड चैतन्य सत्ता है परन्तु आणवाधृत आत्मा, आवृत, सापेक्ष, संकीर्ण, अर्थात् सीमित चैतन्य है। आत्मा का इस सापेक्ष सीमित स्थिति से उस निरपेक्ष असीमित के साथ अनन्यत्व, अभेदत्व अर्थात् अद्वैत स्थिति को प्राप्त करना ही मूल-स्वरूप को प्राप्त करते हुए मोक्ष प्राप्त करना कहलाता है। आत्म तत्त्व अनादिकाल से आणवाधृत होने के कारण बन्धन में रहता है अतः ईश्वर-चैतन्य के साथ सम्मिलित होना उसके लिए परमावश्यक है। यही मोक्ष एवं पूर्णता की प्राप्ति है। अतः यह स्पष्ट है कि चक्षु इन्द्रिय का प्रकाश एवं बाह्य प्रकाश की भिन्नता की तरह संकुचित आत्म चैतन्य एवं सर्वव्यापक स्वतः सिद्ध ईश्वर-चैतन्य में भिन्नता है। इस भिन्नता को दूर करते हुए ईश्वर-चैतन्य से "अभिन्नता" को प्राप्त करना ही आत्मा का जीवनादर्श है। यही आत्मा की वास्तविक स्थिति तथा मोक्ष है। सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान स्वयंप्रकाश, शिव-शक्ति की अन्तःप्रेरणा से ही यह कार्य सम्पन्न हो सकता है।

पद नं. ५९

भावानुवाद

आत्मा स्थायी रूप से एक ही विषय में आवद्ध रहती है एवं ज्ञान प्राप्त करती है। माया-देह को आत्मा सम्पूर्ण रूप से व्याप्त करती हुई विद्यमान रहती है। सम्पूर्ण देह में रहते हुए यह दूसरे किसी की व्याख्या के बिना सब विषयों का ज्ञान प्राप्त करती है। यह अचेतनवत् है—ऐसा ज्ञानी व्यक्ति कभी नहीं कहता। जैसे स्फटिक प्रकाश में प्रकाशमान हो जाता है ठीक उसी प्रकार से आत्मा शरीर में विद्यमान रहकर भी सत्य का ज्ञान प्राप्त करती है।

उक्त पद में श्री उमापति शिवाचार्य ने आत्मस्वरूप एवं सांसारिक स्थिति में आत्मा के ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया पर और अधिक प्रकाश डाल रहे हैं। देहस्थ आत्मा प्रकृति तत्त्व से प्राप्त कारणों की सहायता से विषयों को ग्रहण करती है। चित्त इत्यादि सूक्ष्म करण स्थूल इन्द्रियों से समन्वित होकर बाह्य विषयों पर केन्द्रित होती है एवं विषयों के ज्ञान को आत्मा अन्त:करण के साधन से प्राप्त करती है। आत्मा ही वास्तव में ज्ञाता है क्योंकि चैतन्य-स्वरूप होने के कारण उसी में ज्ञातृत्व हो सकता है। अत: माया से उत्पन्न देह में विद्यमान होते हुए भी वह अपने स्वरूप के अनुकूल कार्य करती है। ज्ञान-प्रकाश होने के कारण देहस्थ आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है, परन्तु फिर भी वह अचेतन देह से सम्पूर्ण रूप से भिन्न-तत्त्व है। उक्त दृष्टिकोण भारतीय चिन्तन परम्परा की सामान्य विशेषता है। आत्मा की देह के साथ अज्ञानता-जनित सम्बद्धता के कारण आत्मा को परिवर्तनशील, अचेतन, प्रकृति जात विषयों के सुख-दु:खात्मक अनुभवों के माध्यम से जन्म-मृत्यु के चक्र में आबद्ध रहना पड़ता है, जो उसके लिए बहुत ही दु:खात्मक एवं अवांच्छित स्थिति है। अचेतन देह में आबद्ध रहने पर भी आत्मा की ज्ञान-स्वरूपता कभी भी नष्ट नहीं होती। यही कारण है कि किसी भी स्थिति में आबद्ध आत्मा के लिये मोक्ष प्राप्त करने की सम्भावना बनी रहती है–ऐसा सभी शास्त्रों की धारणा है अत: यह स्पष्ट हुआ कि अनादि काल से पाशबद्ध होने के उपरान्त भी आत्म चैतन्य स्वरूपत: उसी मूल उज्ज्वल स्थिति में विद्यमान रहता है। श्री उमापति कहते हैं कि आत्मा की यह ज्ञान-स्वरूपता निर्विवाद रूप से सत्य है; इसीलिए यह भी स्पष्ट है कि आत्मा ही चेतनतत्त्व के रूप में एकमात्र ज्ञाता है। आत्मा का ज्ञातृत्व एवं उसकी चैतन्य स्वरूपता का वर्णन श्री उमापति स्फटिक के साथ तुलनामूलक रूप में कर रहे हैं। सूर्य का प्रकाश स्फटिक पर प्रतिबिम्बित होने से जैसे स्फटिक उसे अपने में समा लेता है एवं और उज्ज्वलतर प्रतिभात होता है उसी प्रकार सर्वव्यापक, चित्-शक्ति के प्रकाश से आत्मा का चैतन्य और प्रकाशित हो जाता है। चित्-सत्ता आत्मा में ही ईश्वर-चैतन्य को समाविष्ट करते हुए उसके साथ 'अनन्य' हो जाने का सामर्थ्य विद्यमान है। देखने की प्रक्रिया में जैसे बाह्य प्रकाश के द्वारा अन्धकार दूर होने पर ही पशु इन्द्रिय देखने में समर्थ होती है, उसी प्रकार चित्-शक्ति के प्रभाव से मलावरण दूर होने पर आत्मा की ज्ञान स्वरूपता स्वत: ही अपनी सर्वव्यापकता को प्राप्त करती है। बाह्य प्रकाश के सहयोग से जैसे चक्षु-इन्द्रिय देखती है, उसी प्रकार चित्-शक्ति की सहायता से आत्मतत्त्व भी सत्य-ज्ञान को प्राप्त करता है। अत: यह स्पष्ट है कि चक्षु-इन्द्रिय, जो दृष्टि संवेदन के योग्य है, की तरह आत्मा भी "ज्ञातास्वरूप" है। ज्ञातृत्व आत्मा का सहज-धर्म है, उपाधि नहीं; क्योंकि आत्मा चित् सत्ता है। स्फटिक का यह स्वभाव-धर्म है कि वह सूर्य की किरण को अपने में प्रतिबिम्बित कर लेता है उसी प्रकार चैतन्य स्वरूप आत्मा ईश्वर चैतन्य से आप्लावित होकर चैतन्य-

मय हो जाती है, जो अचेतन माया तत्त्व नहीं हो सकता। उक्त पद में श्री उमापति स्पष्ट कर रहे हैं कि अनादि काल से पाशबद्ध होने पर भी आत्म-चैतन्य कभी विलुप्त हो ही नहीं सकता एवं उसमें कोई परिवर्तन भी नहीं हो सकता। आत्मा-चैतन्य सत्ता के रूप में सदा उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश है एवं अज्ञान से अप्रभावित रहती है। मलाच्छादन चित्-शक्ति की कृपा से तिरोहित हो जाने पर आत्म-चैतन्य ईश्वर-चैतन्य में अवस्थित हो जाता है। अचेतन पाशतत्त्व से उसकी कोई मौलिक हानि नहीं होती है।

पद नं. ६० – पाँच अवस्थाओं के स्वरूप

भावानुवाद

अतीत की गणना नहीं की जा सकती क्योंकि वह बीत चुका होता है। तुरीय अवस्था में प्राणवायु मूलाधार में अवस्थित रहती है। उसके बाद वह स्वप्नावस्था में चित्त के ऊपर आती है। जाग्रतावस्था में वह अन्य पाँचों से संयुक्त होकर अवस्थित रहती है।

भारतीय-दर्शन के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार आत्मा अनादि काल से अज्ञानाच्छादित है एवं सृष्टि भी अनादि होने के कारण आत्मा सृष्टि में माया-कर्म से सम्बन्धित होती हुई जन्म-मृत्यु के आवर्तन में आबद्ध रहती है। शैव-सिद्धान्त भी अन्य भारतीय दार्शनिकों की तरह उक्त दृष्टिकोण को स्वीकार करता है। आणव एवं माया कर्म से आत्मा का सम्बन्ध अनादि है अर्थात् काल की गणना से परे हैं क्योंकि काल सृष्टि के अन्तर्गत है। इसीलिए श्री उमापति कहते हैं कि अतीत की गणना नहीं की जा सकती। कब से यह सृष्टि चली आ रही है एवं आत्मा ने भी कितने जीवन व्यतीत किये हैं, इसका कोई विवरण प्राप्त नहीं हो सकता। शास्त्र के अनुसार चौरासी लाख योनि प्राप्त करने के उपरान्त आत्मा को मनुष्य देह प्राप्त होता है जिसमें सत् एवं असत् कर्मानुसार उसे फल की प्राप्ति होती है। कर्मफल को प्राप्त करने के सन्दर्भ में आत्मा पुनः कर्म करता है, जिसका परिणाम फिर से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार आत्मा जन्म-मृत्यु के आवर्तन में विद्यमान होकर विभिन्न विषयों का पुनः-पुनः अनुभव प्राप्त करती रहती है, अतः अतीत की गणना करना असम्भव है। वर्तमान जीवन में मनुष्यों को अतीत के किस जीवन का कर्म फल प्राप्त हो रहा है एवं अतीत के कितने कर्म अभी तक फलप्रसू नहीं हुए हैं, यह कोई नहीं जानता। अतीत के जितने कर्म का फल हम प्राप्त कर रहे हैं उसे प्रारब्ध एवं जितने फल प्राप्त करने वाले हैं उसे संचित कर्म कहा जाता है। प्रारब्ध एवं संचित दोनों ही मनुष्य की सीमा एवं नियन्त्रण के परे हैं। केवल वर्तमान कर्म ही विवेक बुद्धि के द्वारा नियन्त्रित हो सकता है। यही कारण है कि महापुरुषों ने वर्तमान क्रियमाण कर्म की महत्ता पर इतना बल दिया है। प्रारब्ध एवं संचित दोनों कर्म ही अतीत कर्म हैं। अतीत व्यतीत हो चुका होता है उसे

पुनः प्रत्यावर्तित नहीं किया जा सकता, क्योंकि काल निरन्तर प्रवहमान है। काल के इस प्रवाह में आत्मा कई अवस्थाओं से गुजरती है, जो इस प्रकार हैं–(१) जाग्रत, (२) स्वप्न, (३) सुषुप्ति, (४) तुरीय एवं (५) तुरीयातीत। जाग्रत अवस्था प्रेरक अवस्था कहलाती है, जिसमें आत्मा बाह्य विश्व के सभी अनुभवों को प्राप्त करती है। देहस्थ आत्मा एक समय में किसी भी एक इन्द्रिय से युक्त होकर पाँच भूत तत्त्वों में से किसी एक को ग्रहण करती है। अन्य इन्द्रियाँ एवं बाह्य तत्त्व निष्क्रिय रूप से आत्मा से सम्बन्धित होकर कालादि निर्मित शरीर में विद्यमान रहते हैं। बाह्य स्थिति में आत्मा तनु-करणों से युक्त रहती है परन्तु उपभोग के सभी विषयों को वह सामान्य सार्वभौम एवं व्यापक रूप से ग्रहण नहीं कर सकती। जाग्रत स्थिति के अनुभव सीमित, सापेक्ष, अर्थात् संकीर्ण हैं। जाग्रतावस्था में आत्मा शुद्ध एवं अशुद्ध सभी तत्त्वों से अर्थात् छत्तीस तत्त्वों से संयुक्त रहती है। पाँच शिवतत्त्व, छः विद्या तत्त्व एवं पच्चीस प्रकृति-माया तत्त्व–ये कुल मिलाकर शैव सिद्धान्त में प्रतिपादित छत्तीस तत्त्व हैं जिनके साथ जाग्रतावस्था में आत्मा सम्बन्धित रहती है। इस स्थिति में सभी करण क्रियाशील रहते हैं। वायुओं के नौ प्रकार, चार अन्तःकरण एवं पुरुष सभी से आत्मा सम्बन्धित रहती है, एवं सापेक्ष, सीमित होने पर भी सभी तत्त्वों के सक्रिय प्रभाव भी आत्मा के ऊपर रहते हैं। प्रत्येक अनुभव में सभी तत्त्वों का सक्रिय सहयोग न रहने पर भी यह निश्चित है कि आत्मा सभी तत्त्वों से सम्बद्ध होने के कारण प्रभावित रहती है। जाग्रतावस्था में आत्मा भ्रूमध्य, ललाट स्थान में विद्यमान रहती है।

स्वप्नावस्था में इन्द्रियाँ निष्क्रिय एवं निष्प्रभाव रहती हैं। इस स्थिति में आत्मा आन्तरिक सूक्ष्म विषयों का अनुभव करती है एवं कण्ठ में अवस्थित रहती है। स्वप्नावस्था में सूक्ष्म तत्त्व वायु के दश प्रकार के संचरण, चार अन्तःकरण एवं पुरुषतत्त्व का आन्तरिक सूक्ष्म अनुभव होता है।[१] ऐसे तो आन्तरिक सूक्ष्म अनुभूत तत्त्व पच्चीस हैं। चक्रों के माध्यम में ऊर्ध्व-गति एवं अधोगति दोनों स्थितियों में स्वप्नावस्था में इन सूक्ष्म तत्त्वों के अनुभव होते रहते हैं। पोट्री पहोंदई में तो कहा गया है कि आत्मा स्वप्नावस्था में भी जाग्रतावस्था के कर्मानुसार सुख-दुःख को प्राप्त करती है।[२] इस स्थिति में यद्यपि तत्त्व सक्रिय नहीं रहते परन्तु स्वप्नानुभूति में कण्ठ-स्थित विशुद्ध चक्र में अवस्थित आत्मा में आन्तरिक अनुभव उत्पन्न होते रहते हैं, उनकी बाह्य क्रियाशीलता नहीं रहती।

निद्रा की स्थिति में अन्तरइन्द्रियाँ भी निष्क्रिय, शक्तिहीन हो जाती हैं। प्राणवायु के अलावा अन्य नौ प्रकार के वायु, दस इन्द्रियाँ, सूक्ष्म तन्मात्र इत्यादि निष्क्रिय रहते हैं। केवल अहंकार द्वारा प्रेरित चित्त, प्राणवायु, स्थूल शरीर एवं पुरुषतत्त्व के नियन्त्रण के

---

१. ज्ञानामृतम्। पद १६, पंक्ति ४०

२. पोट्री-पोहृदयि। १.६३

लिए सक्रिय रहते है। निद्रावस्था में मन, बुद्धि एवं चित्त की किसी वृत्ति की कोई स्मृति नहीं रहती, इस स्थिति में आत्मा हृदय-स्थित अनाहत चक्र में रहती है, प्रगाढ़ निद्रा की इस स्थिति को 'सुषुप्ति' कहते हैं।

तुरीय स्थिति में आत्मा 'शुद्ध-आत्मा' कहलाती है। उपर्युक्त तीन अवस्थाएँ 'तुरीय-स्थित' शुद्ध-आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं। जाग्रत् दशा में आत्मा बाह्य-वस्तुओं का अनुभव करती हैं, स्वप्न दशा में यह आभ्यन्तर मानस जगत् का अनुभव करती हैं, सुषुप्ति में वह केवल आनन्द-स्वरूपता का अनुभव करती है। उक्त तीनों अवस्थाएँ आत्मा की अपरावस्था सूचित करतीं हैं। पूर्णावस्था में न तो बाह्य चेतना रहती है और न अन्तश्चेतना रहती है। आत्मा केवल आत्म-प्रत्ययसार, प्रपन्वोपशम जब समस्त बाह्य जगत् शान्त हो जाता है, तब आत्मा शान्त शिवाद्वैत रूप हो जाती है। इस आत्मा को 'तुरीय' कहते हैं।[१] इस स्थिति में चित्त भी निष्क्रिय हो जाता है। अहं द्वारा प्रेरित प्राणवायु एवं पुरुष तत्त्व ही ऐसे दो तत्त्व हैं जो आन्तरिक रूप से क्रियाशील रहते हैं जिससे शरीर विद्यमान रहता है। अन्यान्य सभी तत्त्व निष्क्रिय अर्थात् शान्त हो जाते हैं। इस स्थिति में आत्मा नाभि में स्थित मणिपुर चक्र में विद्यमान हो जाती है।

तुरीयातीत-स्थिति उपरोक्त स्थिति से परे की स्थिति है, जिसमें प्राण-वायु भी निष्क्रिय हो जाती है। आत्मा पुरुष तत्त्व के साथ आधारभूत चक्र 'मूलाधार' में अवस्थित रहती है। यह वह स्थिति है, जिसमें आत्मा में सत्ता तो रहती है, परन्तु माया तत्त्व के सभी विषयों से उसका सम्बन्ध शिथिल हो जाने के कारण सभी विषय निष्क्रिय एवं शान्त हो जाते हैं। फलत: बाह्य विषयों की नि:स्सारता का अनुभव करते हुए आत्मा सम्पूर्ण रूप से निर्लिप्त होकर अन्त:श्चेतना में अवस्थित हो जाती है। आत्मा की इस स्थिति में ही तीव्र शक्ति-निपात से आत्म-चैतन्य परम चैतन्य में निमज्जित हो जाता है।

पद नं. ६१

भावानुवाद

इन अवस्थाओं में कई विषयों की उत्पत्ति होती है तथा कई दूर भी हो जाते हैं। वास्तविक सत्य का स्थान ललाट स्थान है। वहाँ वह (आत्मा) पाँच अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त करती है। यदि आप जगत् प्रपंच की मिथ्या स्थितियों को तिरोहित करना चाहते हैं तो वैसा ही करें जिससे आप कृपा को प्राप्त कर सकते हैं। ये पाँचों अवस्थाएँ ज्ञात हो जाती हैं जिसे गुरु-कृपा से प्राप्त किया जा सकता है।

---

१. माण्डूक्य उपनिषद। ७

उक्त पद में श्री उमापति शिवाचार्य आगम-शास्त्र द्वारा प्रणोदित षट्चक्र सिद्धान्त का संकेत करते हैं, तन्त्र-शास्त्र के अनुसार जो कुछ अण्ड में है वही पिण्ड में भी है। परमशक्ति तो सृष्टि कर्तृ है, वह मनुष्य में भी विद्यमान है, साधक आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में क्रमशः शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियों का अनुभव प्राप्त करता रहता है। जीव देह में प्रत्येक तत्त्व का एक निश्चित केन्द्र है जहाँ पर उस तत्त्व की देवी शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। ये केन्द्र स्थूल इन्द्रिय से देखने वाले शारीरिक स्थान नहीं हैं। ये परमशक्ति की अभिव्यक्ति के सूक्ष्म केन्द्र हैं, जिन्हें चक्र कहा जाता है। ये चक्र सुषुम्ना के एक छोर से दूसरे छोर में होते हुए कण्ठ, ललाट से मस्तिष्क तक पहुँचते हैं। सुषुम्ना रीढ़ की हड्डी में विद्यमान है जिसे मेरुदण्ड कहते हैं। सुषुम्ना के निचले छोर में अर्थात् योनि स्थान से कुछ ऊपर मूलाधार चक्र विद्यमान है। यहीं पर कुण्डलिनी शक्ति अर्थात् परमाशक्ति लिंग को साढ़े तीन आवर्तनों में लपेटती हुई लिंगमूल को ढक कर निद्रित है। इसे ही जाग्रत कर ऊर्ध्व गति की ओर ले जाना ही कुण्डलिनी योग है। इस स्थान को शक्ति पीठ कहा जाता है। तदनन्तर उससे कुछ ऊपर स्वाधिष्ठान कमल है, जो सुषुम्ना नाड़ी के निचले भाग में अवस्थित है। यह कमल छः दल का है। इससे ऊपर नाभि कमल का स्थान मणिपुर कहलाता है। यह अग्निस्थान है। रुद्र-देवता एवं लाकिनी शक्ति है, ये तीनों स्थान वे विराट् स्थान हैं, जिनसे स्थूल देह का निर्माण होता है। हृदय में स्थित हृदय-कमल को अनाहत चक्र कहा जाता है। ये कमल दस-दल के हैं। इस स्थान को जीवात्मा का आश्रय बताया जाता है, वायु यहाँ का तत्त्व है। यह ओंकार का महान स्थान है। हृदय कमल अनाहत चक्र में जीवात्मा हंस रूप में विद्यमान रहती है। कण्ठ में स्थित विशुद्ध चक्र में जीवात्मा विशुद्ध स्थिति को प्राप्त करती है। इसलिए इस स्थान का नाम ही विशुद्ध चक्र है। वाक् शक्ति का नियन्त्रक होने के कारण इस स्थान को भारती स्थान कहा जाता है। यहाँ सोलह दल का कमल है। आकाश यहाँ का तत्त्व है। सदाशिव तत्त्व यहाँ अर्द्धनारीश्वर रूप में विद्यमान है जो गिरिजा अथवा गौरी के साथ एकीभूत है। यहाँ ज्योतिरूपी शाकिनी शक्ति है। साधक इस स्थान को जाग्रत कर त्रिकालदर्शी बनता है। इसके ऊपर आज्ञा-चक्र है जो दोनों भौंहों के बीच में अवस्थित है। यह द्विदल सफेद कमल रूप है। मन ही यहाँ का तत्त्व है। यह चक्र-प्रकृति का सूक्ष्म तत्त्व महत् का स्थान है। प्रणव 'ॐ ह्रीं' यहाँ का बीज मन्त्र है। इस उज्ज्वल प्रकाशमय प्रणव में अन्तरात्मा ज्योतिरूप में प्रकाशित होती है। यह 'ज्ञान-चक्र' भी कहलाता है। यह वह स्थान है जिसके प्रकाश से मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक सब पूर्णरूप से प्रकाशित हो जाता है। यहाँ के देवता परम शिव हैं जो हंस रूप में डाकिनी शक्ति से युक्त हैं। सहस्रार जो ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित है 'गुरु पादुका' कहलाता है। उस परम ज्योति से जो आज्ञा आती है उसे ही धारण करने के कारण भ्रूमध्य के चक्र को 'आज्ञाचक्र' कहा जाता है। इस आज्ञा-चक्र में सूक्ष्म स्वरूप मन का निवास है। इस चक्र में अवस्थित

होने से साधक में अनेक अलौकिक शक्तियों का विकास होता है एवं सभी विषयों का सम्यक्, सत्य, सर्वव्यापक ज्ञान विकसित होता है। यह उस परम तत्त्व में अद्वैत ज्ञान प्राप्त करने का स्थान है। यह अद्‌भुत तप:सिद्धि का स्थान है। इस चक्र की साधना के द्वारा साधक दीर्घायु एवं सर्वव्यापक ज्ञानी तथा सर्वशक्ति सम्पन्न होता है। इस स्थान पर अन्तरात्मा वास्तव में ज्योतिष्मान प्रणवरूप में विद्यमान रहती है। उक्त स्थान में 'खेचरी मुद्रा' के बन्धन से चित्त को प्रणवाधार त्रिकोण में विहीन करते हुए त्रिकोण के मध्य अग्नि स्फुलिंग के रूप में साधक शिव शक्ति का सदा दर्शन करता है। इस बह्विकला के दर्शन के बाद साधक मूलाधार से सहस्राधार तक व्याप्त ज्योति का दर्शन करता है। इसीलिए श्री उमापति शिवाचार्य कहते हैं कि साधक साधना के उत्कर्ष को प्राप्त करते हुए जब इस ज्ञान चक्र में अवस्थित हो जाता है तब परमात्मतत्त्व परमशिव से आत्मतत्त्व का मिलन होता है। इस मिलन में आत्मा परम चैतन्य में अवस्थित होकर सर्वव्यापक ज्ञान को प्राप्त करती है। उमापति कहते हैं कि इस स्थिति में आत्मा को अपनी पाँचों अवस्थाओं का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। अत: स्पष्ट है कि आत्म चैतन्य, शिवचैतन्य में विलीन होने से इस पाश युक्त माया तत्त्व की आपेक्षिक जगत की संकीर्णताएँ एवं भ्रम दूर हो जाते हैं। अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि ही अद्वैत, अखण्डित चित्-शक्ति में उद्भासित हो जाती है। आपेक्षिकता, सीमा इत्यादि अखण्ड-चैतन्य सत्ता में विलीन हो जाती है। यह केवल गुरुकृपा से ही सम्भव हो सकती है। गुरुकृपा ही वह अखण्ड शक्ति है जिसमें सभी द्वन्द्व एवं भेद विलुप्त हो जाते हैं। यह साधक की वह स्थिति है जिसमें इस जगत संसार में विद्यमान रहते हुए भी शिव-कृपा से वह पाश मुक्त हो जाता है। सर्वव्यापक, अखण्ड, चित्-शक्ति में निमज्जित होकर वह एकत्व, अभेद, अनन्यत्व का अनुभव करता है। यह आत्मा की शुद्धावस्था है। इस पद में श्री उमापति आगम-शास्त्र प्रणोदित साधन भूमियों के सन्दर्भ में साधक की शुद्धावस्था का वर्णन करते हैं।

पद नं. ६२

भावानुवाद

केवलावस्था में मल के बिना सभी तत्त्व दूरीभूत हो जाते हैं। सकलावस्था में कलादि सभी तत्त्व आत्मा से संयुक्त रहते हैं। उसके बाद सकलावस्था में ही दो तत्त्व विद्यमान रहते हैं। चक्रों से परे शुद्धावस्था है।

उक्त पद में श्री उमापति ने पाशबद्ध आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया है। प्रलयकाल में आत्मा माया एवं कर्म से विच्युत होकर कारणावस्था में केवल आणवमल से आबद्ध होकर निष्क्रिय अकर्ता के रूप में विद्यमान रहती है। शैव-सिद्धान्त

के अनुसार पाश के तीन रूप हैं-(१) आणव (२) माया एवं (३) कर्म। इनमें आणवमल ही मूल मल है जो अनादिकाल से आत्मा को अज्ञानता के अन्धकार में आवृत करके रहता है। ईश्वर कृपा के बिना इस अज्ञानता रूपी बन्धन से मुक्ति नहीं मिल सकती है। ईश्वर मूल मल से आत्मा के बन्धन को हटाने के लिए ही आत्मा को माया कर्म से आबद्ध करता हुआ सांसारिक स्थिति में अवस्थित कर देता है। परिवर्तनशील जगत में आत्मा उक्त स्थिति में रहकर अनेक अनुभवों को प्राप्त करती रहती है। इस अवस्था को सकलावस्था कहते हैं, जिसमें आत्मा पाश बद्ध होने पर भी सक्रिय रहती है एवं उपभोग के माध्यम से अनुभवों को प्राप्त करती है, जिससे कि मल का परिपाक होता रहता है। आत्मा की यह अवस्था सकलावस्था कहलाती है जिसमें माया-तत्त्व से प्राप्त तनु करण, भुवन, भोग इत्यादि सूक्ष्म एवं स्थूल सभी तत्त्व सम्बद्ध रहते हैं एवं अज्ञानता-जनित आसक्ति के कारण कर्मबन्धन भी रहता है। ये तत्त्व आत्मा के लिए साध्य को प्राप्त करने के निमित्त साधन हैं। सकलावस्था का यह क्रम चलता ही रहता है। आत्मा इन बन्धनों के कारण जन्म-मृत्यु के आवर्तन में आबद्ध रहती है, परन्तु ईश्वर पंचकृत्य के अधिकारी हैं, सृष्टि, स्थिति, प्रलय, निग्रह एवं अनुग्रह ईश्वर द्वारा प्रतिपादित विशिष्ट कार्य है। सृष्टि एवं स्थिति प्रक्रिया में आत्मा को अनुभवों को प्रदान करने के लिए ईश्वर सकलावस्था में रखता है। ईश्वर परम कृपालु है। प्रलय अर्थात् सृष्टि का विनाश भी ईश्वर की कृपा की अभिव्यक्ति है। प्रलयावस्था विश्राम की अवस्था है। इस स्थिति में सभी तत्त्व विश्रान्ति में रहते हैं। सृष्टिकारण, माया में बीजावस्था में रहती है। कर्म भी आत्मा से अलग हो जाता है एवं आत्मा विश्रान्ति की स्थिति में रहती है। कर्म से पृथक् रहने के कारण आत्मा निष्क्रिय स्थिति में अनुभव विहीन होकर विद्यमान रहती है परन्तु सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ ईश्वर आत्मा के कर्म फल का संरक्षण करता है। आत्मा की यह स्थिति 'केवलावस्था' कहलाती है। माया कर्म के निष्क्रिय एवं शान्त रहने के कारण आत्मा केवल मूल-मल आणव से सम्बद्ध रहती है, इस स्थिति में आत्मा की कोई देह नहीं रहती। बुद्धि, विद्यातत्त्व गुण, राग इत्यादि माया-तत्त्व से उत्पन्न सूक्ष्म एवं स्थूल कोई भी विषय आत्मा से सम्बद्ध नहीं रहते। कर्म से अलग हो जाने के कारण आत्मा निष्क्रिय, अनुभव विहीन, अकर्ता के रूप में विद्यमान रहती है, आत्मा की यह अवस्था पुनर्सृष्टि तक रहती है। इस निष्क्रिय अनुभव विहीन स्थिति में रहने पर भी आत्मा के अतीत कर्म अर्थात् स्थिति काल में किये गये कर्मों के परिणाम नष्ट नहीं होते। पुनर्सृष्टि में आत्मा अपने ही गत कर्मों के परिणामस्वरूप तनु, करण, भुवन, भोग को प्राप्त करती हुई पुनः सकलावस्था में आ जाती है, अतः यह स्पष्ट है कि प्रलयावस्था में कोई कर्म-फल नष्ट नहीं होता, यह अवस्था विश्रान्ति की अवस्था है। सृष्टि, स्थिति, प्रलय के इस चक्र में जब मल परिपक्व होता है तब शिव-कृपा से सत्य ज्ञान की उत्पत्ति होती है और आत्मा में सत् एवं असत् का बोध उत्पन्न होता है। आत्मा

असत्, निःसार, अज्ञानतामूलक विषयों से विच्छिन्न होती हुई सत्य अर्थात् ईश्वराभिमुखी हो जाती है। ईश्वर के प्रति इस निर्विशषयता के फलस्वरूप आत्मा में माया-जनित अचेतन, निःसार विषयों के प्रति सम्पूर्ण अनासक्ति आ जाती है, जिससे आन्तरिक प्रवृत्तियों का नाश हो जाता है जो इस संसार में रहते हुए भी कर्म-बन्धन नष्ट हो जाते हैं। आसक्ति ही वह आन्तरिक बन्धन है जिससे कर्म-पाश उत्पन्न होता है। आसक्ति के निर्मूल होने से कर्म-पाश छिन्न हो जाता हैं। यह आत्मा की सांसारिक स्थिति में जीवितावस्था में ही बन्धन-मुक्ति है। श्री उमापति ने दो मलों के सन्दर्भ में इसी अवस्था को सूचित किया है। वास्तव में सकलावस्था में इस विश्व प्रपञ्च में रहने पर भी आत्मा कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाती है अर्थात् निष्काम कर्म से कोई परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकता, इसीलिए बन्धन भी नहीं होता है। प्रारब्ध के कारण माया जनित देह संस्कारवशात् कुछ समय तक विद्यमान रहती है इसलिए यह जीवन मुक्ति की स्थिति कहलाती है परन्तु जब तक तीव्र शक्ति निपात नहीं होता तब तक मलावरण अर्थात् अज्ञानता रूपी अन्धकार दूर नहीं हो सकता। अतः श्री उमापति कहते हैं कि शिव-कृपा से सभी पाश छिन्न होने से ही आत्मा पाशमुक्त होकर शुद्धावस्था को प्राप्त होती है। अर्थात् शुद्धावस्था इन सभी अवस्थाओं से परे है जिसमें आत्मा निर्मल होकर ईश्वर-चैतन्य में निमज्जित हो जाती है। यह स्थिति सहस्रार में आत्मा की परम-शिव से महामिलन की स्थिति है जो सब चक्रों से परे हैं। उच्चतर चक्र में आरोहित होते हुए आत्मा क्रमशः अध्यात्मिक उत्कर्ष को प्राप्त करती है। परन्तु सहस्रार में परम चैतन्य से मिलन ही आध्यात्मिक जीवन की परम उपलब्धि अर्थात् साध्य है। यही आत्मा की शुद्धावस्था है जिसमें वह सच्चिदानन्द तत्त्व में अवस्थित हो जाती हैं।

पद नं. ६३—व्याख्या पद्धति

भावानुवाद

एक समय में यह (आत्मा) एक ही इन्द्रिय से संयुक्त होती है एवं पंच महाभूतों में से एक को ही ग्रहण करती है। करण (अन्तःकरण) चार हैं। कलादि दूरीभूत नहीं होते। पाँच (शुद्ध तत्त्व) से संयुक्त होकर ही (विषयों का) ज्ञान होता है। यदि ये सभी न रहें तो आत्मा को कोई ज्ञान ही नहीं हो सकता। उसके (आत्मा के) बिना ये अठारह तत्त्व कोई कार्य कर ही नहीं सकते।

उक्त पद में श्री उमापति आत्मा के सांसारिक ज्ञान उत्पन्न होने की स्थितियों का वर्णन करते हैं। यद्यपि आत्मा ज्ञान-तत्त्व है परन्तु आणवाधृत होने के कारण स्वतः अपने प्रयत्न से ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती, क्योंकि आणवाधृत आत्मा अज्ञानता के अन्धकार से आवृत होने के कारण अचेतनवत् पड़ी रहती है। चित्-शक्ति के संचालन से माया-तत्त्व

के द्वारा विश्व-प्रपञ्च की सृष्टि होती है एवं आत्मा को तनु, करण, भुवन, भोग इत्यादि प्राप्त होते हैं। आत्मा देह इन्द्रियों से सम्बद्ध होती हुई बाह्य विषयों को ग्रहण करती है। ग्रहण करने की इस प्रक्रिया में आत्मा एक समय में एक ही इन्द्रिय के द्वारा एक ही महाभूत को ग्रहण करती है। बाह्य इन्द्रियाँ अन्तःकरण को विषयों की संवेदना को प्रदान करती है। आत्मा अन्तःकरण के माध्यम से उसका उपभोग करती है। आत्मा मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त एक साथ बाह्य-करण से सम्बद्ध होते हैं। बाह्य विषयों का यह अनुभव आपेक्षिक है इसीलिए एक समय में एक इन्द्रिय एक ही विषय को ग्रहण कर सकती है। अन्तःकरण चार हैं–मन, बुद्धि, अहंकार एवं चित्त। मन प्रकृति माया से उत्पन्न तत्त्व गुणात्मक तत्त्व है, बुद्धि भी प्रकृतिजात सत्व गुणात्मक महत् तत्त्व की अभिव्यक्ति है। अहंकार प्रकृतिजात, रजोगुण प्रधान तत्त्व है, जिससे "मैं और मेरे" की अनुभूति उत्पन्न होती है। इससे सम्बद्ध होकर आत्मा अपने को कर्ता अर्थात् अनुभविता मानती है। मन, बुद्धि, अहंकार इन तीनों तत्त्वों के समन्वय से चित्त बनता है। ये चार तत्त्व अन्तःकरण कहलाते हैं जो बाह्यकरण से विषयों को ग्रहण करती हुई आत्मा के लिए उपभोग्य बनाते हैं। शुद्धाशुद्ध माया से उत्पन्न छः तत्त्व भी आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं। इसके उपरान्त पाँच शुद्ध-तत्त्व अर्थात् शिव तत्त्व भी ज्ञान की प्रक्रिया में अन्तर्भूत रहते हैं, क्योंकि ये सभी तत्त्व चित् शक्ति द्वारा आत्मा को प्राप्त होते हैं, इनसे सम्बद्ध होकर ही आत्मा अनुभवों को प्राप्त करती है जो क्रमशः सत्य ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होते हैं। शैव-सिद्धान्त के अनुसार माया तत्त्व से उत्पन्न छत्तीस तत्त्व आत्मा के लिए उपयोगी हैं, क्योंकि सर्वव्यापक अन्तर्भूत चित् शक्ति के द्वारा संचालित होती हैं। छत्तीस तत्त्वों में शुद्धा-शुद्ध माया से उत्पन्न पाँच कलादि तत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार एवं दस इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ)–ये अट्ठारह तत्त्व आत्मा से सम्बद्ध हुए बिना कार्य नहीं कर सकते, क्योंकि ये तत्त्व माया से उत्पन्न होने के कारण अचेतन हैं। चित्-शक्ति के द्वारा संचालित होते हुए ये आत्मा के लिए करण रूप में उपयोगी होते हैं। इनके उपयोग से आत्मा भुवन भोग का अनुभव प्राप्त करती हुई कर्म करती है। चैतन्य स्वरूप होने के उपरान्त भी मलाधृत आत्मा स्वतः विषयों के ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकती इसलिए चित्-शक्ति माया तत्त्व के द्वारा आत्मा को तनु, करण, भुवन, भोग प्रदान करती है, जिन्हें साधन रूप में अपनाकर आत्मा सृष्टि में विषयों का उपभोग करती है। अर्थात् चैतन्य सत्ता आत्मा ही ज्ञाता एवं अनुभविता है। अचेतन माया से उत्पन्न सभी तत्त्व साधनरूप हैं, कर्ता नहीं हैं।

पद नं. ६४

भावानुवाद

आत्मा स्वयं कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती। तत्त्वों से संयुक्त होने के उपरान्त भी

वह किसी विषय का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती क्योंकि तत्त्व अचेतन हैं। यह (आत्मा) तत्त्वों से संयुक्त होकर तत्त्वों की तरह रंग एवं रूप को ही धारण करती है। केवल उसे (ईश्वर को) ही ज्ञान है एवं वही आत्मा को तत्त्वों से संयुक्त कर सब विषयों का ज्ञान प्रदान करता है।

उक्त पद में श्री उमापति पूर्वपद के सन्दर्भ में ही आत्मा के सांसारिक विषयों के ज्ञान के सन्दर्भ में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यद्यपि आत्मा ही ज्ञाता, भोक्ता रूपी चेतन सत्ता है, परन्तु अनादि काल से आणवाधृत होने के कारण उसका चैतन्य जड़वत् निष्क्रिय स्थिति में रहता है, इसीलिए वह स्वतः प्रेरित होकर आवश्यकता के अनुसार कोई कार्य करने में असमर्थ रहती है। जैसा कि पहले बताया गया है आत्मा को बन्धन की स्थिति से मुक्त करने के लिए ही ईश्वर सृष्टि करता है एवं आत्मा को मायाकर्म से सम्बद्ध कर देता है। चित्-शक्ति की अनुप्रेरणा से ही आत्मा माया-कर्म का उपयोग करती हुई विषयों का अनुभव प्राप्त करती है। आणवाधृत आत्मा का ज्ञान अज्ञानता के अन्धकार से आच्छादित रहता है। अज्ञानता के इस प्रगाढ़ आवरण को भेद करना स्वतः आत्मा के लिए सम्भव नहीं है, क्योंकि अज्ञानता से वह अचेतनप्राय स्थिति में रहती है। चित्-शक्ति ही मायारूपी उपादान से सृष्टि करती है एवं इस अज्ञानता का खण्डन करती हुई आत्मा को विषयों से सम्बद्ध करती है एवं तभी आत्मा अनुभव प्राप्त करने में समर्थ होती है। अचेतन माया आत्मा को ज्ञान प्रदान नहीं कर सकती, क्योंकि वह स्वयं अज्ञानरूप है। कर्म भी अज्ञानरूप है अतः उसके लिए भी ज्ञान उत्पन्न करना सम्भव नहीं है। चित्-शक्ति, जो सर्वज्ञ, सर्वव्यापक सत्ता है, आत्मा को, जो चित् सत्ता है वह ज्ञान प्रदान करती है। यह एक ज्वलन्त प्रकाश से दूसरे ज्वलनशील विषय को प्रज्वलित करने की तरह है जैसे–काष्ठखण्ड में ज्वलन-शीलता अन्तर्भूत होने के कारण अग्नि के द्वारा उसे प्रज्वलित किया जा सकता है, उसी प्रकार आत्मा तो स्वरूपतः चित् स्वभाव ही है अतः चित्-शक्ति ही उसके चैतन्य प्रकाश को व्यक्त एवं प्रकाशित कर सकती है। यहाँ और एक विषय ध्यान देने योग्य है कि सूर्य के प्रकाश से जैसे अन्धकार दूर हो जाता है, एवं समस्त दृश्य वस्तुएँ भी प्रकाशित होती हैं अर्थात् सूर्य की किरणों में दो प्रकार के प्रकाशकत्व विद्यमान हैं। एक स्वयं को प्रकाशित करने की क्षमता, दूसरी अन्य विषयों को भी उद्भासित करने की विशेषता। ये दोनों कार्य युगपद् सम्पन्न होते हैं। देखने की प्रक्रिया में जैसे बाह्य प्रकाश के अभाव में चक्षु इन्द्रिय का प्रकाश स्वतः अपने प्रयत्न से देख नहीं सकता, उसी प्रकार से चित्-शक्ति के प्रकाश के बिना आत्मा माया-कर्म जनित विषयों का उपभोग नहीं कर सकती एवं सत्य ज्ञान को प्राप्त भी नहीं कर सकती है। चित्-शक्ति की सर्वव्यापकता के कारण ही वह एक ओर स्थूल विषयों के ज्ञान को प्राप्त करती है एवं दूसरी ओर सत्य ज्ञान को प्राप्त करने के लिए चित्-शक्ति की ओर उन्मुख होती है अतः यह स्पष्ट है कि

आत्मा को विषय-ज्ञान, आत्मज्ञान एवं ईश्वर-ज्ञान सभी चित्-शक्ति द्वारा ही प्रदान किए जाते हैं। अचेतन माया, कर्म ज्ञान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकती, न ही मलावृत्त आत्मा स्वत: प्रवृत्त होकर सत्य-ज्ञान को प्राप्त कर सकती है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा सदसत् है। वह स्फटिक की तरह असत् से सम्बद्ध रहते हुए उसके स्वरूप को अपने में प्रतिबिम्बित कर लेती है एवं सत् से सम्बद्ध होने के कारण सत्-स्वरूप को भी प्राप्त कर लेती है। वह जब जिससे सम्बद्ध रहती है उसी से उसके स्वभाव को धारण कर लेती है। स्फटिक की तरह अपने पास में विद्यमान विषय के रंग को अपने में प्रतिबिम्बित कर लेती है इसीलिए आत्मा को सदसत् कहा जाता है। सामान्य दृष्टिकोण से उक्त शब्द में विरोधाभास है अर्थात् एक ही वस्तु सत् और असत् दोनों कैसे हो सकती है? परन्तु शैव-सिद्धान्त में उक्त शब्द के द्वारा आत्मा के स्वरूप एवं उसकी दो अवस्थाएँ सूचित की गयी हैं। आत्मा सदैव किसी न किसी से सम्बद्ध रहती है। अज्ञानता के कारण माया–कर्म पाश से आबद्ध होकर बन्धन की स्थिति में रहती है, एवं तत्त्वज्ञान को प्राप्त करती हुई चैतन्य सत्ता से सम्बद्ध हो जाती है जो आत्मा की मुक्तावस्था है, अर्थात् आत्मा बन्धन की स्थिति में पाश से संयुक्त होकर आबद्ध रहती है, एवं मोक्ष की स्थिति में शिव-चैतन्य में निमज्जित होकर पूर्ण स्वतंत्रता को प्राप्त करती है। असत् से सम्बद्ध रहने के कारण इस स्थिति में असत् कहलाती है, तदनन्तर सत् से सम्बद्ध स्थिति में सत् कहलाती है। इसीलिए सदसत् शब्द से आत्मा की दो अवस्थाएँ सूचित होती हैं एवं इन दोनों तत्त्वों से संयुक्त होने की विशिष्टता भी सूचित होती है। आत्मा ही वह तत्त्व है जो सत् एवं असत् दोनों से सम्बद्ध हो सकती है, अन्यथा न तो असत् सत् को प्राप्त कर सकता है, न ही सत् असत् को। यद्यपि आत्मा चैतन्य सत्ता है, परन्तु आणवाधृत होने के कारण अज्ञानता में रहती है। सर्व-व्यापक ईश्वर-चैतन्य ही उसे अज्ञानता से मुक्त कर क्रमश: सत् ज्ञान की स्थिति में अवस्थित कर देता है। आत्मा की आध्यात्मिक जीवन की सम्पूर्ण प्रणाली ही ईश्वर-कृपा से संचालित होती है। सर्वज्ञ ईश्वर सत्ता ही ज्ञान-सत्ता है जो आत्मा में ज्ञान प्रकाश प्रज्वलित करती है। उक्त पद के द्वारा श्री उमापति इस परम तत्त्व को प्रतिपादित करते हैं।

पद नं. ६५

भावानुवाद

चक्षु इत्यादि इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा अनुभव प्राप्त करती है। आत्मा शिव ज्ञान के माध्यम से ही ज्ञान प्राप्त करती है परन्तु आत्मा ही कर्ता है। आत्मा को ही ईश्वर ज्ञान प्राप्त कराता है एवं शाश्वत रूप से उसी में विद्यमान रहता है–यदि यह कहा जाय तो

सत्य नहीं होगा, क्योंकि वह किसी क्षुधार्त व्यक्ति के बदले दूसरे व्यक्ति द्वारा भोजन करने के अनुरूप होगा।

उक्त पद में श्री उमापति ज्ञान के सन्दर्भ में आत्मतत्त्व के कर्तृत्व का प्रतिपादन करते हैं। जैसा कि पहले बताया गया है आणवाधृत आत्मा की अज्ञानता दूर करती हुई उसे सम्यक् ज्ञान प्रदान करने के लिए ही शिव शक्ति माया के द्वारा सृष्टि करती है। केवल यही नहीं, सृष्टि में वह अनुस्यूत होकर विद्यमान रहती है। चित्-शक्ति की सर्वव्यापकता के कारण ही आत्मा विषय-ज्ञान को प्राप्त कर सकती है। चित्-शक्ति ही वह प्रकाश है जिससे विषय-ज्ञान उत्पन्न होता है परन्तु इस विषय ज्ञान को प्राप्त करने के लिए चेतन तत्त्व की आवश्यकता है। आत्मा ही वह चेतन तत्त्व है जो चित्-शक्ति के प्रकाश से प्रकाशित विषयों को अपने चैतन्य के द्वारा ग्रहण करती है। आत्मा के अलावा अचेतन माया तत्त्व के लिए यह कदापि सम्भव नहीं हो सकता, आत्मा में विद्यमान ज्ञातृत्व शक्ति के कारण ही आत्मा ज्ञाता के रूप में प्रतिष्ठित हो सकती है जैसा कि पूर्व पदों में बताया गया है। पशु इन्द्रिय में देखने की विशेषता विद्यमान है अर्थात् वह दृष्टि संवेदन के लिए समर्थ है, इसीलिए सूर्य के प्रकाश में विषयों को वह देख सकती है। सूर्य का प्रकाश सहायक कारण मात्र है, द्रष्टा नहीं। यह आधारभूत शर्त, एवं अनुकूल, सहायक परिस्थिति को उत्पन्न करता है, जिसमें चक्षु इन्द्रिय देखने के कार्य करने में समर्थ होती है। जैसे चक्षु इन्द्रिय में ज्योति के साथ बाह्य प्रकाश के समन्वय से देखने का कार्य सम्पन्न होता है उसी प्रकार आत्म-चैतन्य के साथ शिव-चैतन्य के मिलन से ज्ञानरूपी कार्य सम्पन्न होता है। शिव-शक्ति एक ओर तो आत्म शक्ति से समन्वित होती है, दूसरी ओर सर्वव्यापक आधार के रूप में अन्तर्भूत रहती है जिससे सभी विषय उद्भासित होते हैं। चित्-शक्ति के इस स्वतःस्फूर्त कार्य से आत्मा अनुभवों को प्राप्त करती है। उक्त पद में श्री उमापति आत्मा के ज्ञातृत्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि यदि यह कहा जाय कि शिवशक्ति ही ज्ञाता है तो वह स्वीकार्य नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि ईश्वर के लिए माया प्रसूत जगत इत्यादि विषयों के ज्ञान का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापक है। आणवाधृत आत्मा ही अज्ञानता के अन्धकार में डूबी हुई है, अतः उसी को सत्य ज्ञान की आवश्यकता है। इसीलिए चित्-शक्ति विश्वप्रपञ्च की सृष्टि करती है। सर्वज्ञ ईश्वर के लिए विषय ज्ञान को प्राप्त करने का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि आत्मा की ओर से शिव-शक्ति ही ज्ञान प्राप्त करती है, तो वह क्षुधार्थ व्यक्ति के लिए दूसरे व्यक्ति के भोजन करने की तरह बात हो जाती है। क्षुधार्त व्यक्ति की क्षुधा उसके स्वयं भोजन करने से ही निवृत्त हो सकती है, दूसरे के भोजन करने से नहीं। उसी प्रकार आत्मा को स्वयं ज्ञान प्राप्त करने से ही उससे अज्ञानता का अन्धकार दूर हो सकता है एवं वह सत्य, सर्वव्यापक ज्ञान से पूर्ण हो सकती है। आत्मा के लिए

यह नितान्त आवश्यक है। चैतन्य-स्वरूप आत्मा का आत्म-ज्ञान एवं शिव-ज्ञान की अनन्यता का बोध ही सत्य-ज्ञान की स्थिति है। आत्मा को इस ज्ञानस्थिति को प्रदान करने के लिए ही शिव-शक्ति उक्त प्रक्रिया से ज्ञान को उत्पन्न करती है अत: यह स्पष्ट है कि सृष्टि प्रक्रिया का उद्देश्य ही आत्मा में ज्ञातृत्व शक्ति को जाग्रत करना है, जिससे आत्मा सत्य ज्ञान को प्राप्त कर सके। यह ईश्वर की कृपा है कि वह विभिन्न उपायों से आत्मा से अज्ञानान्धकार को दूर करते हुए आत्मा को सत्य ज्ञान की स्थिति में अवस्थित कर देती है। चित्-शक्ति ही एक मात्र साधन, उपाय एवं निमित्त कारण है जिसके संचालन से आत्मा पाश-मुक्त होकर ज्ञान-प्रकाश में निमज्जित हो जाती है। केवल सृष्टि ही नहीं, अपितु पन्च कृत्यों का सम्पादन कर ईश्वर आत्मा को अज्ञानान्धकार से मुक्त कर ज्ञान-प्रकाश के अनन्त परमानन्द को प्रदान करता है।

पद नं. ६६

भावानुवाद

उज्ज्वल सूर्य रात्रि के घनघोर अन्धकार को दूर कर देता है। आत्मा विषयों को देखने में समर्थ होती है, एवं सोचती है कि यह उसी के द्वारा किया गया है। आणव मल के द्वारा आच्छादित होती हुई वह यह सोच कर खुश होती है कि ईश्वर-कृपा के बिना ही वह स्वत: सब विषयों का ज्ञान प्राप्त करती है।

उक्त पद में श्री उमापति आत्मा के सांसारिक ज्ञान की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मलावृत आत्मा अज्ञानता के कारण ज्ञान उत्पन्न करने की वास्तविक कारण-शक्ति को जान नहीं पाती। चित्-शक्ति के चैतन्य प्रकाश के कारण ही आत्मा विषयों के अनुभवों को प्राप्त कर सकती है। सर्वव्यापक चित्-शक्ति एक ओर तो आत्मा के मूर्च्छित चैतन्य को जाग्रत करती है, दूसरी ओर अनुभूत विषयों में प्रकाशकत्व प्रदान करती है। चित्-शक्ति के प्रकाश से ही आत्मा बाह्य-विषयों के अनुभवों को प्राप्त करती है। चित्-शक्ति ही सर्वव्यापक आधारभूत ज्ञान-प्रकाश है। जैसे सूर्य के प्रकाश से रात्रि का अन्धकार दूर हो जाता है उसी प्रकार चित्-शक्ति के ज्ञान प्रकाश से अज्ञानता रूपी अन्धकार भी दूर हो जाता है। जैसे पूर्व पदों में बताया गया है कि मलावृत आत्मा के अज्ञानान्धकार को दूर करता हुआ आत्मा को ज्ञान-प्रकाश के द्वारा आप्लावित करने के निमित्त ही ईश्वर पंचकृत्य का सम्पादन करता है। सृष्टि पंचकृत्य का एक कृत्य है, जो आत्मा को तनु, करण, भुवन, भोग के माध्यम से अनुभवों को प्रदान करते हुए सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होने में सहयोग प्रदान करता है। वास्तव में चित्-शक्ति ही वह निमित्त कारण है जो सृष्टि भी करती है एवं आत्मा को सृष्टि के ज्ञान को भी प्रदान करती है परन्तु चित्-शक्ति इस कार्य को अप्रकाशित रूप से करती है, जिसे 'तिरोधान' कहा जाता है। अपने स्वरूप को आवृत

रखती हुई चित्-शक्ति आत्मा को सृष्टि एवं सृष्टि-ज्ञान प्रदान करती है। सृष्टि में आत्मा, माया तत्त्व से उत्पन्न देह से सम्बद्ध होने के कारण अपने को कर्ता एवं भोक्ता के रूप में अनुभव करती है। अशुद्ध माया तत्त्व से उत्पन्न कल, रागादि तत्त्व एवं अहंकार तत्त्व से सम्बन्धित होने के परिणामस्वरूप आत्मा में क्षुद्र सापेक्ष "मैं एवं मेरे" की अनुभूति सूचक अभिमान की उत्पत्ति होती है, जिससे आत्मा अपने को अनुभविता के रूप में विषय-ज्ञान की कर्ता मानती है। आत्मा का यह बोध अज्ञानता प्रसूत एक भ्रमात्मक वृत्ति है, क्योंकि अनादि काल से आत्मा आणवाधृत होने के कारण अचेतनवत् रहती है। चित्-शक्ति की कृपा से ही वह तनु, करण, भुवन, भोग को प्राप्त करती है एवं विषय ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ होती है। उक्त स्थिति को आत्मा अपने प्रयास से कदापि प्राप्त नहीं कर सकती, क्योंकि मलावृत होने के कारण उसकी ज्ञान स्वरूपता सम्पूर्ण रूप से आच्छादित रहती है एवं सृष्टि-प्रपञ्च में अनुभविता के रूप में विद्यमान होना भी उसके इच्छाधीन नहीं हो सकता। अत: यह स्पष्ट है कि चित्-शक्ति की कृपा से ही आत्मा तनु, करण, भुवन, भोग को प्राप्त करती है एवं अनुभवों के द्वारा अन्तर्भूत चित्-शक्ति के प्रकाशकत्व के कारण क्रमश: विषयों के सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करती है। चित्-शक्ति ही आत्मा को यह स्थिति प्रदान करती है परन्तु आत्मा को इसका बोध नहीं हो पाता क्योंकि इस अवस्था में चित्-शक्ति आच्छादित, आवरित अर्थात् गुप्त रूप में क्रियाशील रहती है। इसीलिए इसे 'तिरोधान' शक्ति कहा गया है। चित्-शक्ति के अप्रकाशित रहने के कारण एवं अशुद्ध माया से सम्बद्ध होने के कारण आत्मा को वास्तविक ज्ञान प्रकाश अर्थात् शिव चैतन्य का बोध नहीं हो पाता है। वह स्वयं में कर्तृत्व को आरोपित करती हुई अपने को कर्ता एवं भोक्ता के रूप में अनुभव करती है। आत्मा का अपने लिए ऐसा सोचना सर्वथा भ्रमात्मक विचार है जो सत्य ज्ञान के अभाव के कारण उत्पन्न होता है। तीव्र-शक्ति निपात से जब चित्-शक्ति स्वरूपत: प्रकाशित होती है तब आत्मा का यह भ्रम दूर हो जाता है कि वही कर्ता एवं भोक्ता है। चित्-शक्ति के उद्भावित होने से उसी सर्वव्यापक चैतन्यसत्ता में निमज्जित होकर आत्मा कर्तृत्व को समर्पित कर देती है, परन्तु जब तक चित्-शक्ति स्वत: प्रकाशित नहीं होती तब तक आत्मा तत्त्व ज्ञान के अभाव के कारण एवं अशुद्ध माया से सम्बद्ध होने के कारण स्वयं कर्तृत्व आरोपित करती हुई मिथ्यानन्द में निमग्न रहती है। केवल चित्-शक्ति की कृपा से ही वह इस मिथ्या स्थिति से मुक्त होकर शाश्वत, ज्ञानानन्द में समर्पित हो जाती है। यही आत्मा की स्वरूप-स्थिति है।

पद नं. ६७

भावानुवाद

अन्त:करण एवं इन्द्रियाँ आत्मा के द्वारा एवं उसके माध्यम से ही (विषयों को)

जानती हैं परन्तु वे यह नहीं समझती कि वे आत्मा के द्वारा ही परिचालित होती हैं। निर्मल शिव की कृपा से ही आत्मा अपने पूर्व कर्मों के अनुसार विषयों का उपभोग करती है परन्तु यह (वास्तविकता) उसे ज्ञात नहीं होती।

उक्त पद में श्री उमापति अनुभवों में अन्तर्निहित सत्ता के स्वरूप की विवेचना प्रस्तुत करते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य विषयों को ग्रहण करती हुई अन्तःकरण को समर्पित करती हैं। अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि एवं अहंकार तत्त्व अन्तरीन्द्रिय के रूप में विषयों को ग्रहण करते हैं एवं आत्मा द्वारा विषय उपभोग्य होते हैं। आत्मा अन्तःस्थ होकर इन करणों के द्वारा अनुभवों को प्राप्त करती है। ये करण इस प्रकार से क्रियाशील होते हैं कि मानों ये ही कर्ता या ज्ञाता हैं परन्तु प्रकृति माया से उत्पन्न अचेतन शरीर की इन्द्रियाँ कैसे ज्ञाता हो सकती है? चेतन आत्मा में ही एक मात्र ज्ञातृत्व की कल्पना की जा सकती है परन्तु आत्मा इस प्रकार से अन्तर्भूत गुह्य तत्त्वों के रूप में अवस्थित रहती है, उसका अनुभविता-स्वरूप स्थिति सदैव ही गुप्त रहती है। चैतन्य सत्तात्मक आत्मा ही देहस्थ होकर करणों के संचालक के रूप में आधारभूत कर्ता है। इन्द्रिय एवं सभी अन्यान्य तत्त्वों का व्यापार आत्मा द्वारा ही संचालित होता है। आधारभूत चेतन आत्मा व्यक्तिसत्ता के सभी कार्यों के नियन्त्रण कर्ता के रूप में विभिन्न अनुभवों को प्राप्त करती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में वह अन्तर्भूत गुप्त स्थिति में रहती है। करणों एवं अन्यान्य तत्त्वों की सक्रियता से ऐसा प्रतीत होता है कि वही अनुभविता है। श्री उमापति शिवाचार्य सृष्टि एवं उसमें विद्यमान आधारभूत सत्ता चित्-शक्ति की सर्वव्यापकता एवं सर्व-कर्तृत्व का विवेचन उक्त दृष्टान्त के द्वारा तुलनामूलक रूप में करते हैं। चित्-शक्ति वह अन्तर्भूत सर्वव्यापक प्रकाश है जिसकी विद्यमानता से ही आत्मा के लिए विषयों का ज्ञान सम्भव है अर्थात् विश्व-प्रपंच की उत्पत्ति एवं उसका अस्तित्त्व जिस अनन्त शाश्वत चैतन्य सत्ता में विद्यमान है, वह सच्चिदानन्द की तादात्म्य शक्ति बाह्य व्यवहारिक अनुभवों में आत्मा के लिए अप्रकाशित रहती है। अनुभविता आत्मा एवं उसके अनुभव के सभी विषय इसी शाश्वत चित्-शक्ति में विद्यमान रहते हैं। सर्वव्यापक चित्-शक्ति से पृथक् इनके अस्तित्त्व की कोई सम्भावना नहीं होती परन्तु अज्ञानता के कारण आत्मा उसके अस्तित्त्व के बारे में सचेतन नहीं रहती। आणवाधृत आत्मा अज्ञानता के अन्धकार से आवृत्त रहती है। चित्-शक्ति के अस्तित्त्व की सर्वव्यापकता के कारण ही आत्मा में ज्ञान-प्रकाशकता स्फुरित होती है एवं अनुभव के विषय भी उद्भासित होते हैं। चित्-शक्ति वह सर्वव्यापक प्रकाश स्वरूपा है, जो पक्षपात रहित होकर सभी विषयों को प्रकाशित करती है परन्तु अज्ञानता के आवरण के कारण आत्मा उस आधारभूत सत्य के सम्यक् ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकती। श्री उमापति कहते हैं कि जैसे अनुभव की प्रक्रिया में बाह्य एवं अन्तःकरण समन्वित स्थिति में अनुभविता के रूप में प्रतिभात होते हैं एवं वास्तविक अनुभविता आत्मा अन्तर्निहित रूप में विद्यमान

रहती है उसी प्रकार विश्व-प्रपंच में अन्तर्लीन चित्-शक्ति भी गुप्त,अप्रकाशित रूप में आधारभूत रहती है। चित्-शक्ति में अवस्थित होने के कारण ही आत्मा एवं विषय सम्बन्धित होते हैं, परन्तु आत्मा उसे नहीं जानती। चित्-शक्ति स्वयं अप्रकाशित रहकर सारे विषयों को प्रकाशित करती हुई आत्मा को ज्ञान प्रदान करती है जैसा कि सूर्य का प्रकाश विषयों को उद्भासित करता है, परन्तु अनुभव कर्ता उसके अस्तित्त्व के बारे में सचेतन नहीं रहता। उक्त पद्य में श्री उमापति चित्-शक्ति की सर्वव्यापकता एवं ज्ञान के आधारभूत तत्त्व के रूप में उसकी अपरिहार्यता को प्रतिष्ठित कर रहे हैं। ईश्वर-शक्ति सर्वज्ञ है इसीलिए व्यक्ति को उसके कर्मों के अनुसार अनुभवों के रूप में फल प्रदान करती है। मलाधृत आत्मा अज्ञानता प्रसूत अनेक प्रकार के मोहाच्छन्न कर्म करती रहती है। निर्मल शिव-शक्ति आत्मा को उसके कर्मानुसार फलों को प्रदान कर क्रमशः कर्मबन्धन से मुक्त करती है। ईश्वर सर्वज्ञ है इसीलिए कर्मफलों को वही प्रदान कर सकता है।[१] अज्ञानी जीव न तो अज्ञान-प्रसूत कर्म को समझता है और न ही उसके परिणाम को। जीव को कर्म करने का अधिकार प्राप्त है फल का नहीं, फल प्रदान-कर्ता स्वयं ईश्वर है। शैव सिद्धान्त के अनुसार माया-कर्म द्वारा निर्मित जगत प्रपंच भी ईश्वर की ही देन है एवं कर्म करने का अधिकार भी ईश्वर प्रदत्त है। जीव की आध्यात्मिक यात्रा आदि से अन्त तक, शिव-शक्ति की अनुप्रेरणा से अर्थात् उसकी कृपा से ही संचालित होती है, यह निर्विवादित सत्य है। इसे ही श्री उमापति कहते हैं कि अमृत-सागर में रहनेवाली मछली, जैसे अमृत के अस्तित्त्व, माहात्म्य के विषय में अचेतन रहती है उसी प्रकार सच्चिदानन्द के चैतन्य प्रकाश में अवस्थित जीव उसके अस्तित्त्व एवं स्वरूप के बारे में अनभिज्ञ रहता है।[२] निःसन्देह रूप से यह सत्य है कि सच्चिदानन्द चित् प्रकाश में विद्यमान रहने के कारण ही जीव ज्ञान को प्राप्त करता है। सर्वज्ञ ईश्वर आत्मा को उसके कर्मानुसार फल प्रदान करता हुआ क्रमशः आध्यात्मिक प्रगति की ओर प्रेरित करता है जिसे मलावृत्त आत्मा नहीं जानती।

पद नं. ६८—ज्ञान का स्वरूप

भावानुवाद

उसे (आत्मा को) कोई विषय दिखाया नहीं जा सकता, वह देख भी नहीं सकती। जब उसके साथ सब तत्त्वों का सम्बन्ध रहता है तब वह स्वरूप को देख नहीं पाती। पहले किए गए तप के अनुसार कृपा रूपी आचार्य जीव की सहायता के लिए आते हैं जो सब पाशों को दूर करते हुए उस पायल के ध्वनि तक पहुँचने में सहायता प्रदान करते हैं।

---

१. भगवद्गीता II,

२. तिरूवरूटपेयन

उक्त पद में श्री उमापति आत्मा की तीन अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। अनादिकाल से आत्मा आणवाधृत होने के कारण अज्ञान स्थिति में जड़वत् पड़ी रहती है। यह प्राक् सृष्टि की अवस्था है, जिसमें आत्मा के साथ माया एवं कर्म की कोई सम्बद्धता नहीं रहती। इसे 'केवलावस्था' कहते हैं। माया-कर्म का संयोग न होने के कारण आत्मा को कोई उपभोग्य विषय एवं उपभोग के साधन प्राप्त नहीं होते हैं, अस्तु अणवाधृत होने के कारण आत्मा अज्ञान में रहती है अत: इस स्थिति में उसे न तो कोई ज्ञान रहता है और न ही ज्ञेयता। आत्मा सम्पूर्ण अज्ञान एवं निष्क्रिय स्थिति में रहती है। इस अज्ञान निष्क्रिय अन्धकारमय स्थिति से ईश्वर आत्मा का उद्धार करता है। ईश्वर परम दयालु है उसकी स्वतः स्फूर्त दया से सृष्टि होती है। सृष्टि में आत्मा को माया एवं कर्म ईश्वर द्वारा प्रदत्त होते हैं। सृष्टि आत्मा के लिए वह साधन है जिसके माध्यम से आत्मा क्रमशः अज्ञानता के आवरण को शिथिल बनाती है। चित्-शक्ति की प्रेरणा से आत्मा को माया तत्त्व से तनु, करण, भुवन एवं भोग प्राप्त होते हैं एवं कर्म से संयुक्त होकर आत्मा इन विषयों को ज्ञान के साधन एवं ज्ञेय के रूप में अपनाती है। आत्मा की यह प्रक्रिया चित्-शक्ति से संचालित होती है, क्योंकि मलावृत्त आत्मा स्वयं ज्ञान के संदर्भ में कोई प्रयास करने में असमर्थ रहती है। चित्-शक्ति ही वह एकमात्र प्रेरक तत्त्व है जिसके संचालन में आत्मा में एवं बाह्य विषयों में प्रकाशकत्व उत्पन्न होता है। चित्-शक्ति के ही ज्ञान रूप में अन्तर्लीन एवं समवेत होने के कारण ज्ञाता एवं ज्ञेय सभी उद्भासित् होते हैं। आत्मा की इस स्थिति को 'सकलावस्था' कहते हैं जिसमें आत्मा तीनों पाशों से (आणव, माया एवं कर्म) आबद्ध रहती है, परन्तु ईश्वर की कृपा से अनुभवों को भी प्राप्त करती रहती है। यद्यपि ये अनुभव सत्य-ज्ञान नहीं है परन्तु सत्य की ओर उन्मुख होने की प्रक्रिया है। चित्-शक्ति के इस कार्य को तिरोधान कहते है जो वास्तव में 'कण्टकम् कण्टकेनैव' है। जैसे—वस्त्र को साफ करने के लिए रजक दूसरे मैल का प्रयोग करता है एवं अन्त में सभी मैलों को धोकर वस्त्र को परिष्कृत कर देता है, उसी प्रकार से ईश्वर-शक्ति माया-कर्म इत्यादि से आत्मा को सम्बद्ध करती हुई विषय ज्ञान को प्रदान करती है। यह विषय ज्ञान स्वरूपतः पाश-ज्ञान ही है इसलिए इससे कदापि अज्ञानता का अन्धकार दूर नहीं हो सकता। अज्ञानान्धकार तो मात्र चित्-शक्ति के ज्ञान-प्रकाश से ही दूर हो सकता है परन्तु फिर भी सकलावस्था में चूँकि अन्तर्लीन गुप्त चित्-शक्ति की प्रेरणा एवं संचालन से ही सभी विषय परिचालित होते हैं, इसलिए आत्मा के लिए वह अपरोक्ष रूप से शुभ, उपकारी, मंगलकारी होते हैं। आत्मा विषयों के उपभोग से उनकी निःस्सारता का अनुभव करती हुई सत्य, शाश्वत एवं आनन्द का अनुसंधान निरन्तर व्याकुल हृदय से करती है। आत्मा की इस व्याकुलता से परम कृपालु ईश्वर आत्मा को सत्य ज्ञान प्रदान करने के लिए गुरु रूप में आविर्भूत होता है। सर्वज्ञानी ईश्वर आत्मा को उसके कर्मानुसार फल प्रदान करता है। आत्मा अज्ञानता के

अन्धकार में डूबे रहने के कारण उस प्रकाश को जान नहीं पाती। ईश्वर आत्मा को एक ओर माया कर्म-रूपी पाशों को प्रदान करता है दूसरी ओर अन्तर्लीन होकर विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न करते हुए सत्य-ज्ञान की ओर प्रेरित करता है। ईश्वर का यह कार्य अप्रकाशित कृपा-शक्ति प्रणोदित है, जिसे 'तिरोधान' शक्ति कहते हैं। तिरोधान शक्ति ईश्वर कृपा का वह रूप है, जो अपने को अप्रकाशित रखती हुई आत्मा के उपकार के लिए सतत् विद्यमान रहती है। तिरोधान शक्ति की प्रेरणा से ही आत्मा का पाश-बन्धन शिथिल हो जाता है एवं आणवमल भी परिपक्व हो जाता है। आत्मा सत्य ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उन्मुख हो जाती है तब चित्-शक्ति अपने स्वरूप को प्रकाशित करती है, जिससे आत्मा सत्य ज्ञान को प्राप्त ईश्वरानन्द में निमज्जित हो जाती है। चित्-शक्ति का यह आत्म प्रकाशन ही आत्मा के प्रति ईश्वर का परम अनुग्रह है। सकलावस्था में आत्मा को सत्य ज्ञान के योग्य बनाने के लिए ही शिव-शक्ति अपने को आच्छादित करती हुई अन्तर्लीन रहती है यही तिरोधान शक्ति उपयुक्त समय में अर्थात् आत्मा को सत्य ज्ञान प्राप्त करने की स्थिति में लाकर अपने स्वरूप को प्रकाशित करती है। यह आत्मा की शुद्धावस्था है जिसमें आत्मा सभी पाश बन्धनों से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से उस परम स्वातन्त्र्य में निमज्जित हो जाती है। श्री उमापति इसी परम स्थिति के सन्दर्भ में कहते हैं कि केवल गुरु ही उसे परम पद तक पहुँचा सकता है। गुरु कृपा से ही उस सच्चिदानन्द की पायल की ध्वनि सुनाई पड़ती है। गुरु के रूप में शिव-शक्ति ही आत्मा को शिवानन्द प्रदान करती है अर्थात् ईश्वर ही ईश्वरत्व को प्रदान कर सकता है। परम कृपालु ईश्वर आत्मा को केवलावस्था से, अज्ञानता के अन्धकार से उद्धार करके सच्चिदानन्द ज्ञान प्रकाश में अवस्थित कर देता है। आत्मा के प्रति ईश्वर की यह कृपा अतुलनीय एवं अवर्णनीय है। कृपा ईश्वर का स्वरूप है। सर्वव्यापक ईश्वर-सत्ता ही सर्वव्यापी कृपा है।

पद नं. ६९

भावानुवाद

स्फटिक जैसे सूर्य से किरणों को (अपनी ओर) आकर्षित करता है एवं अनेक रंगों को प्रतिबिंबित करते हुए उन्हें स्वरूप प्रदान करता है, वैसे ही उज्ज्वल प्रकाश में जगत् प्रपंच एवं पाश संबंधित होते हुए कृपा से संयुक्त होकर क्रियाशील होते हैं। कृपा के कारण ही पाश संयुक्त नहीं हो सकता। वही कृपा-ज्ञान ही सत्य ज्ञान है—ज्ञानी व्यक्तियों का ऐसा कहना है।

उक्त पद में श्री उमापति ईश्वर की कृपा एवं विभिन्न अवस्थाओं में आत्मा के ऊपर उस सच्चिदानन्द की कृपा-शक्ति के प्रभाव के बारे में वर्णन करते हुए कहते हैं कि सूर्य

की किरण की तरह ईश्वर की कृपा सर्वव्यापक, सार्वभौम, सामान्य रूप से सभी विषयों के ऊपर होती है। उसमें कोई पक्षपातित्त्व नहीं रहता परन्तु विषय अपनी आन्तरिक स्थिति की भिन्नता के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित होते हैं जैसे सूर्य का प्रकाश सब विषयों के ऊपर समान रूप से पड़ने पर भी कमल का फूल ही खिलता है, दूसरे फूल नहीं। पात्रता के अनुसार ही किसी भी विषय को ग्रहण करने की क्षमता होती है। उक्त पद में श्री उमापति स्फटिक के साथ आत्मा की तुलना करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार स्फटिक सूर्य के प्रकाश को अपने में प्रतिबिम्बित करता हुआ विभिन्न रंगों को धारण करता है एवं सूर्य की भाँति प्रकाशमान भी प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्मा सर्वव्यापक चित्-शक्ति के चैतन्य प्रकाश को अपने में प्रतिबिम्बित करती हुई विभिन्न रंगों को धारण करती है। अर्थात् चित्-शक्ति के ज्ञान-प्रकाश से अनेक रूपों में प्रकाशित होती है एवं विभिन्न अनुभवों को प्राप्त करती है। चूँकि आत्मा ज्ञान सत्ता है इसीलिए चित्-शक्ति को वह अपने में स्फटिक की तरह प्रतिबिम्बित कर लेती है। केवल यही नहीं चित्-शक्ति के प्रकाश में प्रकाशित अन्य सभी बाह्य विषयों के अनुभवों को भी प्राप्त करती है। सकलावस्था में आत्मा जैसे माया-कर्म से सम्बद्ध रहती है उसी प्रकार से वह चित्-शक्ति में भी विद्यमान रहती है। चित्-शक्ति से संयुक्त होने के कारण ही वह अज्ञानता के अन्धकार को भेद करती हुई तत्त्व ज्ञान की ओर उन्मुख हो सकती है एवं अन्ततः तत्त्व ज्ञान को प्राप्त भी करती है। माया कर्म के रूप में ईश्वर ने ही आत्मा को तनु, करण, भुवन, भोग प्रदान किये हैं परन्तु पाश रूप होने के कारण माया-कर्म इनके तत्त्व-ज्ञान के उत्पन्न होने में बाधक तत्त्व होते हैं। जब तक आत्मा का माया-कर्म से सम्बन्ध रहता है तब तक सत्य-ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। आत्मा की क्रियाशीलता एवं ज्ञान चित्-शक्ति के ऊपर ही निर्भरशील है। आणवाधृत आत्मा अचेतनवत् रहती है, चित्-शक्ति की प्रेरणा से ही वह सक्रिय एवं ज्ञाता बनती है परन्तु पाश बद्ध होने के कारण उसे इसका बोध नहीं होता। आत्मा के प्रति ईश्वर की यह लीला 'तिरोधायी' कहलाती है, जिसमें ईश्वर प्रच्छन्न तथा अव्यक्त रूप से आत्मा के लिए सभी प्रकार के अनुभवों की पृष्ठ-भूमि अर्थात् आधार रूप में विद्यमान रहता है। चित्-शक्ति की यह अप्रकाशित मौन विद्यमानता, आत्मा के प्रति ईश्वर की अहैतुकी कृपा का निदर्शन है। यही कृपा-शक्ति जब आत्म-प्रकाश करती है उसे अनुग्रह कहा जाता है क्योंकि यह कृपाशक्ति की व्यक्तावस्था होती है। तिरोधान शक्ति की प्रक्रिया से आत्मा में अनुग्रह शक्ति को धारण करने की क्षमता का विकास होता है, जिसे आत्मा की शुद्धावस्था कहते हैं अर्थात् आत्मा माया-कर्म की आपेक्षिकता से मुक्त होकर आणव प्रसूत अज्ञानता के बन्धन को भी शिथिल बनाती है। वास्तव में यह कर्म, चित्-शक्ति की अनुकूलता से ही सम्पादित हो सकता है। यही अव्यक्त एवं व्यक्त दोनों भूमिकाओं में उससे उपकृत होती है। आत्मा के प्रति ईश्वर का यह उपकार स्वतः स्फूर्त एवं स्वाभाविक है क्योंकि ईश्वर प्रेम-स्वरूप है। सूर्य एवं सूर्य की किरणों की तरह ईश्वर प्रेम स्वरूप एवं

प्रेममय है अतः उसका स्वाभाविक प्रकाशन ही आत्मा के लिए परम प्रेय की प्राप्ति है, अन्तर केवल यह है कि पाश बद्ध स्थिति में आत्मा इस परम प्रेय की सर्वव्यापकता के वारे में अनजान रहती है जबकि शुद्धावस्था में वही सर्वव्यापक चैतन्य सत्ता के रूप में प्रकाशमान होता है। सकलावस्था एवं शुद्धावस्था दोनों स्थितियों में ही आत्मा ईश्वर-चैतन्य-प्रकाश में ही विद्यमान रहती है केवल इसके ज्ञात होने अथवा न होने का अन्तर ही रहता है। पाश वन्धन शिथिल हो जाने पर मलावरण के परिपक्व हो जाने पर, चैतन्य-सत्ता के प्रकाश से अज्ञानता का घना अन्धकार क्षणभर में तिरोहित हो जाता है एवं आत्मा तत्क्षण अपने को तथा अन्यान्य सभी विषयों को एकात्मरूप से चित्-शक्ति में विद्यमान होने का अनुभव करती है और यही 'सर्वम् खलु इदं ब्रह्म' की स्थिति है। सूर्य का प्रकाश सीधे पड़ने से जैसे वस्तु विना किसी प्रतिबिम्व के स्पष्ट एवं सम्पूर्णता में प्रकाशित होती है वैसे ही कृपा-शक्ति की व्यक्तावस्था में आत्मा अनावृत्त रूप में स्व स्वरूप-स्थिति को प्राप्त करती है। जव तक पाश से सम्वद्ध रहती है, तब तक कृपा-शक्ति क्रियाशील रहने पर भी अप्रकाशित रहती है परन्तु बुद्धावस्था एवं शुद्धावस्था दोनों स्थितियों में आत्मा पूर्णतः ईश्वर की कृपा शक्ति में ही विद्यमान रहती है। सकलावस्था में प्राप्त माया कर्म से उत्पन्न तनु, करण, भुवन, भोग इत्यादि भी आत्मा को पाश मुक्त करने के लिए ईश्वर द्वारा ही प्रदत्त एवं संचालित होते हैं अतः दोनों स्थितियों में आत्मा कृपाशक्ति में ही निमज्जित रहती है एवं उसी के कारण अज्ञानता के बंधन से मुक्त होकर स्वरूप-स्थिति को प्राप्त हो सकती है। कृपाशक्ति ही वह सत्य साधन है जो आत्मा को सत्य-साध्य तक पहुँचाती है। कृपा-शक्ति की उपरोक्त दो भूमिकायें ही आत्मा के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। तिरोधान शक्ति के संचालन से सकलावस्था की परिपक्वता के कारण ही अनुग्रह शक्ति की आविर्भावजनित शुद्धावस्था एवं सत्य ज्ञान की प्राप्ति होती है, अर्थात् परम प्राप्ति एवं उसकी प्रस्तुति दोनों ही शिव-शक्ति की देन है इसीलिए महान व्यक्तियों ने कहा है कि उस परमतत्त्व को प्राप्त करने की वही एकमात्र साधन है। ज्ञान ही साधन एवं साध्य दोनों है। चित्-शक्ति ज्ञान रूपिणी है, वही वाहक एवं धारक है। उसके बिना कोई उसे (ईश्वर को) प्राप्त नहीं कर सकता। चित्-शक्ति का ईश्वर से तादात्म्य है, इसीलिए वह चित्-शक्ति हर स्थिति में आत्मा की परम प्राप्ति के लिए उपकारिणी है, एवं एकमात्र साधना है।

पद नं. ७०

भावानुवाद

माया, महामाया (शुद्ध माया) एवं मायेय इत्यादि आत्मा से संबंधित होकर उसके कर्म के अनुसार पाप, पुण्य को वढ़ाते हैं। जब आणव मल की वृद्धि होती है तब आत्मा

कुछ ज्ञान प्राप्त किए बिना अन्धकार में रहती है। पुनः माया महामाया एवं मायेय जब कृपा से युक्त होकर आत्मा से संबंधित होते हैं एवं उसके दोनों कर्मों (पाप-पुण्य) के फल को प्रदान करते हैं तब आत्मा प्रकाश (कृपारूप) के साथ एकीभूत होकर विद्यमान रहती है।

सकलावस्था में आत्मा माया-तत्त्व एवं कर्म से संयुक्त रहती है जैसा पहले बताया गया है कि अनादि काल से आणवाधृत आत्मा अज्ञानता के अन्धकार में डुबी हुई रहती है उसकी यह स्थिति आच्छादित अचेतनवत् एवं अज्ञान-जनित है। आत्मा इस स्थिति में रहने के कारण स्वतः अपने प्रयास से मुक्त नहीं हो सकती। इस जड़वत् स्थिति से चैतन्य सत्ता आत्मा को मुक्त करने के लिए ही शिव-शक्ति माया रूपी उपादान से विश्व की सृष्टि करती है। माया-तत्त्व तीन स्तरों में प्रकाशित होते हैं। महामाया, अर्थात् शुद्ध-माया, स्वयं ईश्वर इसके संचालक हैं। यह आत्मा के लिए शुद्धावस्था उत्पन्न करती है, अर्थात् आत्मा जब शुद्धावस्था में आती है तब वह क्रमशः अशुद्ध तत्त्वों से मुक्त होकर शुद्ध-माया तत्त्व से संयुक्त होती हैं। सृष्टि प्रक्रिया में माया का यह प्रथम प्रकाशन या प्रथम स्तर है। दूसरे स्तर में माया शुद्धाशुद्ध रूप में प्रकाशित होती है जिससे कलादि छः तत्त्व उत्पन्न होते हैं। ये तत्त्व देहस्थ आत्मा से संयुक्त रहते हैं तदनन्तर प्रकृति माया से पचीस तत्त्व उत्पन्न होते हैं जो माया तत्त्व के स्थूल अर्थात् अशुद्ध मिश्रित प्रकाशन हैं। शुद्ध माया के पाँच तत्त्व शुद्धाशुद्ध माया के छः तत्त्व एवं प्रकृति माया के पचीस तत्त्व कुल मिलाकर ये छत्तीस तत्त्व सृष्टि के रूप में माया के ही प्रकाशन है। शुद्धाशुद्ध माया से उत्पन्न तत्त्वों को मायेय कहा जाता है आणवमल की अज्ञानता से असंख्य जटिलताएँ एवं अज्ञानता जनित बन्धन उत्पन्न होते हैं। आत्मा इन बन्धन, पाशों से आबद्ध होकर विभिन्न प्रकार की वृत्तियों से उत्पन्न अच्छे एवं बुरे कर्मों को सम्पादित करती है। आत्मा के द्वारा किये गये उन कर्मों के अनुकूल परिणाम को प्राप्त करने के लिए आत्मा उपरोक्त विभिन्न तत्त्वों से समन्वित होकर तदनुकूल शुभ एवं अशुभ फल को प्राप्त करती है। अच्छे कर्मों के परिणामस्वरूप शुद्ध-माया तत्त्वों से संयुक्त होकर शुद्ध फल को प्राप्त करती है। इसके विपरीत बुरी प्रवृत्तियों से प्रेरित होने पर अशुभ परिणाम को प्राप्त करती है। कर्म के अनुसार ही आत्मा तदनुकूल माया-तत्त्व से संयुक्त होती है। आत्मा की सृष्टि प्रक्रिया के माध्यम से माया, महामाया एवं मायेय से सम्बन्धित होना ईश्वरीय कृपा का ही परिणाम है क्योंकि आणवाधृत आत्मा अज्ञानता के आवरण में सम्पूर्ण रूप से आवरित रहती है, उसे किसी प्रकार का बोध अथवा अनुभव नहीं रहता। इस अचेतनवत् स्थिति में यदि चित्-शक्ति की कृपा नहीं होती तो आत्मा के लिए उद्धार पाना कभी सम्भव न होता। चित्-शक्ति ही अन्तःप्रेरणा के रूप में सभी तत्त्वों में सर्वव्यापक अन्तर्यामी तत्त्व के रूप में समवेत होकर मायारूपी उपादान के द्वारा सृष्टि करती है। सृष्टि के माध्यम से आत्मा को विभिन्न विषयों का अनुभव प्रदान करना एवं क्रमशः सम्यक्-ज्ञान को उत्पन्न करते हुए आत्मा को शाश्वत सत्य की ओर प्रेरित करना ही सृष्टि का उद्देश्य है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि सोद्देश्य

अर्थात् तात्पर्य पूर्ण है। सृष्टि के अनुभवों के उपरान्त बन्धन मुक्त होना ही परम लक्ष्य है, यद्यपि माया एवं कर्म पाश रूप हैं परन्तु चित्-शक्ति के द्वारा अनुप्राणित होने के कारण इसमें प्रकाश तत्त्व का आविर्भाव होता है। चित्-शक्ति ही विषयों में अनुस्यूत होकर उन्हें प्रकाशित करती है। यही चित्-शक्ति पुनः आत्मा में अनुस्यूत होकर उसमें ज्ञातृत्व प्रदान करती है एवं आत्मा चित्-शक्ति से ही संयुक्त होकर मलावरण को भेद करती हुई ज्ञानात्मक अनुभव को प्राप्त करती है अर्थात् सकलावस्था में आत्मा एक ओर पाशरूपी माया-कर्म से संयुक्त रहती है और दूसरी ओर चित्-शक्ति से भी समन्वित रहती है। वास्तव में ये दोनों संयोजन ही ईश्वर कृपा के प्रकाशन हैं। ईश्वर कृपा से ही आणवाधृत आत्मा सृष्टि प्रक्रिया में आध्यात्मिक प्रगति के लिए माया-कर्म से संयुक्त होकर अवस्थित रहती है एवं ईश्वर कृपा के आविर्भाव से ही आत्मा इन अचेतन निःस्सार पाशरूपी तत्त्वों से परे सत्य ज्ञान की स्थिति को प्राप्त करती है। माया एवं मायेय चित्-शक्ति द्वारा प्रदत्त होने के कारण अन्ततः आत्मा के लिए शुभ फलदायक होते हैं। चित्-शक्ति ही माया एवं मायेय की संचालिका शक्ति है। यही कारण है कि अन्तर्लीन चित्-शक्ति की प्रेरणा से आत्मा सत्य ज्ञान की ओर अग्रसर होती है। अज्ञानता का अन्धकार दूर होकर क्रमशः सत्यज्ञान उद्भासित होता है अतः आत्मा सदैव ही वद्धावस्था एवं शुद्धावस्था दोनों स्थितियों में चित्-शक्ति से संयुक्त रहती है। आत्मा के प्रति यही ईश्वर की कृपा है जो सदा वर्षित हो रही है। वास्तव में आत्मा ईश्वर कृपा में ही विद्यमान रहती है, जिसे अज्ञान-स्थिति में वह अनुभव नहीं करती एवं ज्ञान उद्भासित होने पर उस अनन्त कृपा की चेतना को प्राप्त करती है। सकलावस्था एवं शुद्धावस्था अर्थात् बद्धावस्था एवं मुक्तावस्था दोनों ही, शैव-सिद्धान्त के अनुसार कृपा-शक्ति में विद्यमान होने की स्थिति है। केवल वद्धावस्था में इस कृपाशक्ति का कोई बोध नहीं रहता जबकि शुद्धावस्था में अज्ञानता दूर हो जाने के कारण आत्मा कृपा-शक्ति की सचेतनता को प्राप्त करती है। ज्ञान प्रकाश के रूप में उद्भासित होता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार सकलावस्था में पाप-पुण्य जनित कर्मों के परिणाम को ईश्वर ही प्रदान करता है, जो पुनः उसकी कृपा की ही अभिव्यक्ति है, क्योंकि कर्मफलानुसार अनुभवों को प्राप्त करते हुए आत्मा में मल-परिपाक की स्थिति उत्पन्न होती है एवं तभी आकस्मिक शक्ति–निपात से अज्ञानता का आवरण सदा के लिये दूर होकर सत्यज्ञान उद्भासित होता है। वास्तव में आत्मा बन्धन एवं मोक्ष दोनों स्थितियों मे कृपा-शक्ति में ही विद्यमान रहती है। बन्धन की स्थिति में वह इसके बारे में अज्ञ रहती है, जबकि मोक्ष में पूर्ण-ज्ञान से समन्वित रहती है। कृपा-शक्ति की अज्ञता ही वन्धन है एवं कृपा-शक्ति का ज्ञान ही मोक्ष एवं सर्वव्यापकता रूपी ज्ञान है। अतः शैव-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा सदा कृपा-शक्ति में ही निमज्जित रहती है, जिसे अनुभव न कर पाने एवं कर पाने की अवस्था ही क्रमशः बद्धावस्था एवं मुक्तावस्था है।

पद नं. ७१–सत्य ज्ञान का फल

भावानुवाद

आत्मदर्शन, आत्मश्रुति एवं निर्दोष आत्मलाभ के स्वरूप के दर्शन के लिए तीनों मलों को निवृत्त करना आवश्यक है। ज्ञान को प्राप्त करना कर्मों का अन्त करना एवं निर्दोष होकर शिव-कृपा में डूब जाना यही सत्य है, इसी सत्य में सब कुछ निहित है।

पद नं. ७२

भावानुवाद

आत्मा स्वत: विषयों को जान नहीं सकती क्योंकि उसका ध्यान विभिन्न विषयों के उपभोग में दौड़ता रहता है, जब उसे यह ज्ञात होता है कि उसका मार्ग कृपा से प्रभावित ज्ञान-मार्ग है तब वह उसके स्वरूप को समझती है एवं ईश्वर-कृपा को प्राप्त करती है। जब वह उससे (कृपा से) संयुक्त होती है तब वह सब विषयों को उसी दृष्टिकोण से देखती है।

शैव-सिद्धान्त धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण से ज्ञान केन्द्रित है। "ज्ञानेत्येव कैवल्यम् ज्ञानेनैव तु कैवल्य प्राप्तिः तत्र न संशयः।"[१] उक्त श्रुतिज्ञान के अनुसार सत्यज्ञान अर्थात् शिवज्ञान-पति ज्ञान ही अन्तिम लक्ष्य एवं बन्धनातीत मोक्षावस्था है। आध्यात्मिक ज्ञान वह अनुभव है जो विभिन्न स्तरों से, पर्यायों से होता हुआ सत्य तक पहुँचता है। ज्ञान के ये विभिन्न स्तर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से, व्यवहारिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रगति करने के विभिन्न क्रम हैं। ज्ञान, जो कि अनुभव का विषय है, बौद्धिकता से भिन्न साक्षात् रूप से प्राप्त किया जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान तात्कालिक सहज रूप से प्राप्त करने का विषय है। ज्ञान में अव्यक्त व्यक्त हो जाता है, अज्ञात ज्ञात हो जाता है। माया उस साक्षात् अनुभव का वर्णन करने का प्रयत्न करती है परन्तु सत्य अनिर्वचनीय है इसलिए उसकी व्याख्या करना सम्भव नहीं। केवल आनुभविक स्थिति में स्थूल से सूक्ष्म एवं तदनन्तर सीधा, सरल, माध्यम-रहित एवं साक्षात-अनुभव की स्थिति को प्राप्त करना ही आध्यात्मिक उपलब्धि है। जैसे आकाश में उदित चन्द्रमा यदि प्रतिपदा या द्वितीया तिथि की तरह पतली रेखा में होता है तब देखते समय वह क्रमश: पेड़ की डाल, पत्तियाँ इत्यादि के बाद ही ध्यान देने से दृष्टिगोचर होता है। उसी प्रकार ज्ञान यदि सूक्ष्म रश्मि के रूप में आविर्भूत् होता है तब चेतना अन्य सब विषयों से पृथक होती हुई क्रमश: उसकी ओर केन्द्रित होती है। चेतना के केन्द्रीकरण से ज्ञान क्रमश: पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह व्यापक

---

१. सुप्रभेद आगम, ज्ञानपाद, शिव-सृष्टि-विधि पटल ५

से व्यापकतर होता जाता है। ज्ञान-प्रकाश की क्रमशः अभिव्यक्ति को ही आध्यात्मिक स्तर के रूप में समझा जाना चाहिए। अनुभव की स्थूलावस्था सामान्य, परम्परागत एवं क्रमशः उत्पन्न होने वाली है। दूसरी स्थिति में स्थूल से सूक्ष्मावस्था अर्थात् सामान्य से विशेष बौद्धिक चेतना का आविर्भाव है। तीसरे स्तर में ज्ञान एक सत्य, साक्षात्, स्पष्ट एवं निश्चयात्मक अनुभव के रूप में परिणत होता है। ज्ञान-मीमांसा के दृष्टिकोण से यह प्रक्रिया मिथ्या ज्ञान से अपूर्ण ज्ञान, फिर विश्लेषणात्मक-ज्ञान से सत्य ज्ञान तक पहुँचना है। ज्ञान के इन स्तरों को क्रमशः विपर्यय, संशय एवं यथार्थ कहा जा सकता है। यह विकास अन्धकार से धूमिल प्रकाशमय होता हुआ पूर्ण प्रकाश की स्थिति तक पहुँचता है। उपरोक्त दृष्टिकोण से आध्यात्मिक ज्ञान के तीन स्तर माने जा सकते हैं। प्रथम स्थिति ज्ञान का सामान्य, धूमिल, अस्पष्ट, आभासित अवस्था, जिसमें आत्मा में जगत एवं ईश्वर के समन्वयात्मक स्थिति का बोध उत्पन्न होता है। ईश्वर आत्मा का अन्तर्यामी रूप में आभासित होता है। आत्म-तत्त्व में विश्व अन्तर्भूत प्रतिभासित होता है। यह वह स्थिति है जिसमें भिन्नता में अभेद या समन्वय का बोध उत्पन्न होता है। आध्यात्मिक ज्ञान के द्वितीय स्तर में विषयी विषय से एकत्व, अभेदत्व का अनुभव करता है। चेतना, ईश्वर, आत्मा, एवं जगत की विभिन्नताओं से होती हुई क्रमशः ईश्वर-केन्द्रित हो जाती है। ज्ञान की यह स्थिति अनिश्चित, अनिर्णित 'रूप' से निश्चयात्मक अभेद की चेतना 'वह' तक जाती है अर्थात् विषय के अन्वेषण में क्या से क्रमशः विषय का बोध 'वह' तक पहुँचता है। ज्ञान की चरम एवं अन्तिम अवस्था, परम-सत्ता का अन्य सभी तत्त्वों के आधार के रूप में तथा उसकी अनन्तता की चेतना के साथ निश्चित अविरोधात्मक सर्वव्यापक चेतनता है। परमसत्ता अन्तर्यामी, विश्वव्यापी सत्ता के रूप में एवं विश्वातीत परमात्मन् दोनों एक ही तथा उसी तत्त्व के रूप में अवगत होती है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान की इन अवस्थाओं को तीन शब्दों के द्वारा अभिहित किया जा सकता है। १. रूप, २. दर्शन, ३. शुद्धि। रूप का तात्पर्य प्राथमिक परिभाषा अर्थात् विषय का लक्ष्य-ज्ञान है। इस अवस्था में ज्ञान, सामान्य दृष्टिकोण से बौद्धिक, तार्किक, विभिन्न विभाजनों के रूप में प्रकाशित होता है। दर्शन तात्त्विक दृष्टिकोण है। यह ज्ञान की तात्त्विक अथवा दार्शनिक स्थिति है, जिसमें ज्ञान, स्वतः अपनी विशिष्टता, विभिन्न अंगों एवं उच्चतर तत्त्वों के प्रति उनकी निर्भरशीलता के बारे में सचेतन हो जाता है। ज्ञान अपने उच्चतर मूल स्रोत के विषय में भी सचेत हो जाता है। सभी विरोधों में समन्वय का प्रकाश प्रतिभात होता है। समन्वय के इस अन्वेषण से ही ज्ञान की प्रेरणा क्रमशः उज्जीवित होती है। ज्ञान की यह दूसरी स्थिति अर्थात् दर्शन यद्यपि आलोचनात्मक अन्तर्निरीक्षण है, परन्तु यह एक समन्वयात्मक मूलभूत स्थिति भी है। ज्ञान की इस स्थिति में आत्मा विभिन्नताओं से संयुक्त रहती हुई भी अपने को निर्लिप्त कर लेती है एवं विषयों को सामान्य अनासक्त दृष्टिकोण से देखती है।

तृतीय स्तर में ज्ञान पूर्णता अथवा सिद्धि की स्थिति में पहुँचता है, जिससे ज्ञान अविकृत, अविमिश्र शुद्ध स्थिति में हो जाता है। ज्ञान में विद्यमान असंगति ही वह बाधक तत्त्व है जिससे ज्ञान मिश्रित, अशुद्ध, सापेक्ष एवं संकीर्ण हो जाता है अत: 'शुद्धि' ज्ञान की परिष्कृत, समन्वित, अविरोधात्मक, संगतिपूर्ण, सर्वव्यापक स्थिति है, जिसमें चेतना साक्षात्, तात्कालिक, अविरोधात्मक, माध्यम-रहित साक्षातरूप ज्ञान को प्राप्त करती है।

शैव-सिद्धान्त में वर्णित तीनों तत्त्व–पति, पशु एवं पाश ज्ञान को उक्त स्थितियों में भ्रमात्मक, सन्देहास्पद एवं सत्यरूप में ज्ञात होते हैं। इन तीनों स्थितियों के विभाजन के रूप में क्रमश: हमें नौ आध्यात्मिक स्तर अथवा उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं। इन नौ स्तरों की उपलब्धि के साथ परम प्राप्ति शिव-भोग को मिलाकर शैव-सिद्धान्त में आध्यात्मिक स्तर एवं उपलब्धि की ये दस स्थितियाँ मानी गयी हैं, जिसे "दश कार्याणि" कहते हैं। यह "दश कार्याणि" आध्यात्मिक जीवन की परम प्राप्ति की साधन प्रणाली, तथ्य उपलब्धि दोनों है। इस साधन प्रणाली एवं उपलब्धि में तृण से ईश्वर तत्त्व तक आत्मा के अनुभव एवं समन्वय के विषय माने गये हैं। तत्त्वों के एक छोर से दूसरे छोर तक समन्वय, समता, एकत्व एवं अनन्यत्व का अनुभव करना ही उक्त दस साधन प्रणालियों का तात्पर्य एवं उनकी उपलब्धि है। शिव भोग ही अर्थात् सच्चिदानन्द के आनन्द में ही निमज्जित होना परम प्राप्ति है। बहुतत्त्ववाद में प्रत्येक द्रव्य एक दूसरे से पृथक रूप में अस्तित्ववान एवं ज्ञातृत्ववान होते हैं। वे एक दूसरे से स्वतंत्र रूप से क्रियाशील भी होते हैं। शैव-सिद्धान्त में यद्यपि कई तत्त्व माने गये हैं, परन्तु बहुतत्त्ववाद की तरह वे एक दूसरे से पृथक् रूप में न तो अस्तित्ववान हैं और न ज्ञातव्य ही होते हैं। प्रत्येक का ज्ञान दूसरे विषयों से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित है। उक्त "दश कार्याणि" की साधन प्रणाली परस्पर एक दूसरे से घनिष्ट रूप से संबंधित है। यही कारण है कि तत्त्व रूप एवं तत्त्व दर्शन ही आत्मरूप का कारण बनता है। इस प्रकार तत्त्व शुद्धि से ही आत्म दर्शन एवं शिव रूप विकसित होता है। आत्म शुद्धि एवं शिव दर्शन एक साथ समन्वित रूप में विकसित होते हैं। नौवाँ एवं दसवाँ साधन जो आत्मशुद्धि के बाद ही प्रतिफलित होते हैं, शिव योग एवं शिव भोग कहे जाते हैं। ये परम प्राप्ति की पूर्वावस्था है। अन्तिम दसवाँ कार्य अर्थात् शिव-भोग ही परम-मुक्ति अर्थात् साध्य है, शेष नौ उसके साधन हैं। पूर्व वर्णित उक्त नौ साधन आध्यात्मिक जीवन की प्रगति को सूचित करते हैं। ये क्रमश: उच्चतर एवं गहनतर स्थितियों की शाश्वत उपलब्धि है। इन उपलब्धियों के माध्यम से साधक का आन्तरिक जीवन क्रमश: रूपान्तरित होता जाता है, जो कभी दूर आदर्श या लक्ष्य था, वह वास्तविक यथार्थ जीवन शैली के रूप में उपलब्ध होता है एवं सहज, सरल, स्वाभाविक हो जाता है। जैसे रोगी को स्वस्थ्य होने के लिये दूध दिया जाता है एवं स्वस्थ व्यक्ति भी अपने स्वास्थ्य को उत्तम तथा निरोग बनाये रखने के लिए दूध पान

करता है उसी प्रकार मोक्ष भी एक अनायास सहज रूप बनाये रखने वाला शाश्वत आध्यात्मिक मूल्य है, जिसे व्यक्ति स्वत: बनाये रखता है। पतिज्ञान जो मोक्ष का एकमात्र उपाय है, मोक्ष के साथ ही संयुक्त रूप से उत्पन्न होता है। इसकी निरन्तर स्फूर्ति से स्वत: ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। दश-कार्याणि के द्वारा रूपान्तरित विषय आत्मा है, आध्यात्मिक जीवन की प्रणाली एवं उपलब्धि दोनों ही आत्म तत्त्व के शाश्वत नित्य ज्ञान-सत्ता की अभिव्यक्ति एवं उपलब्धि हैं। यह एक आश्चर्य का विषय है कि आत्मस्वरूप का प्रकाशन एवं उसका अनुभव वास्तव में आत्मसमर्पण है। यह सीमित शुद्ध, सापेक्ष तथा स्वार्थपरक आत्मा का असीमित, निरपेक्ष, सर्वव्यापक आत्मा में समर्पण है। आत्म-ज्ञान एक ओर अन्य तत्त्वों के ज्ञान एवं दूसरी ओर ईश्वर तत्त्व के ज्ञान की सूचना देता है। वास्तव में आत्मा एवं अनात्मा की भिन्नता का ज्ञान ही क्रमश: तत्त्वज्ञान को उत्पन्न करता है। आत्मा परमात्मा की ओर जितना उन्मुख होती है, परमात्मा उतना ही अपने को प्रकाशित करता है। इससे यह प्रतिपादित होता है कि आत्म-तत्त्व में ज्ञान की अगाध गहनता की सम्भावना विद्यमान है। जैसा कि पहले सूचित किया गया है आत्मा पति एवं पाश के मध्य स्थित है अर्थात् वह एक ओर पाश एवं दूसरी ओर पति से सम्बन्धित है। इन दोनों तत्त्वों के सम्यक् स्वरूप एवं स्वयं से इनकी सम्बद्धता के ज्ञान को प्राप्त करने के सन्दर्भ में ही आत्मा का आध्यात्मिक रूपान्तरण होता है। आध्यात्मिक साधन प्रणाली का सम्पूर्ण क्षण ही आत्मा के "रूप" "दर्शन" एवं "शुद्धि" में निहित हैं। आत्मरूप, आत्म दर्शन एवं आत्मशुद्धि के माध्यम से अन्य कार्यों के अर्थ भी समुचित रूप से स्पष्ट हो जाते हैं।

आत्मरूप

वाह्य जगत एवं शिव-तत्त्व के बीच जो तात्विक अन्तर है, आत्मा के द्वारा ही उसकी पूर्ति होती है। इन दोनों का सामान्य अनुभव आत्मा ही प्राप्त करती है। आत्मा इन दोनों की दूरी को घटाती एवं दोनों के मध्य एक माध्यम के रूप में विद्यमान रहती है। आत्मा ही व्यावहारिक एवं पारमार्थिक, परिवर्तनशील एवं नित्य शाश्वत ज्ञान की भिन्नता का अनुभव करती है। सत् (पति) असत् (पाश) से भिन्न है। पशु अर्थात् आत्मा ही इन दोनों को जान सकती है। अज्ञान स्थिति में आत्मा पाश-बद्ध रहकर 'असत्-रूप' में रहती है। ज्ञान की स्थिति में वह सत् में विद्यमान होकर सत् रूप हो जाती है। इसीलिए वह 'सदसत्' कहलाती है। 'सत्' एवं 'असत्' एक दूसरे को जान नहीं सकते परन्तु सदसत् रूपी आत्मा दोनों के सत्यस्वरूप को जान सकती है। ज्ञान के दृष्टिकोण से पाश ज्ञान एवं पशुज्ञान अर्थात् क्रमश: अनात्म तत्त्व एवं आत्म-तत्त्व का ज्ञान सर्व व्यापक, पतिज्ञान के ही क्रम है। सत् अखण्ड सत्ता है अत: पतिज्ञान सर्व समन्वयात्मक अखण्ड ज्ञान है। तत्त्वों

के सम्यक् अर्थात् दार्शनिक ज्ञान ही तत्त्व दर्शन है जिसमें यथार्थ एवं आभास अर्थात् सत्य एवं मिथ्या की भिन्नता का बोध उत्पन्न होता है। सम्यक् ज्ञानी सांसारिक तत्त्वों को जड़ एवं अचेतन के रूप में देखता है। शिव-तत्त्वों को शिव का स्वतंत्राधिष्ठान माना जाता है एवं इसीलिए वे चेतन कहे जाते हैं। उसी प्रकार पुरूष तत्त्व को आत्मा से सम्बद्ध होने के कारण चिदचित् माना जाता है। वास्तव में माया प्रसूत होने के कारण ये सभी तत्त्व अचेतन हैं। 'पाश-ज्ञान' को भी शाब्दिक दृष्टिकोण से समझना नहीं चाहिए।

पाश ज्ञान का तात्पर्य, आत्म-तत्त्व का पाश-तत्त्व के सन्दर्भ में सम्यक् ज्ञान है। अत: आत्म-तत्त्व पाश एवं पति से भिन्न होते हुए भी इन दोनों से सम्बद्ध होकर दोनों के तत्त्व स्वरूप को जान सकता है। पाश से सम्बद्ध होकर पाश तत्त्व का ज्ञान, पुनः पति से अनन्य रूप से सम्बद्ध होकर 'पति-ज्ञान' को प्राप्त करता है। अत: आत्म तत्त्व स्वतन्त्र रूप से ज्ञात नहीं होता। वह या तो पाश, नहीं तो पति से सम्बद्ध रूप में ही ज्ञात होता है। इसीलिए सदसत् रूप में अभिहित होता है। अत: आत्म-तत्त्व वह है जो प्रमातृ के रूप में तत्त्व ज्ञान को प्राप्त करता है। माध्यम अर्थात् उपदेशिन के द्वारा ज्ञान को प्राप्त करता है। विषयों से 'तद्भावभावितं' के रूप में ज्ञान प्राप्त करता है। पति एवं पाश कोई भी प्रमातृ नहीं हो सकते वे प्रमेय हैं। पति सूक्ष्मचित् है, जबकि पशु स्थूल चित् होने के कारण उपदेशिन् की सहायता से ज्ञान प्राप्त करता है पति विषय-विषयी-रूपी मनुष्य के बिना, उपदेशिन् के बिना स्वयं प्रकाशमान 'उपदेष्ट्रि' के रूप में ज्ञान प्राप्त करता है। आत्म-तत्त्व या तो सत् अन्यथा असत् से संयुक्त होने के कारण, सदसत् कहलाता है और इसीलिए अनुभविता के रूप में अनुभव को प्राप्त करता है। प्रमातृ होने के कारण वह ज्ञान के क्रमिक-विकास को प्राप्त करता है। आध्यात्मिक परिपक्वता के अनुसार ही ज्ञान विकसित अथवा प्रकाशित होता है। जब तक पशुत्व अर्थात् पाश से सम्बद्धता रहती है तब-तक आत्मतत्त्व की साधन प्रणाली चलती रहती है। इन साधन प्रणालियों में शिव-शक्ति के सक्रिय सहयोग से निदिध्यासन क्रमशः शिवयोग एवं पूर्णतः शिवभोग में रूपान्तरित होता है।

आत्मदर्शन

शैव-सिद्धान्त की धार्मिक अथवा आध्यात्मिक उपलब्धि ज्ञान है। साधन प्रणाली का निर्णय करने से पहले साध्य सुनिश्चित करना आवश्यक है और यह भी विवेचना का विषय है कि उक्त साध्य को प्राप्त करने के लिए निश्चित साधन प्रणाली कहाँ तक समर्थ है। प्रत्येक आध्यात्मिक अन्वेषण की प्रक्रिया के साध्य एवं साधन की संगति आवश्यक है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान ही साध्य है अत: इसकी साधन पद्धति ज्ञान-मार्गी है। ज्ञान ही सन्मार्ग है। अन्य सभी साधन हमें ज्ञान की ओर ही प्रेरित करते हैं। ज्ञान ही मोक्ष

का स्वरूप है। कर्म, भक्ति, दीक्षा इत्यादि सभी ज्ञान के सहायक के रूप में कार्य करते हैं। जो ज्ञान के अनुकूल नहीं है, अज्ञानता अर्थात् बन्धन है। ईश्वर द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही पति ज्ञान है अतः पाश-ज्ञान एवं 'पशुज्ञान' बन्धन सम्बन्धित ज्ञान हैं। आत्म ज्ञान का ज्ञान वास्तव में मोक्ष-ज्ञान नहीं है अतः वह सत्य-ज्ञान की कोटि में नहीं आ सकता वरन् अज्ञानता के ही प्रकार भेद है। इस सन्दर्भ में शैव-सिद्धान्त स्पष्टतः वैदान्तिक दृष्टिकोण को अपनाते हुए वेदान्त-दर्शन में प्रयुक्त प्रसिद्ध दृष्टान्त का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग करता है। किसी कारणवश जब राजपुत्र का पालन गड़ेरिया के द्वारा होता है एवं राजपुत्र अपने वास्तविक परिचय को न जानने के कारण अपने को गड़ेरिया ही समझता है, तब राजा उस समय की प्रतीक्षा में रहता है, जब राजपुत्र पूर्ण वयस्क एवं परिपक्व होने पर अपने मूल परिचय को प्राप्त करते हुए उसे स्वीकार करने में समर्थ होता है। उपयुक्त समय में राजा अपने पुत्र को उसका सत्य परिचय प्रदान कर उसे अपना लेता है। उसी प्रकार अनादि काल से आणवाधृत होने के कारण आत्मा को अपने सत्य-स्वरूप को विस्मृत हो जाती है। ईश्वर माया, कर्म इत्यादि विभिन्न साधनों से आत्मा को सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के योग्य बनाने का प्रयत्न करता है। चित्-शक्ति के रूप में ईश्वर सर्वव्यापी होकर आत्मा को क्रमशः आध्यात्मिक ज्ञान की ओर प्रेरित करता है। परिपक्व स्थिति उत्पन्न होने के कारण ईश्वर स्वतः ज्ञान का प्रकाश प्रदान करता है। आत्म-तत्त्व ईश्वर की कृपा से इन्द्रिय-गत स्थिति से चैतन्य-प्रकाश की स्थिति में अवस्थित हो जाता है। आत्मा को अपने स्वरूप का सम्यक् बोध ही आत्म-दर्शन है। सत्य-दर्शन में तत्त्वों के मूल स्वरूप का ज्ञान होता है। उसी प्रकार आत्म दर्शन में आत्मा को अपने सत्य-स्वरूप का बोध उत्पन्न होता है। आत्मा चैतन्य रूपी ज्ञान-सत्ता है। आत्म दर्शन से उसमें 'शिव-रूप' का विकास होता है। सद्गुण के रूप में साक्षात् शिव 'बोध' को उत्पन्न करता है। इस बोध की पूर्वावस्था ही आत्म-दर्शन है। स्वाभाविक रूप से यह स्पष्ट है कि आत्म-दर्शन से पहले 'तत्त्वशुद्धि' होती है, जो विभिन्न तत्त्वों के सन्दर्भ में अहंकार एवं ममकार से मुक्ति है अर्थात् आत्मा निश्चयात्मक रूप से विभिन्न तत्त्वों के सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करती है। इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि ज्ञान के माध्यम से ही सभी अशुभ का नाश एवं शुभ का अनुभव होता है। मोक्ष भ्रमात्मक स्थिति के तिरोभाव की सम्यक चेतना है। ज्ञान के आविर्भाव के रूप में यह अन्वेषण का परिणाम है। अतः आत्मदर्शन आत्मान्वेषण का उपलब्ध परिणाम है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार भक्ति भी तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त करने के सन्दर्भ में एक साधन है। यह निश्चित है कि तत्त्व ज्ञान का मूल स्रोत एवं प्रदानकर्ता दोनों ही ईश्वर है। ज्ञान की अभिव्यक्ति ही पाशक्षय है अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होते ही स्वतः पाश-बन्धन का नाश हो जाता है, यह ज्ञातव्य है कि पशु-ज्ञान आत्म तत्त्व का स्वरूप-ज्ञान है, अर्थात् आत्मा एवं अनात्मा की भिन्नता का ज्ञान आत्म तत्त्व का चित्-सत्ता के रूप में ज्ञान, आत्मतत्त्व के

ज्ञान के ऊपर पड़ा हुआ आवरण का उन्मोचन है। जिससे आत्मा परम-ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ होती है।

आत्म शुद्धि

सभी प्रकार के धार्मिक आचार एवं अनुष्ठान से साधक में आध्यात्मिक परिपक्वता आती है जिससे वह शुभ एवं अशुभ इन दो कर्मों के प्रति अनासक्त हो जाता है। साधक के सांसारिक विषय एवं कर्मों के प्रति इस उदासीन निर्लिप्त भाव को 'कर्म-साम्य' कहा जाता है। इस विश्व संसार में कर्म का नियम निश्चित एवं सार्वभौम है। अच्छे कर्मों के अच्छे फल एवं बुरे कर्मों के बुरे फल उत्पन्न होते हैं। इन दोनों कर्म फलों में कोई समझौता नहीं है। अधिक मात्रा में अच्छे कर्मफल कम मात्रा में बुरे कर्मफलों को खण्डित नहीं कर सकते। इसीलिए विश्व-संसार में प्रत्येक का जीवन मिश्र-फलदायक है। विगत अच्छे कर्मों के अच्छे परिणाम, बुरे कर्मों के बुरे परिणाम प्राप्त करना ही जीवन है। जैसे पहले वर्णित है कि भूतकाल में किये गये जिन कर्मों के परिणाम वर्तमान में प्राप्त हो रहे हैं, वे प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं। प्रारब्ध कर्म के फल को ग्रहण करने के संदर्भ में पुनः जो कर्म वर्तमान में किये जाते हैं, उन्हें क्रियमाण कर्म कहते हैं। एतदतिरिक्त भूतकाल के जिन कर्मों के परिणाम अभी प्राप्त नहीं हुए हैं उन्हें संचित कर्म कहते हैं। मनुष्य का जीवन-क्रम एवं जन्म-मृत्यु इन तीनों कर्मों के पाश से आबद्ध रहता है जिसे मनुष्य को भोगना पड़ता है। कर्म का यह नियम सामान्य, सार्वभौम रूप से सबके प्रति प्रयुक्त होता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार उपरोक्त कर्म-साम्य का यह नियम अनुधावन योग्य है। कर्म-साम्य वह स्थिति है जिसमें साधक वीत राग हो जाता है। अच्छे एवं बुरे कर्म के प्रति उदासीन अनुद्विग्न-चित्त अथवा समत्व का भाव रखना ही कर्म-साम्य है। इस स्थिति में न तो पुण्य उत्पन्न होता है और न ही पाप, क्योंकि पुण्य एवं पाप रूपी परिणाम को उत्पन्न करने लायक कोई आसक्ति या कामना नहीं रहती। साधक सांसारिक शुभ एवं अशुभ रूपी सापेक्षता के प्रति उदासीन हो जाने के कारण आन्तरिक रूप से नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाता है। व्यावहारिक जीवन के प्रति इस निवृत्ति-मूलक दृष्टिकोण से ही साधक ईश्वर के प्रति उन्मुख होकर प्रेमपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करता है। मल परिपाक होने पर साधक शुभ-अशुभ जनित सापेक्षता के परे अवस्थित हो जाता है एवं भ्रमात्मक दृष्टिकोण तिरोहित हो जाने पर दोनों कर्मों के प्रति उदासीन हो जाता है। निष्काम भाव उत्पन्न होने से मन की सभी वृत्तियों का नाश हो जाता है। चित्त अनुद्विग्न, निर्विकार एवं समता की स्थिति में अवस्थित होकर शुभ अशुभ सापेक्षता के प्रति उदासीन हो जाता है। चित्त की इस स्थिति में ही कर्म-साम्य होता है जो मल परिपाक का द्योतक है। सांसारिक विषयों के प्रति निर्लिप्तता से अज्ञान का बन्धन शिथिल हो जाता है। आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए कर्म-साम्य एवं मल परिपाक आवश्यक स्थिति है। ये दोनों ही अन्योन्याश्रित रूप से एक दूसरे को प्रभावित

करते हुए क्रमशः परिपक्वता को प्राप्त होते हैं। जैसे कच्चा फल उपयुक्त समय में क्रमशः परिपक्वता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार चित्-शक्ति की अन्तःप्रेरणा से अनुभवों के माध्यम से क्रमशः कर्म-साम्य एवं मल-परिपाक की स्थिति उत्पन्न होती है तव साधक के प्रति ईश्वर की परम कृपा अनुग्रह शक्ति के रूप में स्वतः प्रकाशित होती है। तिरोधान शक्ति की सक्रियता से ही कर्म साम्य एवं मल परिपाक हो सकता है एवं तीव्र-शक्ति-निपात से वही तिरोधान शक्ति अनुग्रह शक्ति के रूप में परिवर्तित होकर सर्वव्यापक, स्वतः प्रकाशित चैतन्य सत्ता के रूप में उद्भासित हो जाती है। साधक के प्रति ईश्वर की यह परमकृपा ही सत्यज्ञानप्रकाश रूप है। कर्म-साम्य एवं मल परिपाक के होते हुए साधक शुद्धावस्था में प्रविष्ट होता है जिसमें चर्या, क्रिया एवं योगरूपी साधन प्रणाली का अन्त हो जाता है। यह स्थिति व केवलावस्था की अन्धकारमय स्थिति से सकलावस्था की धूसर प्रकाश की स्थिति से होते हुए शुद्धावस्था की प्रकाशमयता को प्राप्त करना है। शुद्धावस्था में प्रविष्ट होते ही साधक शिव-ज्ञान की स्थिति में अवस्थित हो जाता है। स्वयं शिव ही इस स्थिति में साधक को विभिन्न आध्यात्मिक उपलब्धि के रूप में शिव-ज्ञान को प्रदान करता है। यद्यपि मल एक ही है परन्तु इसकी आवरण शक्ति अनेक प्रकार की है जिसे सामान्यतः सूक्ष्म, स्थूल एवं स्थूलतर के रूप में तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। जव साधक के ऊपर मल का स्थूलतर आवरण रहता है तब ईश्वर गुरु के रूप में आविर्भूत होकर उपदेश, शास्त्र एवं अन्यान्य अनुभवों के माध्यम से ज्ञान-शक्ति संचारित करता है। प्रलयाकल की स्थिति में जब आत्मा माया तत्त्व से मुक्त होकर अपेक्षाकृत स्वतन्त्र स्थिति में रहती है ईश्वर देवी रूप में आविर्भूत होकर आत्मा में ज्ञान संचारित करता है। विज्ञान-कल की स्थिति में जब आत्मा कर्म एवं माया मल से मुक्त होकर केवल आणवाधृत स्थिति में रहती है, तब ईश्वर आत्मा में स्वतः सिद्ध ज्ञान रूप में प्रकाशित होता है अर्थात् सकलावस्था में ईश्वर गुरु-शक्ति उसमें दूध में मक्खन की तरह अन्तर्भूत रहती है। इस संदर्भ में ज्ञातव्य है कि बाह्य-इन्द्रिय ज्ञान आत्मा को कभी भी सत्य-ज्ञान प्रदान नहीं कर सकता क्योंकि स्फटिक के ऊपर रंगों के प्रतिविम्ब जैसे स्फटिक के स्वरूप को आवृत्त कर देते हैं, उसी प्रकार विभिन्न इन्द्रियों से प्राप्त अनुभव के द्वारा आत्म स्वरूप भी आवृत्त हो जाता है। अतः आवृत्त करने वाले अनुभव आत्म-ज्ञान को प्रदान नहीं कर सकता है। गुरु से ज्ञान प्राप्त करने की स्थिति में यद्यपि इन्द्रियाँ निष्क्रिय नहीं हो जाती तथापि शिव-शक्ति के आविर्भाव से इन्द्रियानुभवजन्य भ्रमात्मक ज्ञान तिरोहित हो जाता है। यही शुद्धावस्था है जिससे साधक शिव-शक्ति के प्रकाश से प्रकाशित होकर क्रमशः सांसारिक विषयों से विमुख होता जाता है। जब शुद्धावस्था में साधक इन्द्रिय जनित स्थिति से परे होकर शिव-साम्यता को प्राप्त होता है तब पुनः सकलावस्था की सापेक्षता में प्रत्यावर्तन की कोई सम्भावना नहीं रहती परन्तु केवलावस्था से सकलावस्था में पुनः

प्रत्यावर्तन की सम्भावना सदैव ही विद्यमान रहती है। शिव-शक्ति से आप्लावित होने के कारण ही शुद्धावस्था नित्य, शाश्वत भूमि हैं जो अन्य अवस्थाएँ नहीं हो सकती। इस संदर्भ में बताया गया है कि वेग से प्रवाहित जल की तरह शुद्धावस्था संकीर्णता, सापेक्षता रूपी किनारे को ध्वस्त कर देती है। इसीलिए शिव-ज्ञान केवल एक तत्त्व का ज्ञान नहीं वरन् सम्पूर्णता का ज्ञान है जिसमें पति, पशु, पाश का सर्वसमन्वयात्मक, एकीभूत, अनन्य ज्ञान उत्पन्न होता है। शिव ही निरपेक्ष सत् है अत: शिव-ज्ञान निरपेक्ष ज्ञान है। यही कारण है कि दश कार्याणि की इस साधन प्रणाली में आन्तरिक संयोग प्रतिभात होता है। जिससे स्पष्ट है कि तत्त्व-शुद्धि से ही आत्म-दर्शन जाग्रत होता है अर्थात् जड़ तत्त्व के बन्धन से मुक्ति ही आत्म-तत्त्व दर्शन के मार्ग को प्रशस्त करती है, क्योंकि आत्मा ने अज्ञानतावश अपने को जड़ तत्त्व से सम्बद्ध किया था, इसीलिए आत्मा से भिन्न अचेतन तत्त्व के सम्यक ज्ञान से आत्मबोध उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। वाक् से उत्पन्न समस्त ज्ञान–वेद, शास्त्र, स्मृति, पुराण, कला एवं विज्ञान के सभी ज्ञान नाद से पृथ्वी तत्त्व तक सम्पूर्ण तत्त्व शास्त्र के ज्ञान पाश-ज्ञान के अंतर्गत आते हैं। पति सभी से परे वाङ्मनोतीत है। पशु-ज्ञान अनात्म तत्त्व से भिन्नता के रूप में ज्ञान की नकारात्मक स्थिति है। गुरु से प्राप्त ज्ञान के माध्यम से ईश्वर एवं आत्म तत्त्व का अभेदज्ञान ही वास्तव में पशु-ज्ञान है। आत्मज्ञान के इस सकारात्मक रूप से ही शुद्धावस्था प्रारम्भ होती है। आध्यात्मिक साधनों की प्रत्येक प्रणाली से व्यक्ति के जीवन में विशेष उपलब्धि होती है। आध्यात्मिक उपलब्धि को स्थायी रूप से बनाये रखने के लिए भी साधना की आवश्यकता है। साधक से जीवन में प्रकाशित तत्त्व ज्ञान को बनाये रखना एवं उसके आधार पर पुन: प्रगति करने के संदर्भ में ही साधक को निरन्तर साधन प्रणालियों का पालन करते रहना चाहिए। जैसे-जैसे साधक की आध्यात्मिक प्रगति होती है वैसे-वैसे उसकी साधन प्रणालियों की आवश्यकता कम होती जाती है एवं धार्मिक कर्म जीवन की स्वाभाविक प्रणाली के रूप में परिणत होते जाते हैं। जो पहले विधान रूम में था वही क्रमश: जीवन-प्रणाली का अंगीभूत हो जाता है। ज्ञान होना एवं उसके द्वारा अज्ञानता रूपी अन्धकार का दूर होना भी एक निश्चित नियम सापेक्ष है। तालाव में कोई पत्थर फेंकने पर पानी के ऊपर मैल के आवरण को भेद करता हुआ वह पानी के अन्दर प्रविष्ट होता है। पत्थर की चोट से यद्यपि मैल थोड़े समय के लिए अपने स्थान से हट जाता है परन्तु शीघ्र ही वह पुन: वहीं पर आकर जमा हो जाता है। उसी प्रकार से ज्ञान-प्रकाश अज्ञानता रूपी आवरण को भेद करता हुआ साधक के चित्त में प्रविष्ट होता है, परन्तु वासना मल के कारण अज्ञानता पुन: आवरण उत्पन्न कर देती है। अत: साधक के लिए उपयुक्त साधन प्रणाली को अपनाने की आवश्यकता है, जिससे अज्ञानता रूपी आवरण को प्रयत्नपूर्वक दूर करते हुए ज्ञान प्रकाश को स्थायी रूप से उज्जीवित रक्खा जा सके। इसके लिए सर्वप्रथम साधक सतत्

नित्य एवं अनित्य वस्तु के विवेक-ज्ञान का मनन करता रहता है। इस प्रकार के मनन से सत्य की चेतना स्थायी रूप से उद्भासित रहती है। पाश-ज्ञान को भासमान मरीचिका की तरह मानकर उसे दूर कर दिया जाता है, तब पति ज्ञान स्वतः ही उद्भासित हो जाता है। असत् को त्याग करने की मनोवृत्ति साधना का नकारात्मक पक्ष है। सत् की नित्यता का चिन्तन करते हुए उससे स्थायी रूप से सम्बद्ध होने का प्रयास साधना का सकारात्मक पक्ष है। आत्मा से अभिन्न सत्ता के रूप में ईश्वर का चिन्तन ही ध्यान है (सोऽहम्)। इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण दृष्टान्त है। गरुड़ से तादात्म्य का चिन्तन करते हुए मन्त्र के द्वारा सर्प विष को निवृत्त करने का उपाय मन्त्र में "गरुड़ भावना" को आरोपित करते हुए निरन्तर ध्यान से विषक्रिया को तिरोहित करने का प्रयास है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार 'भावना' सामान्य कल्पना नहीं वरन् चेतना को उत्पन्न करने वाला ध्यान है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या मान्त्रिक (मन्त्र का उच्चारण करने वाला) गरुड़ के रूप में परिवर्तित हो जाता है इसके उत्तर में बताया गया है कि ध्यान का विषय गरुड़ पक्षी नहीं है, वरन् मन्त्र के माध्यम से गरुड़-शक्ति का जागरण है। जब मान्त्रिक निरन्तर मन्त्र के द्वारा गरुड़ का ध्यान करता हुआ उससे तादात्म्य स्थापित करता है, तब वह सर्प विष को तिरोहित करने लायक दैवी गरुड़-शक्ति को प्राप्त करता है। उक्त दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया जाता है कि गरुड़ भावना के माध्यम से व्यक्ति जब अपने को गरुड़ के साथ मन्त्र के द्वारा एकत्व की स्थिति बना लेता है तब उसमें गरुड़-शक्ति का आविर्भाव होता है एवं वह सर्प-विष को नष्ट करने में समर्थ होता है। आत्मतत्त्व या तो असत् से नहीं तो सत् से सम्बद्ध रहता है, असत् से उसकी सम्बद्धता सापेक्ष, सामयिक एवं अज्ञान-प्रसूत है परन्तु जैसे-जैसे ज्ञान उत्पन्न होता है आत्मा असत् को असत् के रूप में जानकर उससे अपनी सम्बद्धता को विच्छिन्न करना चाहती है। क्रमशः साधक अपने को आँख का प्रकाश एवं सूर्य के प्रकाश की सम्बद्धता के अनुरूप शिव-प्रकाश से समन्वित करता जाता है। "गरुड़ोऽहमस्मि" में मन्त्र-शक्ति एवं आत्म-शक्ति इन दोनों का समन्वय होता है। उसी प्रकार "शिवोऽहमस्मि" के ध्यान में ज्ञान एवं क्रिया दोनों की ही शिव-शक्ति के साथ समन्वयात्मक सम्बद्धता होती है। गरुड़ एवं आत्म-तत्त्व भिन्न होते हुए भी दोनों में ध्यान के माध्यम से समन्वय होता है। इस प्रकार के समन्वय से ही ध्याता ध्येय एवं ध्यान प्रतिपादित होते हैं। ध्यान की इस समन्वित स्थिति के लिए ध्याता एवं ध्येय का भेद आवश्यक है। आध्यात्मिक प्रणाली में ध्यान (भावना) मन्त्र एवं क्रिया तीनों संयुक्त होते हैं, अर्थात् ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा संकल्पात्मक तीनों पक्ष समन्वित होकर संतुलित एकत्व स्थिति में आ जाते हैं। साधक की इस स्थिति में पंचाक्षर मन्त्र का यह रूप होता है। "शि-वा-य-न-मः" अर्थात् उक्त अक्षर क्रमशः शिव, अनुग्रह-शक्ति, आत्मन, तिरोधान-शक्ति एवं मल के संकेत करते हैं। दृष्टान्त के अनुसार ये क्रमशः सूर्य, उसकी किरणे, चक्षु, उसका प्रकाश एवं अन्धकार

इसके द्योतक हैं। इसके साधन से साधक मुक्ति प्राप्त करता है इसीलिए इसे "मुक्ति पंचाक्षर" कहते हैं। यह "दशं कार्याणि" में शिव-दर्शन कहलाता है, जिसे साधक आत्मशुद्धि को प्राप्त करने के उपरांत ही प्राप्त करता है। तदनन्तर शिवयोग एवं शिवभोग की स्थिति की प्राप्ति होती है। उपरोक्त मुक्ति पंचाक्षर से साधक की शुद्धावस्था अर्थात् उसकी शिव-शक्ति से संयोग एवं मल-पाश से वियोग सूचित हो रही है। यही कारण है कि (आत्मन्) से पहले शि-वा है एवं उसके बाद न एवं म है, जो मल एवं तिरोधान के द्योतक है, पीछे छूट गये हैं। अर्थात् आत्मा ने पाश का साथ छोड़कर शिव-शक्ति से अपनी सम्बद्धता स्थापित की है। साधक असत् से अपने को असम्बद्ध करते हुए क्रमशः सत् से संयुक्त रहता है। साधक की एक ओर तिरोधान शक्ति, जो आवरित शक्ति है (म) दूसरी ओर अनुग्रह शक्ति जो पूर्ण प्रकाश रूप है (वा) विद्यमान है इसे ही नटराज के नृत्य में "ऊन-नडन" (सृजन नृत्य) एवं "ज्ञान-नडन" (ज्ञान नृत्य) कहा जाता है। साधक को जब इन दो नृत्यों के भिन्नतामूलक तात्पर्य ज्ञात होते हैं तब सम्पूर्ण विश्व प्रपंच उसमें निःस्सार होकर सर्वव्यापक, शिव-शक्ति (शिवा) की चेतना उत्पन्न होती है। मल-परिपक्व होने के कारण तिरोधानशक्ति निवृत्त होकर अनुग्रह के रूप में प्रकाशित होती है। इस तीव्र शक्ति-निपात से मुक्ति पंचाक्षर वास्तव में तीन-अक्षरों में परिणत होती है-'शिवाय' जिसके तिरोधान के द्योतक 'न' एवं पाश के द्योतक 'म' विच्युत हो जाते हैं। साधक शिव प्रकाश में निमज्जित होकर ज्ञान-स्वरूप बन जाता है। उक्त स्थिति शास्त्र वाक्य 'तत्त्वमसि' की स्थिति है, जिससे महावाक्य के अनुसार पति के साथ पशु के अद्वैत सम्बन्ध का 'बोध' उत्पन्न होता है। 'शि' एवं 'य' शिव एवं आत्मा को सूचित करते हैं 'वा' उनका मिलन है जो अनुग्रहशक्ति से ही सम्भव होता है। शिव अन्तिम निरपेक्ष सत्ता होने के कारण शिव ही उक्त महावाक्य का लक्ष्य है, जिसे पंचाक्षर भी परम सर्वोच्च तत्त्व के रूप में एवं एकमात्र ज्ञेय सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित करता है। शैव-सिद्धान्त में 'नमः शिवाय' एवं 'शिवाय नमः' इन दो पंचाक्षरों के माध्यम से ईश्वर तत्त्व, आत्म तत्त्व एवं सांसारिक तथा पारमार्थिक स्थिति में दोनों का सम्बन्ध सांकेतिक तात्पर्य-पूर्ण दृष्टिकोण से प्रतिपादित किये गये हैं। जब आत्म तत्त्व तिरोधायी एवं मल से मुक्त होकर शिव-शक्ति में निमज्जित होता है तब 'शि' एवं 'वा' आत्म-तत्त्व (य) से पहले संयुक्त हो जाते हैं, तथा मुक्ति पंचाक्षर "शिवाय नमः" प्रतिष्ठित होता है। इसके पूर्व बन्धन की स्थिति में जब आत्मा आणवमल एवं पाश से आबद्ध रहती है तब पंचाक्षर का रूप "नमः शिवाय" रहता है जिसमें तिरोधायी (न) एवं मल ज्ञान प्रकाश को आच्छादित करते हुए आत्म तत्त्व से पहले विद्यमान रहते हैं। इसके बाद भी और एक स्थिति की कल्पना की गयी है जिसमें आत्म तत्त्व पूर्णरूप से शक्ति समन्वित होकर शिव में अनन्य भाव से निमज्जित हो जाता है तब पंचाक्षर 'शि' में समवेत होकर एकाक्षर शि हो जाता है। पंचाक्षर के उपरोक्त दो प्रकार

क्रमशः शिव-योग एवं शिव भोग की अवस्था को सूचित करते हैं। अतः पंचाक्षर अपने में आत्मा को अज्ञानतामूलक स्थिति से ज्ञानात्मक स्थिति में परिवर्तन को समाविष्ट करता है। सन्त मैकण्ड देव दृष्टान्त के द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि पंचाक्षर की साधना के माध्यम से कैसे साधक क्रमशः शिव-दर्शन एवं आत्म-शुद्धि की स्थिति को प्राप्त करता है। साधक क्रमशः "अहम् अज्ञः" से 'अहम जानामि' से होता हुआ "अहं ब्रह्मास्मि", तदुपरान्त "सत्यम् ज्ञानमनन्तम-ब्रह्म" तक पहुँचता है। पंचाक्षर की साधना से ही साधक को इस अन्तिम स्थिति की प्राप्ति होती है। जैसे बीज के निचोड़ के रूप से तेल, दधि के मंथन के रूप से मक्खन एवं जमीन की छेदन से जल की प्राप्ति होती है उसी प्रकार से तत्त्व के अन्तर्भूत सार, मूल सत्य के रूप में ईश्वर तत्त्व विद्यमान हैं, जिसकी उपलब्धि श्री पंचाक्षर के साधन से ही हो सकती है। पंचाक्षर साधन के साथ अन्तर्योग पूजा भी उसी विशिष्टता के प्रतिपादन के लिए सहयोगी के रूप में रहती है। शिव विश्वातीत पर तत्त्व होते हुए भी विश्वव्यापी अन्तर्यामी तत्त्व है अतः साधक अपने हृदय-कमल में ही उसकी पूजा कर सकता है। हृदय कमल में सम्पूर्ण सृष्टि को सूक्ष्म तत्त्व के रूप में धारण करते हुए परतत्त्व परम शिव का अधिष्ठान बनाया जाता है। पृथ्वी से शक्ति तक तत्त्व के सभी प्रकाशनों को साधक अपने देह के अन्दर अनुभव करता है। पृथ्वी तत्त्व नाभि-कमल में विद्यमान है, अन्य छत्तीस तत्त्व उसी के आसपास रहते हैं। सात विद्या-तत्त्व एवं शिव तत्त्व के शुद्ध विद्या तत्त्व कमल की आठ कोमल पंखुड़ियाँ हैं। ईश्वर एवं सदाशिव तत्त्व इनके धारक हैं। शक्ति तत्त्व उसका आधार एवं शिव तत्त्व इक्यावन बीज के रूप में अवस्थित है। शैव दार्शनिक के अनुसार माया तत्त्व इस कमल का मूल एवं कर्म उसका उद्गम तथा मल अज्ञानता रूपी सरोवर का द्योतक है। शिव उसमें हृत पुण्डरीक स्थान के ऊपर आसीन है। इस पूजा-स्थान में शिव को पंचाक्षर के रूप में जागृत किया जाता है। परम सत्ता की कल्पना नर्तनरत शिव के रूप में की जाती है अतः यह स्पष्ट है कि भावना, मन्त्र एवं क्रिया मनुष्य के चित्त के भावात्मक, ज्ञानात्मक एवं संकल्पात्मक तीनों पक्षों को समाविष्ट करते हुए आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया की ओर क्रमशः अग्रसर होते हैं जिसका अन्तिम तथ्य परम उपलब्धि शिवयोग एवं शिव-भोग के रूप में होती है।

शिव-योग

शैव-सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष स्वरूपतः पाश-बन्धन से मुक्ति है। आध्यात्मिक साधन प्रणाली के द्वारा पाश (आणव, माया, कर्म) को अपने नियन्त्रण में करते हुए उसके दुष्प्रभाव से मुक्त होना ही मोक्ष की अवस्था है। शास्त्र में मोक्ष की इस स्थिति को आत्मानुभूति की प्राप्ति कहा गया है। पाशक्षय ही आत्म-लाभ का सकारात्मक रूप है अर्थात् आत्मा जो कि पाशों से आवद्ध रहती है, बन्धन मुक्त हो जाने पर आत्मस्थ स्थिति

में आत्म-ज्ञान को प्राप्त करती है। पति ज्ञान ही वह एकमात्र उपाय है जिससे पाश-बन्धन का विमोचन होता है। पतिज्ञान का परम उत्कर्ष शिवानुभव अर्थात् शिव-भोग में होता है। शिव-दर्शन आत्म-शुद्धि का परिणाम है। शिव-योग बन्धनों का मूल अहं तत्त्व से उत्पन्न अभिमान "मैं और मेरे" की अनुभूति का नाश है, जिससे साधक चित्-अचित् के बोध को प्राप्त करता है। उक्त स्थिति से ही साधक शिव-भोग की परम प्राप्ति को प्राप्त करता है। इस स्थिति में ईश्वर अपनी क्रिया-शक्ति से प्राय: सभी कर्मों का नाश कर देता है, जिससे कर्म के आश्रय के रूप में मायेय से उत्पन्न अध्व का भी अन्त हो जाता है। गुरु द्वारा दी गयी निर्वाण दीक्षा से यह कार्य सम्पन्न होता है। शिव-दर्शन की स्थिति में ईश्वर अपनी ज्ञान-शक्ति के प्रयोग से मलावरण को दूर कर देता है एवं आत्मा के जीवन में आगामी नवीन कर्मों के बीज भी भस्मीभूत हो जाते हैं। केवल अनुभव के माध्यम से प्रारब्ध कर्म का क्रमश: ह्रास होता जाता है। उक्त स्थिति में भी पाशक्षय पूर्ण रूप से नहीं होता। शास्त्र के अनुसार इस पाश-रूपी शत्रु के ऊपर पूर्णविजय नहीं होती है वरन् उसे कुछ दूर हटा देते हैं। तत्त्व-शुद्धि के बाद मनुष्य आत्मतत्त्व के ज्ञान की ओर प्रेरित होता है एवं उसे ही एकमात्र ज्ञेय समझता है। योग को प्राप्त करने की साधन प्रणाली में सबसे प्रधान पंचाक्षर की साधना है जिससे शिव-शक्ति की चेतना उत्पन्न होती है। उक्त मन्त्र की साधना की परिपक्वता से योग रूपी रहस्यात्मक चेतना या बोध का उदय होता है। रहस्यात्मक चेतना ही ज्ञाता एवं ज्ञेय का रहस्यात्मक बोध है जिसे साधक अनवरत पंचाक्षर मन्त्र के साधन-जनित ध्यान से प्राप्त करता है। पाश ज्ञान के उपरान्त पाश से भिन्न-तत्त्व के रूप में पशु-ज्ञान भी भ्रमात्मक ज्ञान है क्योंकि सर्वव्यापक पतिज्ञान ही एकमात्र सत्यज्ञान है, अन्य सभी अज्ञानता की कोटि में आते हैं। यदि "मैं एवं मेरे" रूप में ज्ञान की प्राप्ति होती है तब उसे आवृत्त ज्ञान ही समझना चाहिए क्योंकि शिव-ज्ञान ही एकमात्र सत्य-ज्ञान है। "मैं और मेरे" के रूप में अहं तत्त्व का बोध शिवज्ञान के ऊपर आवरण स्वरूप है। जब मनुष्य पंचाक्षर मन्त्र की साधना के द्वारा सोऽहम भावना के प्रत्यय को प्राप्त करता है तब क्रमश: सीमित सापेक्ष प्रत्यय का अभिमान सर्वव्यापक शिव-ज्ञान के द्वारा अभिभूत हो जाता है। जैसे—बाह्य-द्रव्य एवं चक्षु इन्द्रिय दोनों अपने स्थान में सही प्रकार से रहने पर भी दिखाने की प्रक्रिया के लिए प्रकाश नितान्त आवश्यक है वैसे ही केवल प्रकाश की विद्यमानता ही नहीं वरन चक्षु एवं दृश्य विषय के साथ उसका एकीकरण भी परमावश्यक है। आत्म तत्त्व का शिव-शक्ति से इस प्रकार का समन्वय एवं अनन्य हो जाना जिससे शिव-शक्ति से भिन्न आत्म तत्त्व की कोई स्वतन्त्र सत्ता का बोध ही न हो यही शिवयोग का प्रथम पक्ष है। इस स्थिति में आत्मा निरन्तर अपने को ईश्वराधीन अनुभव करती है। यह अहंकार एवं ममकार रूपी पशुत्व से मुक्ति पाने की एकमात्र साधन प्रणाली है। शिवयोग का दूसरा पक्ष ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण है। शिव-शक्ति में अपनी इच्छा

शक्ति का सम्पूर्ण रूप से समर्पण करती हुई आत्मा ईश्वरेच्छा को ही अपनी इच्छा के रूप में स्वीकार करती है। जैसे देखने की प्रक्रिया में चक्षु इन्द्रिय के लिए अन्तत: सूर्य के प्रकाश की स्थिति से समन्वित हो जाना आवश्यक है उसी प्रकार ईश्वर के संकल्प से मानव का संकल्प समन्वित होकर ईश्वर-संकल्प ही एकमात्र संकल्प के रूप में विद्यमान रहता है। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस प्रकार के समन्वय से क्या आत्म स्वातंत्र्य की हानि नहीं होती? उत्तर के रूप में कहा गया है कि ईश्वर–संकल्प के साथ समन्वित होना ही पूर्ण संकल्प को प्राप्त करना है क्योंकि आत्म संकल्प सीमित, सापेक्ष एवं खण्डित है। ईश्वर संकल्प ही निरपेक्ष, असीमित एवं अखण्डित है अत: उसमें विलीन हो जाना आत्मा का एकमात्र ध्येय हैं। वास्तव में स्वतन्त्रता का तात्पर्य "अप्रतिहत" स्वेच्छानुवृत्तिता है। स्वतन्त्रता की इस परिभाषा के अनुसार ईश्वर-संकल्प में समन्वित हो जाता है तभी वह 'शिवानन्दानुभवेच्छा' से 'अप्रतिहत स्वेच्छा' को प्राप्त करता है इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी तत्त्व के प्रभाव से स्वतन्त्रता की हानि होती है क्योंकि ईश्वर संकल्प के बिना अन्य सभी दोषयुक्त एवं खण्डित हैं। शिव-शक्ति में समर्पित होकर कार्य करने से कोई परिणाम उत्पन्न नहीं होता अर्थात् आगामी कर्म उत्पन्न नहीं होते क्योंकि वासनारूपी कर्म का अन्त होने से ही साधक शिव-शक्ति में समर्पित हो सकता है तब विश्व प्रपंच साधक के लिए केवल ईश्वर की परिग्रह शक्ति माया तत्त्व के विकास के रूप में प्रतिभात होती है। उससे सम्बद्ध "मैं और मेरे" की अनुभूति का नाश हो जाता है। सम्पूर्ण समर्पित होकर साधक सभी कर्मों को शिव-शक्ति की प्रेरणा से ही करता है। साधक की चेतना शिव-शक्ति से व्यापृत रहने के कारण शिव-शक्ति से भिन्न अभिमान-जन्य आत्म-बोध नहीं रहता। उक्त स्थिति में साधक की इच्छा ईश्वरेच्छा में समर्पित रहती है। इसीलिए कोई कर्मबन्धन उत्पन्न नहीं हो पाता। केवल प्रारब्ध कर्म के संस्कारवशात् देह की वृत्तियाँ होती रहती है, जिससे आत्मा का कोई बन्धन नहीं रहता। ईश्वर न्याय एवं प्रेम दोनों के आधार है। ईश्वर का न्याय ही ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति है। सर्वव्यापक सर्वसमन्वित, अनन्त ईश्वर तत्त्व में इन दोनों को एक साथ समायोजित करने में कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता। शैव-सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का कर्म एवं तदनुसार न्याय का विधान ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति है। ईश्वर प्रत्येक के प्रति निष्पक्ष रूप से प्रेम वर्षित करता है अत: ईश्वरीय न्याय ही ईश्वरीय प्रेम का प्रकाशन है। साधक जब मल-जनित अपनी आन्तरिक बाधाओं से मुक्त हो जाता है तभी अनन्त ईश्वरीय प्रेम में निमज्जित होकर आनन्दानुभव को प्राप्त करता है। जब मनुष्य में पाश-जनित बाधा रहती है तब ईश्वर की कृपा उसके ऊपर पूर्ण रूप से वर्जित होती है एवं ईश्वर मनुष्य के आगामी कर्मों के परिणाम के माध्यम से क्रमश: अपनी ओर आकर्षित करता रहता है। कर्मफल को प्राप्त करने के बाद मल परिपाक होने से स्वत: अपने आप पाश-बन्धन क्षीण होकर तीव्र शक्ति-निपात से अन्तिम रूप से छिन्न

हो जाता है। मोती की माला में ग्रथित सूत्र छिन्न हो जाने की तरह सभी कर्म बन्धन सूत्र रहित मोती की तरह अलग होकर बिखर जाते हैं। साधक का और कोई कर्म-बन्धन नहीं रहता। वह सम्पूर्ण रूप से ईश्वराश्रित हो जाता है। प्रारब्ध कर्म की विद्यमानता के फलस्वरूप यदि कोई सूक्ष्म वासना उत्पन्न भी होती है तो वह भी साधक के ईश्वर के प्रति समर्पित होने के कारण कोई स्थायी बन्धन उत्पन्न नहीं करती। ईश्वर-कृपा से सूक्ष्म वासना-मल तिरोहित हो जाता है, आगामी कर्म का बीज उत्पन्न नहीं होता। उक्त सम्पूर्ण प्रक्रिया शिव-शक्ति की अन्तःप्रेरणा से ही सम्भव होती है। आणवाधृत आत्मा पाश-युक्त होने पर भी क्रमशः ईश्वरोन्मुखी होकर ईश्वर-शक्ति में समन्वित होती जाती है एवं जिस प्रकार से चक्षु इन्द्रिय उज्ज्वल सूर्य के प्रकाश में अन्धकार को न देखकर सब विषयों को प्रकाशमय ही देखती है। उसी प्रकार शिव-शक्ति प्रकाशरूपी होने के कारण आत्मा को अपने चैतन्य प्रकाश में निमज्जित करती हुई अज्ञानता के अन्धकार को तिरोहित कर देती है। आत्मा का शिव-शक्ति से समवेत हो जाना ही शिव-योग है।

शिव-भोग

पाश बन्धन स्खलित हो जाने के बाद ईश्वर से आत्मा की अनन्यता, अभेद सम्बन्ध से जब ईश्वरानन्द का अनुभव होता है तब मनुष्य को लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। पशुत्व से मुक्ति के साथ शिवत्व की अभिव्यक्ति होती है। दश कार्याणि की अन्तिम स्थिति ही शिवभोग है, इससे पूर्व की स्थिति को शिवयोग कहा जाता है। उक्त स्थिति में आत्मा शिव-शक्ति में निमज्जित होकर अन्तिम परम सत्य सच्चिदानन्द को प्राप्त करने के लिए प्रतीक्षा करती रहती है। ईश्वर-शक्ति के माध्यम से ही आत्मा ईश्वरानन्द को प्राप्त कर सकती है, अन्य कोई उपाय नहीं है। अन्य किसी उपाय का प्रश्न भी नहीं आता क्योंकि आत्मा जब शिव-शक्ति से अभेद हो जाती है तब सर्वव्यापक चैतन्य के बोध को प्राप्त करती है। माया प्रसूत सभी विषय उसके लिए निःस्सार हो जाते हैं। शिव-शक्ति से मिलन तुरीय नामक शुद्धावस्था की चतुर्थ अवस्था है जबकि अन्तिम एवं सर्वोच्च स्थिति तुरीयातीत कहलाती है। इस स्थिति में केवल आनन्द का अनुभव होता रहता है। इसे परम सुख अथवा "सुख-प्रभा" कहते हैं। उक्त स्थिति में कोई नकारात्मक अनुभव नहीं रहता, वरन् आत्मा शिवानन्द में निमज्जित हो जाती है अतः शिव-शक्ति से समन्वित होना शिव-कृपा को प्राप्त करना है एवं शिव-भोग तथा शिवानन्द में निमग्न हो जाना है। आनन्दानुभूति ही अद्वैतानुभूति है। शिव-भोग केवल अभिन्न सम्बन्ध ही नहीं वरन अभिन्नता की चेतना एवं आनन्दानुभव है अतः यह स्पष्ट है कि शिव-शक्ति से समन्वित होकर ईश्वर से अद्वैत सम्बन्ध का बोध होता है एवं शिव भोग की स्थिति को प्राप्त कर ईश्वरानन्द को प्राप्त करता है। कई दृष्टान्तों के द्वारा उक्त दोनों स्थितियों की व्याख्या की गयी है। अद्वैतानुभव चक्षु-इन्द्रिय की ज्योति एवं बाह्य-प्रकाश के संयोग की तरह अन्तर्मिलन है। बाह्य प्रकाश

की तरह शिव-शक्ति आत्मा के सभी अनुभवों से सम्बद्ध रहती है, परन्तु शिव-भोग में शिव आत्म सत्ता में व्याप्त रहता है। शक्ति तत्त्व आत्मा के ज्ञान एवं इच्छा से समन्वित होकर सत्य ज्ञान को प्रदान करता है। जब शिव आत्म-सत्ता से 'एकत्व', अनन्यत्व रहता है जिसे आत्मा जानती है, जब आत्मा शिव-शक्ति से अभिन्न होकर अनुभव को प्राप्त करती है तब उसके समस्त अनुभवों में अनुभविता शिव-तत्त्व से अनन्य होकर विद्यमान रहती है। शिव तत्त्व के साथ अनन्यता का अनुभव ही आत्मा का साक्षात "शिवानन्द" का अनुभव है जो आत्मा का शक्ति तत्त्व से समन्वय के भी परे की स्थिति है जिसमें आत्मा परम तत्त्व में निमज्जित होकर उसका साक्षात आनन्दानुभव प्राप्त करती है। दृष्टिसंवेदन में यदि आत्मा बाह्य विषयों से दृष्टि को हटाकर आत्म केन्द्रित कर लेती है तब ज्ञाता के रूप में आत्म बोध होता हैं उसी प्रकार से आत्मा शिव-शक्ति से परे परम तत्त्व अर्थात् शिव तत्त्व में निमज्जित होकर शिवानन्द का अनुभव करती है। यह अनुभव अपरोक्ष, साक्षात् विषयितारूप अनुभव है। व्यवहारिक उपभोग एवं शिव भोग में अन्तर अनुभव के विषय से सम्बन्धित है। व्यावहारिक उपभोग में अनुभविता विषयों से सम्बद्ध होकर अनुभव प्राप्त करती है जबकि शिव-भोग में शिव स्वयं आत्मा से सम्बद्ध होकर अनुभव प्राप्त कराता है। जिससे आत्मा परमसत् की परमानन्दानुभूति का अनुभव प्राप्त करती है। उक्त स्थिति में ईश्वर स्वयं ही आत्मा से 'एक' होकर अनाविल, अप्रतिरूद्ध, आनन्दानुभव को प्राप्त करता है जो साधक के जीवन की अन्तिम, सर्वोच्च, शाश्वत अनुभवात्मक स्थिति है। शिव-शक्ति से समन्वय की "शिव-योग" की स्थिति से ही शिव-भोग रूपी अन्तिम शाश्वत स्थिति की उपलब्धि होती है। शिव-शक्ति वह सर्वव्यापक ज्ञान-प्रकाश है जो बाह्य-विषयों को उद्भासित करता हुआ आत्म-तत्त्व से समन्वित होकर ज्ञान प्रदान करता है। इसी की चरम् उपलब्धि ही आत्मानुभव एवं शिवानुभव के समन्वय, अनन्यत्व के रूप में शिव-भोग में होती है। यद्यपि आत्म तत्त्व का शिव तत्त्व से तादात्म्य नहीं है परन्तु वह अद्वैत, अभेद एवं एकत्व की स्थिति में विद्यमान रहता है। इस परमार्थिक स्थिति में आत्मा एवं ईश्वर दोनों की चेतना ""समन्वित-चेतना" की स्थिति में रहती है। शिवज्ञान जो "अनादि बोध" है कोई नवीन ज्ञान प्राप्त नहीं करता जबकि आत्म तत्त्व शिव से समन्वित होकर ज्ञान, इच्छा, क्रिया के नवीन आयाम को प्राप्त करता है। शिव सच्चिदानन्द-स्वरूप है, आत्मा उस सच्चिदानन्द का आस्वादन करती है। शिव परम सत्ता के रूप में आनन्द रूप एवं अहं-विमर्श रूप है। आत्मतत्त्व का शिवभोग इसी परमानन्द की शाश्वत आनन्दानुभूति है, जिसमें नित्य नवीनता रूपी अनन्तानुभूति होती रहती है। यह वह सर्वव्यापक अनुभव है जिसमें न केवल शिवानन्द की अनुभूति होती है वरन् मल के शुद्ध तात्विक स्वरूप के भी अनुभव होते हैं। शिव प्रकाश से मल की आवरण शक्ति नष्ट हो जाती है, एवं वह निष्प्रभ हो जाती है। आत्मा सर्वव्यापक, परमतत्त्व में निमज्जित होकर

सभी विषयों के तात्विक स्वरूप के ज्ञान को प्राप्त करती है अतः शैव-सिद्धान्त के अनुसार शिव भोग ही आत्मा की शिव से अनन्त मिलन की नित्य परम स्थिति है। यह स्पष्ट है कि शिव-शक्ति के आविर्भाव से आत्मा की शुद्धावस्था का प्रारम्भ होता है जिसकी पूर्णता शिव-भोग रूपी शिवानन्दानुभूति में होती है। शुद्धावस्था वह स्थिति है जिसमें आत्मा का जगत के प्रति दृष्टिकोण ही परिवर्तित हो जाता है और विश्व के प्रत्येक विषय को वह कृपा की देन के रूप में अनुभव करती है। कृपा ही एक मात्र अनुभवजन्य विषय है, अन्य सभी गौण और निःस्सार हो जाते हैं तथा साधक का चित्त शिव-कृपा से ओत-प्रोत हो जाता है। कृपा से भिन्न किसी विषय की प्रतीति हो ही नहीं सकती। साधक सम्पूर्ण रूप से ईश्वर-कृपा के प्रति आत्म समर्पण करते हुए कृपा पर ही आश्रित हो जाता है। उसकी दृष्टि अर्थात् आन्तरिक ज्ञान कृपा से आप्लावित हो जाता है जिससे वह प्रत्येक विषय को कृपा की देन के रूप में ही समझने लगता है। सांसारिक जिन विषयों को वह अपना और अपने लिए समझता था उन सबों को अब कृपा जन्य मानने लगता है। दृष्टि का यह आमूल परिवर्तन ईश्वर की कृपा का ही परिणाम है। कृपा-शक्ति के प्रकाशन से साधक उसी में निमज्जित होकर कृपा पर ही आश्रित हो जाता है एवं कृपा-शक्ति के द्वारा शक्तिमान को प्राप्त करता है।

पद नं. ७३—आत्मदर्शन

भावानुवाद

तत्त्वों के आकार, स्वरूप, गुण इत्यादि को जब हम कृपा की दृष्टि से समझते हैं तब ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश से वह (आत्मा) शुद्ध हो जाती है एवं उस दिन जब वह प्रथम (ईश्वर) का आविर्भाव होगा तब आत्मा शुद्ध ज्ञान-स्थिति को प्राप्त करेगी।

माया-रूपी उपादान से चित्-शक्ति विश्व प्रपंच की सृष्टि कर आत्मा को तनु, करण, भुवन, भोग प्रदान करती है, एवं आत्मा को कर्म से संयुक्त करती है जिससे आत्मा इन दो पाशों के मूल मल से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्नशील होती है। आत्मा की प्रयत्नशीलता का कारण चित्-शक्ति की अन्तःप्रेरणा ही है। चित्-शक्ति ही संचालक तत्त्व है जो एक ओर आत्मा को तनु, करण, भुवन, भोग इत्यादि देती है एवं दूसरी ओर सर्वव्यापक ज्ञान प्रकाश के रूप में बाह्य विषय को आत्मा के निकट उद्भासित करती है। चित्-शक्ति की ये विभिन्न भूमिकाएँ आत्मा को तब तक ज्ञात नहीं होती, जब तक स्वयं चित्-शक्ति उसे ज्ञात न करा दे। जैसा कि पहले सूचित किया गया है चित्-शक्ति की यह आवृत्त भूमिका तिरोधान अथवा तिरोधायी कहलाती है। आत्मा जब तक तिरोधान शक्ति में अवस्थित रहती है तब तक विभिन्न विषयों के भेद-ज्ञान को प्राप्त करती है अर्थात् माया

से उत्पन्न सभी सावयव, सापेक्ष, सीमित तत्त्वों के ज्ञान एवं तत्सम्बन्धी विभिन्न सम्बन्धों से सम्बद्ध आत्मा को, भेद-युक्त विश्व प्रपंच में माया एवं कर्म-जनित पाशों के द्वारा आवद्ध रखता हुआ जन्म मृत्यु के चक्र में परिभ्रमण करवाता रहता है। आत्मा की यह स्थिति तिरोधान शक्ति में अवस्थित होने की है। तिरोधान शक्ति अपने स्वरूप को आच्छादित रखती हुई अव्यक्त रूप में आत्मा को सत्य-ज्ञान को प्राप्त करने के लिए तैयार करती रहती है। जैसा कि पहले बताया गया है, तिरोधान शक्ति की प्रेरणा से ही आत्मा में क्रमश: मल परिपाक एवं कर्म साम्य की स्थिति आती है। पर्याप्त मात्रा में मल परिपाक एवं कर्म साम्य होने पर ही आत्मा की ईश्वर के प्रति तीव्र उन्मुखता होती है एवं तभी स्वकाश से ईश्वर स्वरूप-ज्ञान को प्रदान करता है जिसे तीव्र-शक्ति निपात कहते हैं। उक्त स्थिति में तिरोधान-शक्ति जो आच्छादित रूप में कार्य करती रही स्पष्टत: पूर्ण रूप से व्यक्त होकर सर्व-व्यापक चैतन्य सत्ता के रूप में प्रकाशित होती है। शक्ति के इस पूर्ण-प्रकाशन को 'अनुग्रह शक्ति' कहते हैं। वास्तव में तिरोधान एवं अनुग्रह तत्त्वत: एक ही हैं। केवल उसकी कार्य-प्रणाली भिन्न है। शिव-शक्ति जब अपने को आच्छादित रखती हुई आत्मा के उपकार के लिए क्रियाशील रहती है तब उसे तिरोधान कहा जाता है। जब वही चित्-शक्ति आत्मा को योग्यता की प्राप्ति होने पर ही पूर्ण रूप से व्यक्त होकर आत्म प्रकाश करती है तब आत्मा उसमें निमज्जित होकर सत्य-ज्ञान को प्राप्त करती है। आवृत्त चित्-शक्ति के पूर्ण प्रकाशन को ही अनुग्रह शक्ति का तीव्र शक्ति निपात कहते हैं। अत: यह स्पष्ट है कि तिरोधान शक्ति एवं अनुग्रह शक्ति में कोई तात्विक भिन्नता नहीं है। मात्र कार्य प्रणाली में अन्तर है एवं वह भी आत्मा की स्थिति के कारण ही है। चित्-शक्ति आवरित, आच्छादित अथवा अप्रकटित रूप में आत्मा को ईश्वर के पूर्ण चैतन्य को प्राप्त करने के लिए क्रमश: समर्थ बनाती है। उपयुक्त समय में चित्-शक्ति पूर्ण रूप से प्रकाशित होकर आत्म चैतन्य को आप्लावित कर देती है एवं आत्मा सत्य-ज्ञान को प्राप्त करती है। जब तक आत्मा तिरोधान शक्ति में विद्यमान रहती है, तब तक ज्ञान भेद-युक्त एवं आवरण-युक्त रहता है क्योंकि तिरोधान शक्ति स्वयं ही आच्छादित रहती है, परन्तु अनुग्रह-शक्ति भेद-रूपी आवरण को दूर करती हुई आत्मा को अभेद ज्ञान की स्थिति में पहुँचा देती है। अनुग्रह-शक्ति निपात से ही आत्मा मलावरण से विमुक्त होकर निर्मल हो जाती है। यह आत्मा की शुद्धावस्था है। अनुग्रह शक्ति कृपा शक्ति की वह पूर्ण अभिव्यक्ति है जिससे आणवमल से उत्पन्न पाशावरोध सम्पूर्ण रूप से खण्डित हो जाता है। यह आत्मा के लिए सौभाग्य की परम प्राप्ति है। इस स्थिति में आत्मा कृपा-शक्ति-ज्ञान-शक्ति में निमज्जित होकर सभी विषयों को तात्त्विक दृष्टिकोण से देखती है। तिरोधान की स्थिति में जो विषय-विषयी-भिन्नता रूप, भेद-युक्त, सापेक्ष, सीमित एवं आकर्षक लगते थे, वे ही सव अनुग्रह की स्थिति में अभेद, सर्वव्यापक चैतन्य में विद्यमान, उसी से आप्लुत ज्ञात होते हैं। ईश्वर

तत्त्व ही सत्य है। उससे भिन्न और किसी की कोई मौलिक सत्ता नहीं है। ईश्वर चैतन्य सर्वव्यापक ज्ञान प्रकाश है। सभी उसी में विद्यमान हैं। अनुग्रह शक्ति को प्राप्त करने के फलस्वरूप साधक का मलावरण दूर हो जाता है एवं वह उक्त सम्यक् अभेद सत्य ज्ञान को प्राप्त करता हुआ निर्मल हो जाता है।

उक्त पद में साधक की शुद्धावस्था का वर्णन करते हुए श्री उमापति कहते हैं कि बाह्य रूप से कोई परिवर्तन न होते हुए भी अनुग्रह-शक्ति-निपात से साधक का जो आन्तर परिवर्तन होता है वह दृष्टिकोण का आमूल परिवर्तन है जिससे साधक सापेक्ष आवरण-युक्त भेद-भूमि से निरपेक्ष अभेद अध्यात्मिक-ज्ञान की भूमि में उन्नीत (आरोहित) होता है। ईश्वर-कृपा ही उक्त आरोहण का एकमात्र उपाय है। चित्-शक्ति रूपी कृपा ही प्रथमतः तिरोधान के रूप में, तदनन्तर अनुग्रह के रूप में आत्मा को अज्ञानता के अन्धकार से मुक्त करती हुई शिव-चैतन्य में स्थापित करती है।

पद नं. ७४

भावानुवाद

वह जो अन्तःस्थ (अन्तर्यामी) कृपा को प्रदान करता है, प्रथम तत्त्व है, अन्तर्यामी है। उसे कृपा के नाम से कहा गया है। उस प्रथम तत्त्व के बिना यह पूर्ण प्रकाश विद्यमान नहीं रह सकता। उस निर्मल तत्त्व के बिना यह अवस्थित नहीं रहता। वह प्रथम तत्त्व अर्थात् ईश्वर एवं उसकी प्रकाशरूपी कृपा ही उसकी शक्ति है।

उक्त पद में श्री उमापति ईश्वर तत्त्व के स्वरूप का वर्णन करते हैं। ईश्वर अनादि, अनन्त, सच्चिदानन्द, सर्वव्यापी, आनन्दघन सत्ता है जो अन्तर्यामी रूप में आत्मा में अवस्थित रहता है। यह स्वयं प्रथम कारण तत्त्व है।[१] ईश्वर स्वरवर्ण 'अ' की तरह विश्व में अन्तर्लीन है। जिस प्रकार 'अकार' प्रत्येक वर्ण में अन्तर्भूत है उसी प्रकार ईश्वर ज्ञानरूप से आत्मा में अन्तर्यामी के रूप में विद्यमान अर्थात् आत्म चैतन्य एवं ईश्वर-चैतन्य स्वरूपतः अभेद एवं अनन्य है। शैव सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर चैतन्य ही ईश्वर कृपा है, औपनिषदिक 'सच्चिदानन्द' शब्द रूप में तीन (सत्, चित्, आनन्द) समन्वित रूप से परम तत्त्व के अस्तित्त्व तथा तात्विक स्वरूप दोनों को ही सूचित करता है। जो सत् है अर्थात् सर्वव्यापक अनन्त, असीम सत्ता है, वह अवश्य ही स्वयं प्रकाशरूप अर्थात् चित् होगा। चैतन्य ही ज्ञान है। पूर्ण सत्ता के रूप में परमतत्त्व 'अभाव का अभाव' है अर्थात् अनन्त है। अभाव से दुःख की उत्पत्ति होती है। अतः परम तत्त्व दुःखरहित आनन्द-स्वरूप

१. तिरुवरुट् पयन् १.१

तत्त्व है। सत् चित् एवं आनन्द ये तीन एक में तथा एक ही तीनों कारण रूप में प्रकाशित होने वाले समन्वित, शाश्वत तत्त्व हैं। पूर्ण तत्त्व होने के कारण ईश्वर अविरोधात्मक पूर्ण-समन्वय है अतः चैतन्य ही ज्ञान है एवं ज्ञान की कृपा है। ईश्वर के कृपा-स्वरूप की विवेचना आत्म तत्त्व के दृष्टिकोण से और स्पष्ट होती है। अनादि काल से आणवाधृत आत्मा अज्ञानता के अन्धकार में डूबी हुई रहती है। ईश्वर-चैतन्य ही अज्ञानता का एकमात्र प्रतिरोधक है, जिससे अन्धकार दूर होकर आत्मा ज्ञान-प्रकाश में निमज्जित हो जाती है, जो आत्मा के प्रति ईश्वर की असीम कृपा है। ईश्वर चैतन्य ही आत्मा के लिए कृपा स्वरूप है, क्योंकि वही आत्मा को अज्ञानता से मुक्ति दिलाने का एकमात्र उपाय है। ज्ञान-शक्ति ही कृपा-शक्ति है। जैसे-जैसे आत्मा ज्ञान-शक्ति के प्रकाश में अपने को समर्पित करती जाती हैं वैसे-वैसे वह विशिष्टता एवं अपरिहार्यता के बोध को प्राप्त करती जाती हैं। शैव-सिद्धान्त के दार्शनिक विवेचन में उक्त दृष्टिकोण को अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि शिव-शक्ति ही शिव-कृपा है। शिव-शक्ति पंचकृत्य को सम्पन्न करती है। पंचकृत्य के माध्यम से शिव-कृपा ही प्रकाशित होती है। परमतत्त्व कृपा-स्वरूप है। ईश्वर तत्त्व अतुलनीय, अद्वितीय, महानतम, सर्वव्यापी आश्रय हैं। वही सृष्टि, स्थिति, प्रलय, तिरोधान एवं अनुग्रह रूप पंचकृत्य का नियन्ता है। पंचकृत्य ईश्वर का विशिष्ट कार्य है, जिसे केवल वही सम्पन्न कर सकता है। ईश्वर ही एकमात्र सर्व-शक्तिमान तत्त्व हैं। ईश्वर जीव के कल्याण के लिए ही पंचकृत्य करता है। ईश्वर कर्मफल प्रदान करता है। वह इस प्रकार का आश्रय स्थल है जहाँ से पुनः विच्युत होने की कोई सम्भावना नहीं होती है। ईश्वर ही अज्ञानता के अन्धकार को दूर करता हुआ आत्मा को मोक्ष प्रदान करता है। सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य, ये मुक्तियाँ भी आत्मा को चित्-शक्ति द्वारा प्रदत्त होती हैं परन्तु सायुज्य मुक्ति ईश्वर की विशेष कृपा है। ईश्वर सर्व-शक्तिमान एवं सर्वज्ञ है और वह आणवधृत आत्मा की अज्ञानता-जनित अन्धकारमय स्थिति को जानकर उसके उद्धार के लिए माया-कर्म द्वारा सृष्टि करता है। यह ईश्वर की कृपा है कि आत्मा सृष्टि के माध्यम से शिव-शक्ति की अन्तःप्रेरणा से प्रेरित होकर क्रमशः बाह्य विषयों की निःस्सारता के बोध को प्राप्त करती हुई ईश्वर के प्रति उन्मुख होती है। सृष्टि में ईश्वर की कृपाशक्ति प्रथमतः आत्मा के मलांधकार को दूर करती हुई उसे सृष्टि में माया, कर्म जनित विषयों में अवस्थित कर देती है। यदि सृष्टि न होती तब अनादि काल से आणवाधृत आत्मा अज्ञानता के अन्धकार में जड़वत् पड़ी रहती। सृष्टि आत्मा के लिए सबसे बड़ा अवसर है। जिससे आत्मा अनुभवों के माध्यम से विषयों तक सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करती है। सृष्टि के द्वारा ही चित्-शक्ति आत्मा के मलावरण को प्रथमतः भेदती है, शिव-कृपा आत्मा को प्रथम स्पर्श करती है। वहीं से आत्मा की आध्यात्मिक यात्रा की शुरूआत होती है। चूँकि शिवा-कृपा ही एकमात्र उपाय है जिसके द्वारा आत्मा अज्ञानता के अन्धकार को

दूर करती हुई मोक्ष को प्राप्त कर सकती है। अत: यह स्पष्ट है कि सृष्टि के साथ ही शिव-कृपा को प्राप्त करने के फलस्वरूप आत्मा का मोक्ष प्राप्त करना निश्चित हो जाता है। इसीलिए श्री उमापति कहते हैं कि ईश्वर कृपा-स्वरूप है एवं आत्मा ईश्वर-कृपा में ही विद्यमान रहती है। उसे यह तब तक ज्ञात नहीं होता जब तक उसकी अज्ञानता दूर नहीं होती है पुन: अज्ञानता दूर होने का उपाय भी शिव कृपा ही है। जैसा कि पहले वर्णन किया गया है शिव-कृपा प्रथमत: आच्छादित रूप में आत्मा के अज्ञानान्धकार को दूर करती है एवं तदनन्तर उपयुक्त समय में स्वयं प्रकाशित होकर आत्मा को अपनी सर्वव्यापक कृपा-शक्ति में निमज्जित कर देती है। कृपा ही उपाय है, कृपा ही उपेय भी है। चित्-शक्ति ही कृपा शक्ति है जिसका परम तत्त्व से तादात्म्य है। शिव आश्रय, आधार द्रव्य है। कृपा शक्ति उसकी अभिव्यक्ति, उसका प्रकाश, उसकी सर्व-व्यापकता है।

पद नं. ७५

भावानुवाद

निर्मल शक्ति ही प्रज्ज्वल्यमान ज्ञान है। शिव के बिना वह शक्ति प्रज्वलित नहीं होती। प्रारम्भ से ही मल जो ज्ञान रहित है (आत्मा को) कष्ट प्रदान करता है। ईश्वर-कृपा आनन्द रूप में अन्धकार को दूरीभूत करती हुई वैसे ही विद्यमान रहती है जैसे सूर्य का उज्ज्वल प्रकाश रहता है एवं ईश्वर को भी प्रकाशित करती है।

उक्त पद्य में श्री उमापति ईश्वर-कृपा को प्राप्त करने की पूर्व स्थिति एवं कृपा-प्रकाश को प्राप्त करने के बाद की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आणवाधृत आत्मा स्वत: अपने प्रयास से अज्ञानता के अन्धकार को दूर कर ज्ञान-प्रकाश को प्राप्त नहीं कर सकती। चित्-शक्ति द्वारा सृष्ट इस विश्व-प्रपंच में माया-तत्त्व से उत्पन्न तनु, करण, भुवन, भोग एवं कर्म के द्वारा आत्मा विभिन्न विषयों के अनुभव को प्राप्त करती है। अनादि काल से आणवाधृत होने के कारण अज्ञानता का प्रगाढ़ अन्धकार आत्मा के ज्ञान को आच्छादित किये रहता है जिससे आत्मा सांसारिक विषयों के सम्यक् ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाती। चित्-शक्ति से प्रेरित होकर विषय से विषयान्तरित होती रहती है एवं माया तथा कर्म-पाश में आबद्ध भी रहती है। अज्ञानता जनित प्रवृत्तियों के कारण आत्मा भ्रमात्मक सकाम भावना से प्रेरित होती है, जिससे पुन: बन्धन होते हैं। इसी प्रकार सत्य ज्ञान के अभाव के कारण अज्ञानता का अन्धकार दूर नहीं हो सकता। सच्चिदानन्द की चित्-शक्ति ही वास्तव में सत्य-ज्ञान है। उसके आविर्भाव के बिना सत्य-ज्ञान कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता। ईश्वर-तत्त्व वह शाश्वत तत्त्व है जो अपनी क्रियात्मक चित्-शक्ति के माध्यम से सृष्टि प्रपंच से सर्वव्यापक सत्ता के रूप में विद्यमान है। ईश्वर एवं उसकी

शक्ति सूर्य एवं सूर्य की किरण की तरह तादात्म्य है। तत्त्व जो सत्ता रूप में अचल है वही शक्ति के रूप में सर्वव्यापक ज्ञान है। ईश्वर तत्त्व मल-रहित, निर्मल एवं अनन्त पूर्ण-ज्ञान सत्ता है। ईश्वर आधार, आश्रय एवं द्रव्य है। शक्ति उसी का गुण, प्रकाशन एवं उसकी व्यापकता है। जो शिव है वही शक्ति है। ये दो नहीं वरन एक ही एवं वही अभिन्न-सत्ता हैं।[१] सूर्य एवं सूर्य का प्रकाश जैसे अभिन्न एवं एक ही तत्त्व की दो स्थितियाँ हैं, उसी प्रकार ईश्वर तत्त्व ही ज्ञान-शक्ति अथवा कृपा-शक्ति के रूप में सर्वव्यापी है। आत्मा इसी कृपा शक्ति में विद्यमान रहती है। अज्ञानतारूपी प्रगाढ़ अन्धकार के कारण उसे उसकी चेतना नहीं रहती। चित्-शक्ति जो कृपा रूप में बाह्य विषयों को एवं आत्म चैतन्य को भी प्रकाशित करती है, सत्य ज्ञान की एकमात्र कारण है। चित्-शक्ति के प्रकाश से आत्मा से अज्ञानता का अन्धकार दूर हो जाता है, एवं वह सत्य-ज्ञान को प्राप्त करती है। अज्ञानता के कारण परिवर्तनशील असत्य निःस्सार सांसारिक विषय सत्य प्रतीत हो रहे थे। अज्ञानता से उत्पन्न मिथ्या दृष्टि के कारण चित् में अनेक प्रकार के मोह उत्पन्न होते हैं, जिससे चित्त निरन्तर भ्रमित होता रहता है, बन्धनों में आबद्ध हो जाता है एवं जन्म मृत्यु के आवर्तन में दुःख प्राप्त करता रहता है। इन सभी अवांच्छित स्थितियों का अन्त एकमात्र सत्य-ज्ञान की प्राप्ति से हो जाता है। चित्-शक्ति ही वह सत्य ज्ञान है जिसके आविर्भाव से अज्ञानता का अन्धकार क्षण भर में दूर होकर अन्त में सारे दुःखों के कारणों का अन्त कर देता है। अतः चित्-शक्ति ही आत्मा के लिए एकमात्र उपाय है। आत्मा के प्रति ईश्वर की यह अतुलनीय कृपा है। जिससे आत्मा अज्ञानता के बन्धन से मुक्त होकर ज्ञान की नित्य शाश्वत स्थिति को प्राप्त करती है। चित्-शक्ति वह सर्वव्यापी ज्ञान-प्रकाश-रूप है जिसके आविर्भाव से आत्मा एक ओर तो सांसारिक विषयों के मिथ्यात्व को समझती है एवं दूसरी ओर ईश्वर की सत्यता, सर्वव्यापकता तथा सर्व-शक्तिमत्ता के स्वरूप ज्ञान को भी प्राप्त करती है। ईश्वर-शक्ति उस प्रज्ज्वल्यमान सूर्य की तरह है, जो केवल अन्य विषयों को ही नहीं वरन अपने को भी प्रकाशित करती है अर्थात् चित्-शक्ति के द्वारा आत्मा सांसारिक विषयों का सम्यक् ज्ञान, आत्मज्ञान एवं शिव-ज्ञान को प्राप्त करती है। ये ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान नहीं हैं वरन् इस सर्वव्यापक ज्ञान से ही सत्य, सम्यक् एवं स्वरूप-ज्ञान की प्राप्ति होती है। निर्मल-शिव एवं शिव-ज्ञान अर्थात् चित्-शक्ति तत्त्व एवं परम तत्त्व का प्रकाशन है जो आत्मा के लिए कृपा-स्वरूप है। शिव-शक्ति ही ज्ञान प्रकाश है जिससे अज्ञानता दूर हो जाती है। शिव-निर्मल है। शिव-शक्ति को अज्ञानता (मल) कभी प्रभावित नहीं कर सकती। शिव-ज्ञान से वह सम्पूर्ण रूप से शक्तिहीन होकर निष्प्रभ हो जाता है एवं तभी आत्मा उसके बन्धन से मुक्त होकर शिव-चैतन्य में निमज्जित हो जाती है। आत्मा के लिए यही श्रेय एवं प्रेय है। चित्-शक्ति से प्रेरित होकर आत्मा सच्चिदानन्द के आनन्द-

---

१. तिरूवरूटपयन I 2

स्वरूप में निमग्न हो जाती है। अज्ञानता दुःख को उत्पन्न करती है एवं ज्ञान से ही दुःख तिरोहित होकर आनन्द रूप हो जाता है। ईश्वर आनन्दघन स्वरूप है। चित्-शक्ति से ही आत्मा उस स्वरूप का आस्वादन कर सकती है।

पद नं. ७६–आत्मशुद्धि

भावानुवाद

यह सिद्धान्त सत्य नहीं है कि प्रेत से आक्रान्त व्यक्ति की तरह जो प्रेत ही समझता है एवं उसी के अनुरूप कार्य करता है, आत्मा ईश्वर की कृपा से युक्त होकर सर्वज्ञता को प्राप्त करती है एवं पंचकृत्य को ईश्वर के कार्य से कोई भिन्नता न मानते हुए कर पाती है।

उक्त पद में श्री उमापति आत्म तत्त्व के ऊपर कृपा-शक्ति के प्रभाव का वर्णन एक दृष्टान्त की सहायता से अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहते हैं। आत्मा के ऊपर चित्-शक्ति का प्रभाव रहता है, वह व्यक्ति आत्म-ज्ञान शून्य होकर मोह एवं अज्ञानता से ग्रसित हो जाता है एवं प्रेत के आवेश से प्रेत द्वारा परिचालित होकर सब कार्य करता रहता है। उसकी गति के ऊपर उसका अपना कोई नियंत्रण नहीं रहता न तो वह अपने व्यवहार के बारे में सचेतन ही रहता है। किस व्यवहार को वह किस लिए कर रहा है, उसका कोई कार्य-कारण सम्बन्ध-जनित बोध ही उस व्यक्ति को नहीं रहता। वह सम्पूर्ण रूप से प्रेत के अधीन रहता है। प्रेत-शक्ति उसके ऊपर आरोपित होकर नियंत्रित करती रहती है, जिससे उस व्यक्ति को अपनी सत्ता का कोई बोध भी नहीं रहता एवं वह अपने से चिन्तन करते हुए स्वतन्त्र रूप से कोई कार्य करने में असमर्थ हो जाता है। यह स्थिति अत्यन्त दुःखदायी एवं अवांछित है। यह प्रेतात्मा के आवेश में सम्पूर्ण बन्धन की स्थिति है। आत्मा के ऊपर तिरोधान शक्ति के रूप में ईश्वर का प्रभाव इस प्रकार का बन्धन एवं अनभिप्रेत स्थिति उत्पन्न नहीं करती। आत्मचैतन्य से चित्-शक्ति का सम्बन्ध प्रज्ज्वलित दीपक से अन्य दीपक को जलाने की तरह है। केवल यही नहीं, आत्मरूपी दीपक प्रज्ज्वलित होकर अनन्त प्रकाश में निमज्जित हो जाता है। वरन इसे ऐसा कहना चाहिए कि अनन्त, असीम, चित्-शक्ति आत्मा को अपना स्वरूप प्रदान करती हुई उसे सीमित सापेक्षता से असीमता में अन्तर्भूत कर लेती है। अज्ञानता के आवरण से जो आत्म चैतन्य संकुचित, सीमित एवं आवृत्त था, चित्-शक्ति के प्रकाश से वही अपनी सीमा परिधि एवं आवरण-बन्धन से मुक्त होकर अनन्त-चैतन्य में निमज्जित हो जाता है। वैयक्तिक सत्ता के रूप में आणवाधृत होने के कारण आत्म-तत्त्व की स्वतन्त्रता क्षुण्ण थी। वास्तव में मलाधृत होकर आत्मा अचेतनवत् रहती है। चित्-शक्ति ही सृष्टि के माध्यम से आत्मा को माया एवं कर्म को

प्रदान करती हुई क्रियाशीलता में आबद्ध कर देती है। माया एवं कर्म-पाश के द्वारा विभिन्न अनुभवों के माध्यम से आत्मा ईश्वर द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रता का ही उपयोग करती है। अन्तर्यामी चित्-शक्ति की प्रेरणा से वह क्रमशः ज्ञान की व्यापक से व्यापकतर परिधि को प्राप्त करती है। चित्-शक्ति अन्तर्लीन होकर अप्रकाशित रहकर आत्मा को आन्तरिक रूप से अध्यात्मिक उत्कर्ष की ओर अनुप्राणित करती रहती है जो प्रेत के द्वारा आक्रान्त होने से सम्पूर्ण रूप से भिन्न स्थिति है। प्रेत के द्वारा आक्रान्त व्यक्ति अचानक उसके नियन्त्रण में आकर अपना सुध-बुध एवं सारी स्वतन्त्रता खोकर प्रेत के अधीन हो जाता है। प्रेत से आविष्ट होकर कोई भी कार्य करने को बाध्य होता है। सबसे दुःखद बात यह है कि व्यक्ति अपनी इस अवांच्छित, दुःखदायी, परतन्त्र, स्थिति के बारे में अनभिज्ञ रहता है। जबकि चित्-शक्ति की प्रेरणा से आत्मा निरन्तर अपनी ज्ञान-प्रकाशकता के विकास के सम्यक् बोध को प्राप्त करती रहती है। अनन्त-ज्ञान के स्पर्श से आत्मा का ज्ञान अपनी अज्ञानता-जनित संकुचित परिधि को तोड़ता हुआ निरन्तर विकसित होता है–आत्मा अपने स्वरूप की इस गहनता एवं व्यापकता रूपी उपलब्धि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करती है। चित्-शक्ति की अन्तःप्रेरणा से जब अज्ञानता का अन्धकार दूर हो जाता है तब् आत्मा अपनी पूर्व-स्थिति एवं वर्तमान स्थिति का तुलनात्मक सम्यक् ज्ञान प्राप्त करती है। यह आत्म-चैतन्य की निरन्तर व्यापक से व्यापकतर एवं आबद्ध स्थिति से मुक्त स्थिति को प्राप्त करने की उपलब्धि है। इस उपलब्धि में आत्मा क्रमशः पाश-मुक्त होती हुई ईश्वर-कृपा से ईश्वर-चैतन्य में सम्मिलित हो जाती है। ईश्वर परम-शुभ है। इसलिए ईश्वर-चैतन्य के साथ अभेदता को प्राप्त करना आत्मा के लिए मलावरण से मुक्त होकर पूर्ण स्वतन्त्रता को प्राप्त करना है। इसके विपरीत प्रेत आक्रान्त व्यक्ति स्वतन्त्रता को प्राप्त नहीं कर सकता वरन् प्रेत के अधीन होकर अशुभ कार्य करने के लिए बाध्य होता है। सबसे दुःखदायी एवं हानिकारक बात यह है कि प्रेताक्रान्त व्यक्ति अपनी दुर्दशा एवं परतन्त्रता के बारे में सम्पूर्ण रूप से अनभिज्ञ रहता है। जिससे अपनी स्थिति में सुधार लाने में असमर्थ भी रहता है। इस स्थिति से मुक्त होकर स्वतन्त्र उच्चतर स्थिति में जाने की कोई सम्भावना नहीं रहती। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का कोई उपयोग नहीं कर सकता है। चित्-शक्ति की प्रक्रिया सम्पूर्ण रूप से विपरीत धर्मी है। चित्-शक्ति जो पूर्ण-ज्ञान एवं बन्धन रहित पूर्ण स्वतन्त्रता है, आत्मा में अन्तस्थ होकर अन्तःप्रेरणा प्रदान करती है जिससे चित्-स्वरूप आत्मसत्ता का विकास होता है। यह विकास ज्ञान का विकास है। मलाधृत आत्मा का ज्ञान संकुचित् रहता है। अनन्त ज्ञान-स्वरूप, पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता चित्-शक्ति के स्पर्श से अज्ञानता का आवरण दूर होता जाता है जिससे आत्म-सत्ता, ज्ञान एवं स्वतन्त्रता के दृष्टिकोण से विकसित होती जाती है। मलावरण से उत्पन्न संकुचित कुण्ठा को दूर करने के लिए निर्मल चित्-शक्ति ही एकमात्र उपाय है। सर्वव्यापक चित्-शक्ति आत्म सत्ता में अनुस्यूत होकर एवं विश्व-

प्रपंच में विद्यमान होकर आत्मा की ज्ञान शक्ति के विकास के लिए सतत् सहायता प्रदान करती है। तभी आत्मा मलावरण से मुक्त होकर अकुण्ठित स्वतन्त्रता को प्राप्त करती है। अत: यह स्पष्ट है कि चित्-शक्ति आत्मा के आत्म-विकास में जो सहयोग प्रदान करती है और अन्ततः उसे पूर्ण सत्य-ज्ञान एवं पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करती है, जिसे आत्मा सचेतन रूप से ग्रहण करती हुई सच्चिदानन्द के अनन्त आनन्द स्वरूप चैतन्य सत्ता से अभेद हो जाती है। उक्त स्थिति में आत्मा को अनन्त ज्ञान, अनन्त व्यापकता एवं स्वतन्त्रता का आनन्दानुभव प्राप्त होता रहता है। इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि मोक्षवस्था में आत्मा जब ईश्वर तत्त्व से अभेद हो जाती है तब यद्यपि वह ईश्वरानन्द का अनुभव प्राप्त करती रहती है परन्तु ईश्वर द्वारा प्रतिपादित पंचकृत्य का सम्पादन नहीं करती। पंचकृत्य ईश्वर का ही अपना कार्य है जिसे सम्पादित करने के लिए केवल ईश्वर तत्त्व ही अधिकारी एवं समर्थ है। कृपा ही ईश्वर का स्वरूप है। पंचकृत्य कृपा स्वरूपता के ही प्रकाशन है। आत्मा को अज्ञानान्धकार से मुक्ति दिलाने के लिए ईश्वर सृष्टि करता है जो आत्मा के प्रति ईश्वर की अपार करूणा की अभिव्यक्ति है। ईश्वर शक्ति सृष्टि में अन्तर्भूत रहकर आत्मा को निरन्तर ईश्वराभिमुखी होने में सहायता प्रदान करती है, जिससे आत्मा आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में क्रमशः अग्रसर होती है। प्रलय आत्मा को माया-कर्म के पाश से कुछ समय के लिए विश्रान्ति प्रदान करने के लिए ईश्वर-कृत्य है। तिरोधान एवं अनुग्रह ईश्वर-कृपा की समयोचित् अभिव्यक्ति है। तिरोधान शक्ति के रूप में अपने को अप्रकाशित रखती हुई चित्-शक्ति ही आत्मा को पूर्ण ईश्वर-कृपा प्राप्त करने में समर्थ बनाती है। पंचकृत्य ईश्वर की कृपा स्वरूप की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं जो केवल ईश्वर के ही अधिकार में हैं।

पद नं. ७७

भावानुवाद

यदि प्रेत किसी (विकलांग) अपंग व्यक्ति पर आक्रमण करता है तब क्या होता है? उसी प्रकार से जो अन्तर्निहित ज्ञान में निमग्न हो जाता है वह (ज्ञान अथवा कृपा) अन्तस्थ होकर उसे (आत्मा को) आकार प्रदान करता है एवं उसकी (ईश्वर की) इच्छानुसार कार्य में प्रवृत्त करते हुए अपना बना लेता है।

उक्त पद में श्री उमापति पूर्व प्रसंग की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यदि किसी अपंग, अपाहिज व्यक्ति के ऊपर प्रेत का आक्रमण होता है तब वह व्यक्ति अपने असहाय पंगुत्व को लेते हुए प्रेत के नियन्त्रण में हो जाता है। उसे और भी कष्ट होने लगता है क्योंकि प्रेत-प्रभाव एक अशुभ प्रभाव है। प्रेत व्यक्ति को अशुभ की ओर प्रेरित करता हुआ व्यक्ति को उसकी स्वाभाविक स्थिति से और अधिक कष्टदायक स्थिति में ले जाता है। व्यक्ति

असहाय एवं अज्ञानी होकर प्रेत के निर्देशानुसार अशुभ एवं कष्टदायक कार्य को करता रहता है प्रेत अपनी प्रवृत्ति के अनुसार व्यक्ति का संचालन करता है। व्यक्ति को उसके शुभ-अशुभ दृष्टिकोण से परिचालित नहीं करता। प्रेत-प्रभाव से व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता को खोकर प्रेत के अधीन हो जाता है एवं प्रेत के इच्छानुसार सतत् अशुभ की ओर प्रेरित होकर दु:खदायी स्थिति को प्राप्त करता है। उक्त स्थिति सर्वथा अवांच्छित है। इसके विपरीत चित्-शक्ति, जो कि परम शुभ है आत्मा मे अन्तर्निहित होकर उसे सतत् सत्य की ओर प्रेरित करती है। चित्-शक्ति के प्रभाव से आत्मा से अज्ञानता का आवरण क्रमश: दूर होता जाता है एवं आत्मा सत्य-ज्ञान के प्रकाश से उद्भासित हो उठती है। आणवाधृत आत्मा जड़वत् स्थिति में अपंग अपाहिज की तरह पड़ी रहती है। चित्-शक्ति अज्ञानता रूपी आवरण को दूर करती हुई आत्मा के स्वरूप-ज्ञान को उद्भासित करती है। तब आत्मा कुण्ठित संकुचित स्थिति से मुक्त होकर प्रज्ज्वलित ज्ञान प्रकाश के रूप में निरन्तर व्यापकता को प्राप्त करती रहती है। चित्-शक्ति की अन्त:प्रेरणा से अज्ञानाच्छादित अपंग स्थिति से आत्मा पूर्ण-ज्ञान प्रकाश की स्थिति में आ पहुँचती है। चित्-शक्ति की अन्त: प्रक्रिया के बिना आत्मा के लिए उक्त अशक्त स्थिति से मुक्त होना कदापि सम्भव नहीं है। अत: उमापति कहते हैं कि प्रेताक्रान्त व्यक्ति से चित्-शक्ति के द्वारा प्रभावित व्यक्ति की कोई तुलना नहीं हो सकती है। ये दोनों स्थितियाँ विपरीत धर्मी है। चित्-शक्ति आत्मा को अशुभ से शुभ की ओर, अज्ञानता से ज्ञान की ओर, संकोचन से व्यापकता की ओर, बन्धन से मोक्ष की ओर, असत्य से सत्य की ओर ले जाती है, जबकि प्रेताक्रान्त व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता, ज्ञान, चेतना एवं प्रगतिशीलता सभी खो देता है। चित्-शक्ति आत्मा में अन्तस्थ होकर आत्मा को स्वतंत्र रूप से विकसित होने में समर्थ वनाती है जबकि प्रेताकान्त व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता के अनुभव से ही वंचित हो जाता है। चित्-शक्ति आत्मा को क्रमश: मुक्त स्वतन्त्रता का अनुभव करवाती है जिससे आत्मा अज्ञानता जनित सीमा परिधि को तोड़ती हुई व्यापक से व्यापकतर ज्ञान-प्रकाशमय स्थिति को प्राप्त करती है। चित्-शक्ति की कृपा से ही आत्मा अज्ञानता जनित सब अशक्तियों से मुक्त होकर पूर्ण-ज्ञान शक्ति मे निमज्जित होकर आनन्दानुभव को प्राप्त करती है। यह प्रक्रिया आत्मा से अज्ञान जनित सभी संकोचन को दूर करती हुई उसे अपना वना लेने के लिए ही होती है। आत्म-तत्त्व ज्ञान-तत्त्व हैं परन्तु आणवाधृत होने के कारण ज्ञान सम्पूर्ण रूप से आच्छादित रहता है। आत्मा स्वत: अपने प्रयास से इस आच्छादन को हटा नहीं सकती क्योंकि अज्ञानता को दूर करने के लिए सत्य-ज्ञान की आवश्यकता है। अज्ञानता रूपी आवरण के द्वारा आत्मा की अपनी ज्ञानसत्ता आवृत्त रहती है तब आत्मा कैसे अज्ञानता के आवरण को दूर कर सकती है? अत: यह स्पष्ट है शिव-ज्ञान ही अज्ञानता को दूर करने के लिए एकमात्र उपाय है। परम कृपालु ईश्वर स्वत: ही उक्त अवश्यम्भावी उपाय को पंचकृत्य के रूप में प्रदान करता

है अन्यथा आत्मा के लिए मोक्ष प्राप्त करना कदापि सम्भव नहीं होता। अन्तर्यामी चित्-शक्ति की प्रेरणा से आत्मा जब सत्य ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ होती है तब ईश्वर की कृपा पूर्ण रूप से प्रकाशित होकर आत्मा को अपने में निमज्जित कर लेती है। यही ईश्वर का आत्मा को अपना लेना है। ईश्वर यदि स्वयं कृपा परवश होकर आत्मा को अपने में आश्रय नहीं देता तब अपने प्रयास से ईश्वर को प्राप्त करना उसके लिए कदापि सम्भव न होता।[१]

पद नं. ७८

भावानुवाद

इस स्थिति में कलादि तत्त्व की विद्यमानता से आत्मा बोध को प्राप्त करती है। जब मूल-मल दूर हो जाता है, तब यह (आत्मा) कृपा में आश्रित हो जाती है, जिससे उसे स्वरूप-ज्ञान प्राप्त होता है, और उसमें सर्वव्यापक शिवानंद प्रकाशित होता है।

उक्त पद में श्री उमापति अध्यात्मिक उपलब्धि के तीन स्तरों का वर्णन कर रहे हैं–

(१) आत्म दर्शन (२) आत्म शुद्धि एवं (३) आत्मलाभ

सृष्टि प्रपंच में आत्मा माया कर्म से संयुक्त होकर तनु, करण, भुवन, भोग इन विभिन्न तत्त्वों के अनुभवों को प्राप्त करती है। चित्-शक्ति की अन्तःप्रेरणा से इन अचेतन तत्त्वों के सम्यक्-ज्ञान को प्राप्त करती हुई आत्मा अपने स्वरूप का अन्वेषण करती है। तत्त्वतः आत्मा चित्-सत्ता है, मलावरण के कारण उसका चैतन्य आवरित रहता है। अज्ञानता से आबद्ध होने के कारण आत्मा को अपने स्वरूप का कोई बोध नहीं होता, एवं विश्व प्रपंच के अचेतनत्व की भी कोई प्रतीति नहीं होती। अन्तर्यामी चित्-शक्ति के प्रभाव से माया-कर्म से संयुक्त होकर आत्मा निरन्तर विभिन्न अनुभवों को प्राप्त करती है जिससे क्रमशः अनुभूत विषयों के स्वरूप ज्ञान को भी प्राप्त करती है। अज्ञानता का बन्धन ईश्वर कृपा से क्रमशः शिथिल होता जाता है तदनन्तर ऐसी स्थिति आती है, जब आत्मा को माया प्रसूत विभिन्न तत्त्वों की अचेतनता एवं निःस्सारता का बोध उत्पन्न होता है। इस स्थिति को तत्त्व शुद्धि कहते हैं, जबकि आत्मा जड़ तत्त्व को अचेतन जड़ के रूप में ही समझती है एवं अज्ञानता जनित मोह से मुक्त होकर सांसारिक विषयों के प्रति अनासक्त हो जाती है। तत्त्व शुद्धि की इस स्थिति में ही आत्मदर्शन होता है और आत्मदर्शन स्वरूप के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए आत्मा की उन्मुखता अनिवार्य है। आत्मा क्रमशः चित्-

---

१. नायमाला प्रवचनेन लभ्यों न मेधना न बहुना श्रुतेन।
यमेवैव वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वान्॥ कठोपनिषद २.२.२२

शक्ति के सहयोग से अपने चैतन्य स्वरूप के बोध को प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो जाती है जैसे–तिरोधान शक्ति की प्रक्रिया से तत्त्व के सम्यक् ज्ञान को प्राप्त कर आत्मा तत्त्व-शुद्धि की स्थिति से आत्मदर्शन की स्थिति में उन्नीत होती है, उसी प्रकार तिरोधान शक्ति की अन्तःप्रेरणा से ही आत्मा 'अहंकार' एवं 'ममकार' से मुक्त हो जाती है। अहंकार तत्त्व के आवरण से आत्म-स्वरूप आवरित रहता है उस आवरण को दूर करने के लिए ईश्वर-कृपा ही एकमात्र उपाय है। जैसे-जैसे आत्मा अपने को शिव-शक्ति में विलीन करती जाती है, वैसे-वैसे अज्ञानता रूपी आवरण दूर होकर आत्म-स्वरूप स्वतः प्रकाशित होता जाता है। यह एक अत्यन्त विशिष्ट बात है कि आत्मा में जितना अधिक चित्-शक्ति का प्रकाश होता है उतना ही अधिक आत्मा, आत्म ज्ञान को प्राप्त करती है। अहंकार एवं ममकार ही वह बन्धन हैं जिसके कारण आत्मा चित्-शक्ति के साथ अबाध रूप से सम्मिलित नहीं हो सकती। अहंकार एवं ममकार से मुक्त होने का उपाय भी चित्-शक्ति ही है अतः सर्व-कर्त्तृत्व-सम्पन्न चित्-शक्ति के प्रति आत्मसमर्पण ही अन्तिम साधन है। पूर्ण समर्पण से पूर्णता की प्राप्ति होती है। जैसे-जैसे आत्मा आत्मसमर्पण करती है वैसे-वैसे करण इत्यादि से उसका सम्बन्ध शिथिल होता जाता है और क्रमशः माया जनित विषयों से असम्बन्धित होकर आत्मा जब सम्पूर्ण रूप से शिव-शक्ति के शरण में आ जाती है तब अज्ञानता जनित बन्धनों का अन्त हो जाता है। आत्मा अबाधित रूप से चित्-शक्ति पर आश्रित होकर शिवानन्द को प्राप्त करती है। यह आत्म-लाभ की वह स्थिति है जिसमें आत्मा को शिव-चैतन्य का अभेद-रूप में आत्म-बोध होता है। आत्म-लाभ की उक्त स्थिति की पूर्वावस्था आत्म शुद्धि कहलाती है जब अज्ञानता एवं अचेतन तत्त्व जनित बाधाएँ क्रमशः दूर होती है। आत्मशुद्धि की पूर्णता से ही आत्म चैतन्य अबाधित रूप से शिव-चैतन्य में निमग्न होकर शिवानन्द का अनुभव करती है जो आत्म-लाभ कहलाता है। ईश्वर चैतन्य ही आत्म चैतन्य का आश्रय है एवं आत्म सत्ता में ईश्वरानन्द का अनुभव ही आत्म लाभ है।

पद नं. ७९

भावानुवाद

वे जो ईश्वर-कृपा को प्राप्त करते हैं ईश्वर की तरह प्रतीत नहीं होते तो इसका क्या कारण है? पहले हमने उन्हें ऐसा देखा नहीं है (क्योंकि वे पाशयुक्त थे)। पुनः ईश्वर-कृपा के द्वारा भी वह (आत्मा) ईश्वर को देख नहीं सकती। वह (आत्मा) उनके चरण कमल को प्राप्त करने के मार्ग को जान नहीं सकती।

आत्मा चैतन्य-स्वरूप एवं अनेक है। मलाधृत स्थिति में अज्ञानता के आवरण से

उसका ज्ञान आवृत्त रहता है। ईश्वर कृपा से क्रमशः वह आवरण दूर होता जाता है एवं आत्मा अपने स्वरूप-ज्ञान को प्राप्त करती हुई ईश्वर से अभिन्नता का अनुभव करती है। ईश्वर की कृपा ही सर्वोच्च स्थिति अर्थात् मोक्षावस्था को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। ईश्वर कृपा स्वरूप है; वही दाता है, आत्मा उसी कृपा की ग्रहीता है। सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर अनन्त-चैतन्य एवं आनंदघन सत्ता है। आत्मा ईश्वर की कृपा के द्वारा ही उस अनन्तानन्द में सम्मिलित हो सकती है। ईश्वर पूर्ण सत्ता है। आत्मा ईश्वर को प्राप्त कर पूर्ण होती है। सर्वव्यापक चैतन्य सत्ता में विद्यमान होना ही आत्मा की परम उपलब्धि है। ईश्वर निर्मल तत्त्व है। आणव मल उसकी अनन्त चैतन्य-स्वप्रकाशता को प्रभावित नहीं कर सकता वरन् स्वयं ही शक्ति-हीन और निष्प्रभ हो जाता है। आत्मा ही आणवाधृत होकर अज्ञानान्धकार में अचेतनवत् रहती है। ईश्वर-कृपा से ही मलावरण दूर हो जाता है एवं चैतन्य स्वरूप उद्भासित होता है। अतः यह स्पष्ट है कि आत्मा चित्-सत्ता होने पर भी कदापि ईश्वर के समतुल्य नहीं हो सकती है। उसका चैतन्य आणवाधृत हो जाता है। परमसत्ता ईश्वर को, आणव प्रभावित नहीं कर सकता। आत्मा चित्-स्वरूप होने पर भी अपने प्रयास से आत्म-चैतन्य का विकास नहीं कर सकती। जबकि चित्-शक्ति स्वतः प्रकाशित होती है एवं आत्मा को भी प्रकाशित करती है। चित्-शक्ति सर्वव्यापी पूर्ण-सत्ता है। अतः वह दाता है और आत्मा ग्रहीता है। चित्-शक्ति के सहयोग से आत्मा सापेक्षता से पूर्णता को प्राप्त करती है। ईश्वर प्रज्ज्वलित चैतन्य है। जबकि आत्मा ईश्वर चैतन्य के स्पर्श से प्रज्ज्वलित होती है एवं ईश्वर में निमज्जित होकर अनन्तता को प्राप्त करती है। पूर्ण-सत्तात्मक सच्चिदानन्द पंचकृत्य का अधिकारी है जो आत्मा को अज्ञानान्धकार से उद्धार करने के लिए स्वतः प्रवृत्त होकर आत्मा का उद्धार करता है। अतः यह स्पष्ट है कि ईश्वर-कृपा से आत्मतत्त्व अज्ञानता से मुक्त होकर ईश्वर-चैतन्य से अनन्य एवं अभेद हो जाने पर भी ईश्वर के समतुल्य नहीं हो सकता। ईश्वर ही आधार है, आश्रय है, एवं अनन्त है। ईश्वर कृपा ही आध्यात्मिक उपलब्धि का एकमात्र उपाय एवं आश्रय है। ईश्वर-कृपा से ही ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। दूसरा और कोई साधन नहीं हो सकता। आत्मा स्वतः अपने प्रयास से विषय-ज्ञान एवं आत्म-ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकती। इस अचेतनता से वह स्वयं मुक्त नहीं हो सकती। ईश्वर कृपा से ही वह माया-कर्म से सम्बद्ध होकर क्रमशः अनुभवों के माध्यम से विषय-ज्ञान को प्राप्त करती है। आत्मा अचेतन विषयों से विमुख होकर चैतन्य सत्ता की ओर उन्मुख होती है एवं ईश्वर-कृपा से चित्-सत्ता के रूप में उसे आत्म-ज्ञान होता है जिसे पशु-ज्ञान कहते हैं। चित्-शक्ति के ही पूर्ण प्रकाशन से आत्मा ईश्वर-तत्त्व से अभिन्न होकर ईश्वरानन्द का अनुभव करती है, अतः यह स्पष्ट है कि आणवाधृत आत्मा को मुक्ति प्रदान करने के लिए ईश्वर कृपा ही एक मात्र उपाय है। आत्मा स्वतः अपने प्रयास से कदापि ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकती।

पद नं. ८०—आत्म लाभ

भावानुवाद

वे जिन्होंने प्रकाश को प्राप्त किया (अर्थात् ज्ञान प्राप्त किया), तत्त्वों से परे विद्यमान रहते हैं अर्थात् असंयुक्त, अप्रभावित रहकर ज्ञान सम्पन्न रहते हैं। कृपा से सब कर्मों को दूर करते हुए ज्ञान प्रकाशित होता है एवं वह (आत्मा) जाग्रतातीत स्थिति में अवस्थित रहती है।

सृष्टि के प्रारम्भ से ही अनादि काल से शिव-शक्ति आत्मा एवं बाह्य विषयों में अनुस्यूत रहकर ज्ञान प्रदान करती है। चित्-शक्ति के सहयोग से आत्मा अनेक अनुभवों के माध्यम से माया-प्रसूत तत्त्वों की निःस्सारता एवं असत्यता के बोध को प्राप्त करती है एवं क्रमशः सत्य ज्ञान के अन्वेषण में ईश्वराभिमुख होती है। जैसे-जैसे आत्मा सत्य ज्ञान की प्राप्ति में एकाग्रचित्त हो जाती है, वैसे-वैसे शिव-शक्ति अधिक से अधिक प्रकाशित होती रहती है। शिव-शक्ति की प्रेरणा से वह अचेतन पाश-युक्त विषयों से निर्लिप्त उदासीन होकर ज्ञान-शक्ति को ही आश्रय बनाती है, जिससे अचेतन तत्त्वों के पाश युक्त प्रभाव से मुक्त होकर चेतन ज्ञान-प्रकाश में विद्यमान हो जाती है अर्थात् शिव-शक्ति बाह्य प्रकाश के सम्यक् ज्ञान को प्रदान करती है एवं आत्मा को उसके प्रति निर्लिप्त बना देती है। उदासीन कामना रहित, ज्ञान के अन्वेषण में उन्मुख आत्मा प्रपंच के विषयों में विद्यमान होने पर भी उनसे असम्बद्ध एवं अप्रभावित रहती है। निष्काम स्थिति के परिपक्व होने से ही कर्मबन्धन छूट जाता है। कामना ही कर्मबीज है जो निरन्तर अंकुरित एवं पल्लवित होता रहता है। कामना का अन्त होना ही कर्म-बन्धन का क्षय है। आत्मा जब विश्व प्रपंच के सम्यक्-ज्ञान को प्राप्त करती है तब इन निरर्थक संज्ञानों एवं पाश-रूपी विषयों से उदासीन हो जाती है। चित्-शक्ति के सहयोग से ही आत्मा में इस सत्य विषयक ज्ञान का आविर्भाव होता रहता है एवं आत्मा सचेतन रूप से चित्-शक्ति की इस महिमा की उपलब्धि को प्राप्त करती है। तदनन्तर आत्मा सम्पूर्ण रूप से ईश्वर-कृपा पर निर्भरशील हो जाती है। शिव-कृपा के पूर्ण प्रकाशन से आत्मा का पाश-बन्धन तिरोहित हो जाता है एवं उसके पशुत्व का नाश हो जाता है। तब वह सच्चिदानन्द से अभेद-सत्ता के रूप में अपने स्वरूप-ज्ञान को प्राप्त करती है। शिव-शक्ति में निमज्जित होकर आत्मा आत्मलाभ की स्थिति को प्राप्त करती है। जब-तक पाश रूपी बन्धनों के प्रभाव द्वारा लेश-मात्र पशुत्व विद्यमान रहता है, तव तक आत्मा को आत्म-ज्ञान नहीं हो सकता। शिव-चैतन्य में आत्म समर्पण करने से ही आत्म-लाभ होता है। उक्त विवेचन आपात दृष्टि से यद्यपि विरोधात्मक प्रतीत होता है, तथापि यही वास्तविक सत्य है। शिव-शक्ति अनन्त-स्वप्रकाश-चैतन्य शक्ति है अतः उसके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण से ही पशुत्व का नाश हो

सकता है, अन्यथा असम्भव है। पाश-युक्त आत्मा ही पशु है। पाश-बन्धन खण्डित न होने से आत्मा कदापि सच्चिदानन्द में अवस्थित नहीं हो सकती। पाशों में कर्म-पाश प्रपंच, विषयों के सम्यक् ज्ञान से निष्काम-भाव की परिपक्वता के आने पर स्वत: समाप्त हो जाता है। जैसे बीज को भून देने से उसमें पेड़ उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो जाती है, माला के सूत्र काट देने से सभी मोतियाँ बन्धन रहित होकर अलग हो जाती है, उसी प्रकार कर्म वासना-रहित हो जाने पर आगे और कर्म को उत्पन्न नहीं कर सकते तब साधक द्वारा किये गये निष्काम कर्म बन्धन रहित होकर स्वतन्त्र एवं अलग हो जाते हैं, आत्मा को पाशबद्ध नहीं कर सकते। निष्काम स्थिति माया-प्रसूत प्रपंच के सम्यक् ज्ञान से आती है एवं आत्मा इन विषयों के प्रति सम्पूर्ण रूप से उदासीन हो जाती है तब माया भी उसे बाँध नहीं सकती। इन दो पाशों में आत्मा, शिव-शक्ति की आवरित कृपा 'तिरोधायी' के सहयोग से, मुक्त होती है एवं शिव-शक्ति के प्रति सम्पूर्ण आत्म-समर्पण से अन्तिम तथा सबसे शक्तिशाली बन्धन अभिमान "मैं एवं मेरे' की अनुभूति से मुक्त हो जाती है। वही पूर्णता की प्राप्ति के पूर्ण ज्ञान की स्थिति है। अभिमान इस पूर्णता में अवरोधक-तत्त्व है। अहं भाव का त्याग ही आत्म त्याग है एवं आत्म-त्याग ही आत्म पूर्णता है। उक्त स्थिति निद्रा, जागरण, स्वप्न, सुषुप्ति इत्यादि से परे है। यह ईश्वर से अनन्त संयोग की चैतन्यावस्था है। शिव-शक्ति अर्थात् ईश्वर कृपा ही एकमात्र उपाय है। आत्मा शिव कृपा के द्वारा ही मलान्धकार से मुक्त होकर अनन्त-ज्ञान में निमज्जित हो जाती है एवं पूर्णता को प्राप्त करती है। यही आत्मा की आणवाधृत स्थिति से मुक्त होकर आत्मलाभ की स्थिति को प्राप्त करना है।

पद नं. ८१

भावानुवाद

तत्त्व जो आत्मा से सम्बद्ध हैं, विलीन नहीं होते। तत्त्वज्ञान से, नियन्त्रण से विलीन होते हैं। यदि आत्मा उससे (ज्ञान प्रकाश से) सम्बद्ध नहीं होती, तो सब करण सम्बद्ध हो जाते, एवं ज्ञान तिरोहित हो जाता। दूसरे से (ज्ञान प्रकाश से) मिले बिना सत्य को जाना नहीं जा सकता।

उक्त पद में श्री उमापति आत्मतत्त्व एवं माया से उत्पन्न जगत प्रपंच के सम्बन्ध का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। सृष्टि में माया से उत्पन्न विभिन्न तत्त्वों का आत्मा से सम्बन्ध रहता है, परन्तु ये तत्त्व आत्मा में विलीन नहीं होते, न तो आत्मा ही इनमें विलीन होती है, क्योंकि स्वरूपत: ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। आत्म-तत्त्व चेतन तत्त्व है एवं माया से उत्पन्न सभी तत्त्व अचेतन हैं अत: इनको परस्पर एक-दूसरे में विलीन होने की कोई सम्भावना नहीं होती। चित्-शक्ति से प्रेरित होकर ये दोनों तत्त्व परस्पर सम्बद्ध होते हैं।

यह सम्बद्धता निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए होती है। आत्मा के लिए सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करते हुए इन तत्त्वों के ऊपर नियन्त्रण प्राप्त करना आवश्यक है, अर्थात् आत्मा को माया से उत्पन्न सभी तत्त्वों की साधन-रूपता का बोध होना चाहिए। अज्ञानता के अन्धकार को दूर करते हुए सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए ये सभी तत्त्व आत्मा के लिए साधन के रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं। इनके उचित उपयोग से आत्मा क्रमशः आध्यात्मिक उत्कर्ष की ओर प्रगति कर सकती है। माया तत्त्व (प्रकृति माया) से उत्पन्न सभी विषय त्रिगुणात्मक, राग एवं मोह को उत्पन्न करने वाले हैं अतः स्वभावतः ये आत्मा को विषय से विषयान्तरित करते रहते हैं, परन्तु सृष्टि प्रक्रिया मे अन्तर्भूत सर्वव्यापक चित्-शक्ति के कारण आत्मा को भ्रमित करने में सम्पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पाते। चित्-शक्ति ही सृष्टि का निमित्त कारण है, जिसकी प्रेरणा से सृष्टि के तत्त्वों में प्रकाशकत्व उद्भासित होता है एवं यही कारण है कि सांसारिक विषयों के उपभोग के साथ ही आत्मा में सम्यक् ज्ञान का प्रकाश भी आता है। अर्थात् आत्मा क्रमशः माया प्रसूत सांसारिक विषयों की निःस्सारता के बोध को प्राप्त करती है एवं सत्यता, स्थायित्व तथा तत्त्व ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ईश्वराभिमुख होती है। चित्-शक्ति अर्थात् ईश्वर-कृपा की सर्वव्यापकता के कारण ही आत्मा में तत्त्वज्ञान का अनुसन्धान करने की प्रवृत्ति का उन्मेष होता है, जिससे इन अचेतन पदार्थों से आत्मा की सम्बद्धता क्रमशः शिथिल होती जाती है। आणवाधृत आत्मा यद्यपि अज्ञानता से आवृत्त रहती है, तथापि चित्-शक्ति के प्रकाश से अज्ञानता का वंधन शिथिल हो जाता है। चित्-शक्ति ही आत्मा को अचेतन माया से उत्पन्न विषयों से सम्बन्धित करती हुई इन विषयों के सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करती है। चित्-शक्ति के सहयोग से आत्मा प्रथमतः सांसारिक विषयों के उपभोग को प्राप्त करती है, द्वितीयतः चित्-शक्ति की कृपा से ही इन विषयों की निःस्सारता का अनुभव करते हुए सत्य की ओर प्रेरित होती है अतः स्पष्ट है कि सांसारिक उपभोग यदि तत्त्व ज्ञान से प्रेरित होते हैं तो उपभोग के विषय तथा करण इत्यादि भी नियन्त्रित होते हैं। अन्यथा मलावृत आत्मा तनु, करण, भुवन, भोग में लिप्त हो जाती है। अज्ञानता के अन्धकार से प्रेरित होकर आत्मा सख्त वन्धन से आबद्ध हो जाती है एवं अचेतन विषयों में दिशाहीन होकर भ्रमित होती रहती है। आत्मा की यह स्थिति अवांछित, अनभिप्रेत एवं अत्यन्त दुःखदायी है परन्तु परम कृपालु ईश्वर आत्मा को इस स्थिति में रहने नहीं देता। उसकी चैतन्य शक्ति के प्रभाव से आत्मा का आत्म-चैतन्य जागृत होता है एवं सत्य ज्ञान की उत्पत्ति होती है, जिससे सभी विषयों के सम्यक-दर्शन होते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि यदि आत्मा, मायातत्त्व-प्रसूत अचेतन पदार्थों में लिप्त रहती है तो अज्ञानता के अन्धकार के कारण ये तत्त्व भी आत्मा को सशक्त रूप में आबद्ध कर लेते हैं। आत्मा स्वयं उनके बन्धन से मुक्त नहीं हो सकती। चित्-शक्ति की कृपा से ही आत्मा से इन अचेतन पदार्थों की संबद्धता

क्रमशः शिथिल होती जाती है एवं आत्मा सत्य ज्ञान से प्रेरित होकर इन विषयों के ऊपर नियन्त्रण प्राप्त करती है। आत्मा के नियंत्रण से तत्त्व अभिभूत रहते हैं। शैव सिद्धान्त के अनुसार पति-पशु-पाश ये तीन तत्त्व हैं। अतः किसी में किसी के विलीन होने का कोई प्रश्न नहीं उठता। पति सर्वज्ञानी एवं सर्वशक्तिमान है। पाश अज्ञानता जनित बन्धन है जो पति से कभी भी सम्बद्ध नहीं हो सकता। इन दोनों के मध्य पशु (आत्म तत्त्व) है, जो पाश से सम्बद्ध होने के कारण अचेतन-प्रायः होता है। ईश्वर की कृपा से ईश्वर द्वारा प्रतिपादित पंच-कृत्य के माध्यम से आत्मा ज्ञान प्रकाश को प्राप्त करती है। पाशबद्ध आत्मा सत्य ज्ञान से वंचित रहती है। चित्-शक्ति के ज्ञान प्रकाश के बिना आत्मा सत्य को स्पष्ट रूप से जान नहीं सकती। एकमात्र ईश्वर चैतन्य ही मलावरण को दूर करने में समर्थ होता है। अतः श्री उमापति कहते हैं कि अज्ञानाच्छादित आत्मा जब बाह्य विषयों से सम्बन्धित होती है तब उन विषयों का प्रभाव आत्मा के ऊपर पड़ता है, जिससे वह मोहाच्छन्न हो जाती है परन्तु चित्-शक्ति के ज्ञान प्रकाश से अज्ञानता का अन्धकार दूर हो जाता है एवं सत्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। उक्त स्थिति में सभी तत्त्व अपने मौलिक स्वरूप में जाने जाते हैं। आत्मा एवं माया, कर्म अनासक्त पृथक् स्थिति में रहते हैं। चित्-शक्ति के ज्ञान प्रकाश से ही आत्मा का आत्म-चैतन्य उद्भासित हो जाता है। सत्य ज्ञान को प्राप्त करते हुए वह ईश्वर-चैतन्य के साथ एकत्व की स्थिति में अवस्थित हो जाती है, तब माया तत्त्व विद्यमान रहते हुए भी अप्रभावित हो जाता है।

पद नं. ८२

भावानुवाद

प्रपंच के विषयों का ज्ञान प्राप्त करते समय आत्मा विभिन्नताओं से सम्बन्धित होती है। सत्य ज्ञान को, आत्म बोध को प्राप्त करने के लिए एक ही से सम्बन्धित होती है। सूर्य के ज्वलंत प्रकाश के समक्ष ये तत्त्व मृतप्रायः प्रतीत होते हैं। यदि वह (आत्मा) कृपा को प्राप्त करती है, तो ही माया के द्वारा उत्पन्न जन्मचक्र को दूर कर सकती है।

प्रपंच नानात्व युक्त है। माया रूपी उपादान कारण के द्वारा शिव-शक्ति विश्व प्रपंच को उत्पन्न करती है। सृष्टि प्रक्रिया में माया उपादान कारण, शिव-शक्ति निमित्तकारण है, जैसा पहले सूचित किया गया है। अनादि काल से आणवाधृत आत्मा अज्ञानता पाश में आबद्ध रहती है। सृष्टि के माध्यम से ईश्वर द्वारा आत्मा को तनु, करण, भुवन एवं भोग प्राप्त होते हैं। ये सभी माया से उत्पन्न परिवर्तनशील तत्त्व हैं। सृष्टि में ईश्वर आत्मा को कर्म भी प्रदान करता है अर्थात् माया एवं कर्म ये दोनों ही ईश्वर प्रदत्त है इसीलिए उपकारी है परन्तु ये तत्त्व पाश रूप होने के कारण ज्ञान प्रदान करने में असमर्थ है जैसा कि पूर्ववर्ती

पदों में बताया गया है चित्-शक्ति द्वारा प्रेरित होने के कारण ये तत्त्व आत्मा में आंशिक प्रकाशकत्व उत्पन्न करते हैं अर्थात् ये आत्मा के लिए ज्ञान प्राप्त करने में एक निश्चित सीमा तक ही सहायक सिद्ध होते हैं। शैव-सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया सोद्देश्यमूलक है। सृष्टि के माध्यम से आत्मा की अज्ञानता के प्रगाढ़ बन्धन क्रमशः शिथिल होते रहते हैं। इसीलिए सृष्टि, जो कि ईश्वर द्वारा प्रकाशित होती है, आत्मा के लिए महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है परन्तु माया से उत्पन्न होने के कारण सृष्टि प्रपंच मूलतः भेदमूलक एवं पाश-रूप है। यही कारण है कि प्रपंच के अनुभव अनेकात्मक एवं अज्ञान रूप हैं। सत्य-ज्ञान अभेद-ज्ञान है, जिसमें विश्व प्रपंच, आत्म तत्त्व एवं ईश्वर तत्त्व का सर्वसमन्वयात्मक अभेद, अद्वैत ज्ञान उत्पन्न होता है। पाश, रूप माया इस अभेद एवं अद्वैत ज्ञान को प्रदान करने में सर्वथा असमर्थ रहती है, क्योंकि वह अचेतन एवं भेद को उत्पन्न करने वाली है। केवल शिव-शक्ति ही अभेद ज्ञान को प्रदान कर सकती है क्योंकि वही एक मात्र सर्वव्यापक सत्ता है, जो विश्व प्रपंच में एवं आत्म तत्त्व में अनुस्यूत रहकर युगपद् बाह्य विषयों के सम्यक् ज्ञान एवं चित् तत्त्व के रूप में आत्म सत्ता के स्वरूप ज्ञान को उद्भासित करती है। चित्-शक्ति वह सर्वव्यापक ज्वलन्त ज्ञान-प्रकाश है जिसके आविर्भाव से अज्ञानता का अन्धकार सदा के लिए दूर हो जाता है। यही एकमात्र उपाय है जिससे आत्मा सत्य ज्ञान को प्राप्त करती है। ईश्वर शक्ति ही ईश्वर कृपा है, यद्यपि सम्पूर्ण विश्व प्रपंच एवं आत्माएँ उसी में विद्यमान रहती हैं परन्तु अज्ञानता के अंधकार के कारण आत्मा को उसकी प्रतीति नहीं हो पाती। चित्-शक्ति की अन्तःप्रेरणा से जब मलावरण शिथिल होता है, तब ज्ञान-प्रकाश ज्वलन्त सूर्य की तरह प्रकाशित हो उठता है एवं अज्ञानता का अन्धकार तिरोहित हो जाता है। अतः यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ईश्वर-चैतन्य उद्भासित होने पर अन्य तत्त्वों की क्या स्थिति होती है। श्री उमापति कहते हैं कि पाश तत्त्व जो आणव, माया, कर्म के समन्वित नाम है, नष्ट नहीं होते, अपितु उनकी बन्धन को उत्पन्न करने वाली शक्ति का नाश हो जाता है। वे तत्त्वतः विद्यमान रहते हैं परन्तु चित्-शक्ति के सर्वव्यापक प्रभाव से अभिभूत हो जाने के फलस्वरूप बन्धन उत्पन्न करने में असमर्थ रहते हैं। इसे ही श्री उमापति कहते हैं कि चित्-शक्ति के उज्ज्वल प्रकाश के समक्ष ये तत्त्व मृतप्राय प्रतीत होते हैं। शिव-शक्ति ही अनन्त शक्ति है, उसके आगे और कोई शक्ति प्रभावित नहीं कर सकती। जैसे सूर्य की किरण से आकाश के तारे अभिभूत हो जाते हैं एवं उनकी अपनी कोई ज्योति प्रतीत नहीं हो पाती उसी प्रकार माया इत्यादि, चित्-शक्ति के सर्व व्यापक उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश से अभिभूत एवं निष्प्रभ होकर निष्क्रिय रूप में विद्यमान रहते हैं। चैतन्य स्वभाव आत्मा, ईश्वर-चैतन्य से आप्लावित होकर सत्य ज्ञान को प्राप्त करती है। चित्-शक्ति ही परम चैतन्य, ज्ञान एवं कृपा है जिसके आविर्भाव से आणव प्रसूत अज्ञानता रूपी अन्धकार सदा के लिए दूर हो जाता है एवं आत्मा नित्य

शाश्वत ज्ञान मय स्थिति को प्राप्त करती है। जब तक सम्यक् रूप से चित्-शक्ति का प्रकाश प्राप्त नहीं होता है तब तक पाशों के प्रभाव से आत्मा अज्ञानता रूपी अंधकार से आच्छन्न रहती है जिससे आत्मा को जन्म मृत्यु के चक्र में आबद्ध रहना पड़ता है। चित्-शक्ति ही आत्मा को इस स्थित से परे ले जाने का एक मात्र उपाय है। यही ईश्वर कृपा है जिसे आत्मा ज्ञान के रूप में प्राप्त करती है एवं बन्धन रहित होकर ईश्वर चैतन्य में अवस्थित होती हुई, नित्य शाश्वत स्थिति को प्राप्त करती है।

उक्त पद में श्री उमापति आत्मा की मोक्षावस्था का स्वरूप एवं उस स्थिति में अन्य तत्त्वों से उसके सम्बन्ध का विवेचन करते हुए स्पष्ट करते हैं कि शिव-शक्ति, चित्-शक्ति अथवा कृपा शक्ति ही एकमात्र उपाय है जो पाश तत्त्वों को निष्प्रभ, शक्तिहीन करते हुए चैतन्य स्वरूप आत्म तत्त्व को सच्चिदानन्द से अभेदता, अद्वैतता एवं अनन्यता को प्रदान करती है। यही आध्यात्मिक जीवन का परम लक्ष्य एवं परम पद की प्राप्ति है।

पद नं. ८३

भावानुवाद

पूर्व जन्मों में जो एक के प्रति एकाग्र होकर चित्, धर्म ज्ञान-उपदेश को जो पहले सुना हुआ है उसे पुन: श्रवण करता एवं मनन (चिन्तन) करता है वही नि:सन्देह रूप से तत्त्व को समझ सकता है। स्वयं ईश्वर उसके पास आता है। जो निष्ठा को प्राप्त करता है एवं चार विषयों से संयुक्त होता है ऐसे भक्त ही मुक्ति को प्राप्त करने के योग्य होते हैं।

उक्त पद्य में श्री उमापति साधन-प्रक्रियाओं की निरन्तरता एवं उनमें अन्तर्निहित निष्ठा की आवश्यकता पर बल देते हुए कहते हैं कि साधक को एकाग्रचित, निष्ठावान् होकर निरन्तर साधन प्रक्रिया में मग्न रहना चाहिए। साधन प्रक्रिया के अन्तर्गत निष्ठा एवं एकाग्रता से ही साधक आध्यात्मिक ऊर्ध्व गति को प्राप्त करता है। साधन प्रक्रिया जन्म जन्मान्तर निरन्तर अबाध गति से चलती रहती है। साधक जीवन में जितनी निष्ठा, एकाग्रता एवं संकल्पशक्ति के साथ आध्यात्मिक जीवन का निर्वाह करता है उसे दूसरे जीवन में तदनुकूल संस्कार एवं वातावरण प्राप्त होते हैं, जिसमें वह और अधिक गहन निष्ठा तथा संकल्पशक्ति का प्रयोग करते हुए आध्यात्मिक प्रगति को प्राप्त करता है। अन्तर्यामी, सर्वशक्तिमान ईश्वर कर्मफल दाता है। अत: इसमें कोई संदेह नहीं कि साधक को उसके द्वारा संपादित साधन के अनुसार परिणाम प्राप्त होते हैं। सर्वव्यापी चित्-शक्ति अन्तर्यामी ज्ञानशक्ति के रूप में साधक के चित् में ज्ञान प्रकाश ही प्रज्ज्वलित करती रहती है, जो अविरत, सतत, एकरूप, ज्योतिष्मान रहती है। वही ज्योति क्रमश: ईश्वर की कृपाशक्ति के प्रभाव से वर्द्धित होती रहती है, जिससे साधक क्रमश: सत्य की ओर प्रेरित होता रहता

है। सत्य ही ज्ञान है, कृपा है, अन्तःप्रेरणारूपी चैतन्य शक्ति है। उसी के प्रभाव से साधक सत्य का श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करता रहता है। अन्तःकरण की सारी वृत्तियाँ एक मुखी होकर निरन्तर सत्य की ओर प्रेरित होती रहती है। साधक अपनी निष्ठा एवं एकाग्रता से सत्य की ओर अग्रसर होता रहता है। जैसा कि शास्त्र में बताया गया है कि अच्छे संस्कारों के प्रभाव से चित्त में अनुकूल तत्त्व उत्पन्न होते हैं एवं प्रतिकूल चित्तवृत्तियों के नाश होते हैं। साधक की आन्तरिक स्थिति में ज्ञान प्राप्त करने योग्य अनुकूलता का विकास होता रहता है एवं साधक ईश्वर की कृपा से क्रमशः निरन्तर आध्यात्मिक प्रगति को प्राप्त करता रहता है। आणव मल के प्रभाव से साधक के चित्त में जो अज्ञानता का आवरण पड़ा हुआ था, ईश्वर की कृपा से वह आवरण दूर हो जाता है। इसे ही सत्य-प्रकाश कहते हैं। यही ज्ञान प्रकाश अथवा कृपा प्रकाश है, ईश्वर का स्वरूप हैं अर्थात् अज्ञानता के कारण सत्य-ज्ञान के ऊपर जो आवरण पड़ा हुआ था उसका उन्मोचन स्वयं ईश्वर ही अपनी ज्ञान शक्ति के रूप में कर देता है। ईश्वर की इस परम कृपा को प्राप्त करने के लिए साधक को अपनी संपूर्ण संकल्प-शक्ति से तथा निष्ठा से चर्या, क्रिया, योग एवं ज्ञान रूपी चारों साधन प्रणालियों को अपनाना चाहिए। चर्या के निरन्तर निष्ठापूर्वक पालन करते रहने से साधक के वाह्य एवं आन्तरिक जीवन में बाधायें दूर हो जाती हैं। शुद्ध, पवित्र, नैतिक, शमदम आदि एवं उससे संबंधित चर्यायें साधक को स्वतः आध्यात्मिकाभिमुखी बनाती है। सच्चिदानन्द शाश्वत, अनन्त, सर्वव्यापी परम तत्त्व का प्रकाशन स्थूल, सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर तत्त्वों के माध्यम से होता है जिसकी उपासना की भिन्न-भिन्न पद्धति वेदागम में वर्णित है। साधक का चित्त जब स्थूल भूमि में विद्यमान रहता है तब शास्त्रों में स्थूल विषयों एवं विधानों के द्वारा ईश्वर की आराधना की जो प्रणाली प्रदान की गई है उसे ही 'चर्या' अथवा 'सकल' कहते हैं। ईश्वर की विशेष आराधना का सोलह प्रकार से वर्गीकरण किया गया है–

चर्या में चर्या, चर्या में क्रिया, चर्या में योग, चर्या में ज्ञान, क्रिया में चर्या, क्रिया में क्रिया, क्रिया में योग, क्रिया में ज्ञान, योग में चर्या, योग में क्रिया, योग में योग, योग में ज्ञान, ज्ञान में चर्या, ज्ञान में क्रिया, ज्ञान में योग एवं ज्ञान में ज्ञान।

चार साधन प्रणाली के समन्वय से साधक उक्त सोलह विभिन्न प्रकार के आध्यात्मिक साधनों का अनुपालन करता है। ईश्वर-मूर्ति एवं आराधना के स्थान को परिष्कृत करने के संदर्भ में सभी प्रक्रियायें चर्या में चर्या कहलाती है। ईश्वर के अनेक रूपों में किसी एक रूप की आराधना एवं तत् सम्वनित प्रक्रियायें चर्या में क्रिया कहलाती है। उक्त आराधित ध्यानमूर्ति के प्रति निरन्तर ध्यान लगाये रखना "चर्या में योग" है। इन प्रक्रियाओं से प्राप्त अनुभव जन्य ज्ञान ही चर्या के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करना है। शिवलिंग की उपासना के संदर्भ में सभी आवश्यक तत्त्वों का संचयन "क्रिया में चर्या" कहलाती है। शैवागम द्वारा

प्रवर्तित साधन प्रणाली, मंत्र एवं अन्यान्य विधानों के द्वारा शिवलिंग की अर्चना को "क्रिया में क्रिया" कहते हैं। अपनी देह के निर्दिष्ट तीन स्थानों में आराध्य की ध्यानमूलक उपासना ही "क्रिया में योग" है। उक्त उपासना के स्थान नाभि कमल (मणिपुर चक्र) हृदय-कमल (अनाहत चक्र) एवं भ्रूमध्य (आज्ञा चक्र) हैं। इन साधन प्रणालियों के द्वारा उपलब्ध ज्ञान ही "क्रिया में ज्ञान" कहलाता है। मन का नियंत्रण, वांछित दिशा में उसकी गति, योग के समय सही आसन को अपनाते हुए प्राण इत्यादि वायु पर नियंत्रण करने का साधन ही "योग में चर्या" कहलाता है। मन की सारी वृत्तियों को समेटते हुए एकाग्रचित्त होने की प्रक्रिया "योग की क्रिया" है, तदनन्तर चित्त को आराध्य के विषय में केन्द्रित करते हुए अनवरत् ध्यान करना "योग में योग" कहलाता है। उक्त साधन के अभ्यास के फलस्वरूप साधक का समाधिजनित उपलब्ध ज्ञान ही 'ज्ञान' है। "योग में ज्ञान" इसे ही कहा जाता है। योग दो प्रकार के होते हैं–सालम्ब एवं निरालम्ब। आकार पर जब चित्त केन्द्रित किया जाता है तब उसे "सालम्ब योग" साधन कहते हैं। निराकार सच्चिदानन्द तत्त्व में चित् को स्थिर करना "निरालम्ब योग" है। ज्ञान के चारों प्रकार के विभाजित विषयों को जानना एवं तदनुकूल अपने को तैयार करना "ज्ञान में चर्या" कहलाता है। उक्त संदर्भ में चिन्तन मनन करते हुए कुछ कार्य करने के लिए तैयार होना "ज्ञान में क्रिया" है। चिंतन के उपरान्त निश्चयात्मक सत्य का निष्कर्ष प्राप्त करना "ज्ञान में योग" कहलाता है एवं उस सत्य पर अविचलित रहना "ज्ञान में ज्ञान" है। उक्त सोलह प्रकार के साधन प्रणाली का निरन्तर अभ्यास करने के फलस्वरूप चार प्रकार की मुक्ति की स्थितियों की प्राप्ति होती है। कालाग्नि रूद्र से रूद्र तक, जो श्रीकण्ठ रूद्र के बाद रूद्र तक, जो श्रीकण्ठ रूद्र से निम्न भूमि में विद्यमान है, आत्मा की ये चार मोक्ष की स्थितियाँ होती है। चर्या, क्रिया एवं योग की साधन प्रणालियों के अभ्यास करने वालों का स्थान, शुद्ध तत्त्व से श्रीकण्ठ रूद्र के बीच में रहता है। ज्ञान-साधन को अपनाने वालों का स्थान शुद्ध तत्त्व में विद्यमान मंत्र मंत्रेश्वर इत्यादि की भूमि में होते हैं। ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति ही परामुक्ति नामक अन्तिम स्थिति है। जब तक उक्त पराज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है तब तक साधक तत्त्वों की शुद्धावस्था में विद्यमान रहता है, जो तत्त्व प्रलय में, मूल माया तत्त्व में विलीन हो जाते हैं। शैव सिद्धान्त के अनुसार अपरामुक्ति वह स्थिति है जिसमें साधक मलावरण से मुक्त होकर सत्य ज्ञान को प्राप्त करता है। मलावरण अज्ञानता रूपी आवरण है। केवल शिव ज्ञान ही उसे दूर कर सकता है। अत: शिव शक्ति ही अज्ञानता रूपी मलावरण, को दूर करती हुई साधक को परामुक्ति प्रदान करती है। जब तक साधक पद-मुक्ति की स्थिति में रहता है, तब तक पूर्ण मोक्षवस्था की प्राप्ति नहीं होती। शिव ज्ञान सिद्धि के अनुसार चर्या क्रिया एवं योग का सम्पादन करने वाला साधक जिस शुद्ध स्थान में मुक्ति की प्रतीक्षा में विद्यमान रहता है वही पर ईश्वर की तीव्र शक्ति निपात् से उसका

मोक्ष हो जाता है किन्तु ऐसा न होने पर साधक पुनः विश्व प्रपंच में जन्म लेता हुआ ज्ञान रूपी साधन प्रणाली के निरन्तर अभ्यास से ईश्वर-कृपा को प्राप्त करता है। कई शिवागमों के अनुसार शुद्ध तत्त्वों में विद्यमान साधक, ईश्वर की कृपा के लिए निरन्तर ईश्वर कृपा की अपेक्षा करता रहता है। उपयुक्त समय में शिव-शक्ति के आविर्भाव से वह सत्य-ज्ञान को प्राप्त करता है। अतः यह स्पष्ट है कि तिरोधान शक्ति की प्रेरणा से साधक विभिन्न साधनों का अनुपालन निरन्तर करता रहता हैं एवं उपयुक्त समय में तिरोधान शक्ति ही अनुग्रह शक्ति के रूप में प्रकाशित होकर उनको सत्य स्वरूप प्रदान करती है। इसे ही "परा मुक्ति" कहते हैं जो मलावरण से मुक्त होकर पूर्ण ज्ञान प्रकाश की स्थिति है। चर्या, क्रिया एवं योग से 'अपरामुक्ति' की प्राप्ति होती है जो सालोक्य, सामीप्य एवं सारुप्य है। ज्ञान से ही परा मुक्ति होती है। शिव-शक्ति ज्ञान स्वरूप है। अतः वही परामुक्ति को प्रदान करती है। चर्या, क्रिया एवं योग के साधनों से साधक तत्त्व ज्ञान की योग्यता को प्राप्त करता है। वह ईश्वर के सकल एवं निष्कल रूप की कल्पना कर सकता है परन्तु ज्ञान के द्वारा ही वह नित्य, शाश्वत, सच्चिदानन्द सत्ता के बोध को प्राप्त करता है। शैव सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान ही मोक्ष का साधन तथा स्वरूप है। चर्या के पालन करने वाले भक्त 'सालोक्य मुक्ति' को प्राप्त करते हैं जिसमें साधक ईश्वर से समीपता का अनुभव करते हुए आनंदानुभव को प्राप्त करता है। 'सारूप्य मुक्ति' और उच्च स्थिति है जिसमें साधक ईश्वरीय रूप को धारण करने में समर्थ होता है। 'सालोक्य' स्थिति में ईश्वर के साथ प्रभु एवं भक्त का संबंध रहता है। 'सामीप्य' में पिता पुत्र का सम्बन्ध एवं सारुप्य में परम मित्रता होती है। इसे क्रमशः दास मार्ग, सत् पुत्र मार्ग एवं सह मार्ग बताया गया है। ज्ञान से सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसमें पूर्व के तीनों अन्तर्भूत रहते हैं। कर्म साम्य, मल परिपाक से शक्ति निपात की स्थिति उत्पन्न होती है एवं शक्ति निपात से ही ज्ञान-प्रकाश आविर्भूत होता है और तब साधक को सायुज्य मुक्ति रूपी अंतिम परमावस्था की प्राप्ति होती है।

उपरोक्त साधन प्रणालियों के निरन्तर पालन करते रहने से एवं सत् गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान उपदेश का निरन्तर श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करते रहने से जब मल परिपाक एवं कर्म साम्य की स्थिति उत्पन्न होती है तब साधक के जीवन में परम प्राप्ति के रूप में तीव्र शक्ति निपात होता है। यह ईश्वर की कृपा शक्ति का पूर्ण प्रकाशन है जिससे साधक सच्चिदानन्द के ज्ञान-सागर में निमज्जित होकर अनन्त ज्ञान तथा आनन्द का शाश्वत् अनुभव प्राप्त करता है। साधना की उक्त प्रक्रिया जन्म-जन्मान्तर तक निरन्तर अप्रतिहत गति से चलती रहती है। सांसारिक जन्म मृत्यु साधक के जीवन में केवल अवस्थान्तर है जिससे साधक नवीन शक्ति एवं उद्यम को प्राप्त कर और दृढ़ता के साथ आध्यात्मिक साधनों का पालन कर सके। पूर्व जन्म में किये गये साधन के अनुसार वर्तमान जीवन में

संस्कार प्राप्त होता है एवं साधक उसी संस्कार के माध्यम से साधन प्रक्रियाओं को बनाये रखते हुए आध्यात्मिक जीवन में और ऊर्ध्व गति को प्राप्त करता है। ईश्वर के पूर्ण ज्ञान प्रकाश को प्राप्त करने की योग्यता हो जाने पर स्वतः अनुग्रह शक्ति का प्रकाशन होता है एवं साधक पूर्णत्व को प्राप्त करता है। उक्त पद में श्री उमापति साधक के जीवन में साधन की निष्ठा, उसकी महत्ता, निरन्तरता को सूचित करते हुए कहते हैं कि ईश्वर को प्राप्त करने की साधन प्रणाली जन्म जन्मान्तर में निरन्तर अबाधित गति से तब तक चलती रहनी चाहिए जब तक सच्चिदानन्द की पूर्ण सत्ता में आश्रय की प्राप्ति न हो जाए। उक्त स्थिति को प्रदान करने वाला स्वयं वह परम तत्त्व ही है।

पद नं. ८४–ज्ञाननिष्ठा

भावानुवाद

ईश्वर पाश-ज्ञान एवं पशुज्ञान से जाना नहीं जा सकता। ईश्वरीय कृपा के प्रकाश से ही उसे जाना जा सकता है। अतः पूर्व के दुर्बल वोध को त्याग कर वह (आत्मा) इच्छा एवं ईश्वरीय प्रेम से युक्त होकर ज्ञान निष्ठा की उच्च्य स्थिति को प्राप्त करती है।

उक्त पद में श्री उमापति ज्ञान के स्वरूप की विवेचना करते हुए कहते हैं कि ईश्वर का ज्ञान, पाश-ज्ञान एवं पशु ज्ञान से प्राप्त नहीं किया जा सकता। आणव, माया एवं कर्म-रूपी पाश अज्ञानता एवं बन्धन को उत्पन्न करने वाले हैं क्योंकि वे स्वरूपतः अचेतन एवं पाश रूप हैं। चित्-शक्ति के द्वारा संचालित होने के कारण यद्यपि माया एवं कर्म आंशिक प्रकाशकत्व को उत्पन्न करते हैं परन्तु वह ईश्वर तत्त्व के ज्ञान को प्रदान करने के लिए सर्वथा अपर्याप्त हैं। सृष्टि प्रक्रिया में माया, कर्म के संचालन के लिये चित्-शक्ति 'तिरोधायी' के रूप में रहती है अर्थात् वह अपने स्वरूप को आच्छादित करती हुई विश्व प्रपंच में अंतर्लीन रहती है। अप्रकाशित रूप में तिरोधान शक्ति भी शिव ज्ञान को प्रदान नहीं कर सकती क्योंकि शिव ज्ञान परम तत्त्व का अनावृत पूर्ण प्रकाशन है, जो निर्बाध एवं अनाच्छादित है। सृष्टि प्रपंच में जन्म-मृत्यु के आवर्तन के माध्यम से चित्-शक्ति की उक्त प्रेरणा से आत्मा क्रमशः पाश-ज्ञान को प्राप्त करती है अर्थात् तनु, करण, भुवन, भोग इत्यादि विषयों के सम्यक् स्वरूप ज्ञान को प्राप्त करती है। अज्ञानता के आवरण के कारण ये तत्त्व सत्य एवं महत्वपूर्ण प्रतिभात होते हैं जिससे "मैं एवं मेरे" की अनुभूति से प्रेरित होकर आत्मा इन सब तत्त्वों से प्रगाढ़ संबंध स्थापित कर लेती है। अज्ञानता जनित मोह के कारण आत्मा इन तत्त्वों को सत्य, सार्थक, महत्वपूर्ण तथा अविच्छेद्य समझ लेती है। उक्त विषयों के अनेक उपभोगों के उपरांत चित्-शक्ति की अन्तः प्रेरणा से आत्मा को इनकी असत्यता, महत्वहीनता, निःस्सारता एवं आध्यात्मिक, सत्य ज्ञान की उपलब्धि में

इनकी अनुपयुक्तता का बोध उत्पन्न होता है। अर्थात् आत्मा इन्हे पाश के रूप में समझती है। यही पाश-ज्ञान है। परन्तु पाश रूपी ये अचेतन तत्त्व, आत्मा को सत्य-स्वरूप-ईश्वर के ज्ञान को कैसे प्रदान कर सकते हैं? तिरोधान शक्ति की अन्त:प्रेरणा के कारण ही आत्मा, सम्यक् पाश-ज्ञान को प्राप्त करती है। अत: यह स्पष्ट है कि ये पाश-ज्ञान को उत्पन्न करने में असमर्थ है। चित्-शक्ति ही आच्छादित रूप में पाश-ज्ञान को प्रदान करती है। पाश अचेतन एवं बंधन रूप है। अत: किसी विषय के तत्त्व ज्ञान को प्रदान करना उसके लिये कदापि संभव नहीं है। दूसरे चरण में आत्मा, आत्म-स्वरूप ज्ञान को प्राप्त करती है। जिसे 'पशु ज्ञान' कहते हैं। यद्यपि आत्मा चित् स्वरूप है, परन्तु अनादि काल से आणवाधृत होने के कारण उसका आत्म स्वरूप भी अज्ञानता के अंधकार से आच्छादित रहता है और वह अचेतनवत् रहती है। तिरोधान शक्ति जो सृष्टि का निमित्तकारण है, सृष्टि में सर्वव्यापक अंतर्यामी रूप में विद्यमान रहती है। तिरोधान शक्ति ही बाह्य प्रकाश के रूप में विषयों को प्रकाशित करती है एवं आत्मा में अन्त: प्रविष्ट होकर उसे उद्भासित करती है। जैसा कि पहले सूचित किया गया है कि चित्-शक्ति की उक्त अभूतपूर्व भूमिका को स्पष्ट करने के लिये शैव सिद्धान्त में देखने की प्रक्रिया में नेत्र-प्रकाश एवं बाह्य प्रकाश के समन्वय का दृष्टांत दिया गया है। जब तक सूर्य का प्रकाश उसके साथ सम्मिलित नहीं हो जाता एवं बाह्य विषयों को प्रकाशित नहीं करता तब तक चक्षु इन्द्रिय देख नहीं सकती। यद्यपि चक्षु इन्द्रिय में देखने का सामर्थ्य विद्यमान है तथापि सूर्य-प्रकाश देखने की प्रक्रिया को सफल बनाने के लिये आवश्यक है। उसी प्रकार आत्म तत्त्व चित् स्वरूप है परन्तु अज्ञानान्धकार से आवृत्त होने के कारण विषय ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। तिरोधान-शक्ति आत्म तत्त्व में अन्तर्लीन होकर आत्म-चैतन्य को जागृत करती है एवं बाह्य विषयों को भी प्रकाशित करती है। तिरोधान शक्ति की प्रेरणा से जब आत्म-चैतन्य प्रकाशित होता है तभी आत्मा को आत्मज्ञान प्राप्त होता है, परन्तु आत्म स्वरूप का ज्ञान भी ईश्वर ज्ञान नहीं है। आत्म ज्ञान की स्थिति वह स्थिति है जिसमें पहले आत्मा को अपनी सत्ता का बोध आत्म तत्त्व से पृथक् चैतन्य सत्ता के रूप में होता है तब आत्मा आत्मस्वरूप में अवस्थित होने के लिये अधिक से अधिक ईश्वर शक्ति के ऊपर निर्भरशील होना चाहती है, क्योंकि तब तक आत्मा यह जान जाती है कि उसे तत्त्व ज्ञान शिव कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। शिव कृपा से ही आत्मा अचेतन तत्त्व को सम्यक् रूप से एवं आत्म तत्त्व को उससे भिन्न चेतनतत्त्व के रूप में जानकर ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण आत्म समर्पण करती है। आत्म बोध ही वह स्थिति है जिसमें आत्मा अपने को अनात्म तत्त्व से भिन्न तत्त्व के रूप में अनुभव करती है। पूर्व का मिथ्या ज्ञान, जिसमें आत्मा अपने को अनात्म तत्त्व के रूप में एवं उससे संबंधित जान रही थी, उसे सम्पूर्ण रूप से त्याग देती है। माया बद्ध आत्मतत्त्व पाश रूप है। स्वरूपत: आत्मा चित्त तत्त्व के रूप में ईश्वरीय

चैतन्य से ही संबद्ध है, पाश रूपी अचेतन माया तत्त्व से नहीं। "पशु ज्ञान" की पशु स्थिति में आत्मा जब अपने स्वरूप ज्ञान के बारे में सचेत हो जाती है तब पूर्व मिथ्या ज्ञान को त्यागकर अपनी इच्छा-शक्ति को चित्-शक्ति में समर्पित कर देती है एवं अभिमान जन्य "मैं तथा मेरे" की अनुभूति को संपूर्ण रूप से त्याग देती है। ईश्वर-शक्ति के प्रति पूर्ण आत्म समर्पण से ही वह उससे (ईश्वर शक्ति) से आप्लावित हो जाती है एवं पूर्व ज्ञान की स्थिति को प्राप्त करती है। अत: यह स्पष्ट है कि पाश-ज्ञान, पशु-ज्ञान एवं पति-ज्ञान तीनों में आत्मा चित्-शक्ति के सहयोग से ही आत्मज्ञान को क्रमश: प्राप्त करती है। पाश-ज्ञान तिरोधान शक्ति की अन्त: प्रेरणा से प्राप्त होता है। वही तिरोधान शक्ति अत्यधिक व्यापक एवं गहन रूप से प्रभावित करती हुई आत्मा को आत्मज्ञान प्रदान करती है जिसे 'पशु ज्ञान' कहा जाता है। तिरोधान शक्ति पूर्ण रूप से प्रकाशित होकर 'अनुग्रह शक्ति' के रूप में जब रूपान्तरित हो जाती हैं तब उससे आत्मा को पति-ज्ञान की प्राप्ति होती है। पति ही पति-ज्ञान को प्रदान करता है जो आत्मा के पूर्ण आत्मसमर्पण के फलस्वरूप ज्ञान निष्ठा की उच्चतम स्थिति में प्राप्त होता है। अत: यह स्पष्ट हो रहा है कि शैव सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि के साथ ही आत्मा की आध्यात्मिक यात्रा प्रारम्भ होती है जिसका अन्त सच्चिदानन्द से अनन्य, अभेद एवं अद्वैत रूप से सम्मिलित होने में होता है। इस सम्पूर्ण आध्यात्मिक यात्रा में चित्-शक्ति ही एकमात्र सहाय तथा उपाय है, जिसकी निरन्तर अन्त: प्रेरणा से ज्ञान की उच्चतम स्थिति की प्राप्ति होती है, इसे ही ज्ञान निष्ठा कहते हैं।

पद नं. ८५—उपायनिष्ठा

भावानुवाद

पूर्व वर्णित निष्ठा का मान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। पूर्व जीवनों में सीमित ज्ञान-विषयों के बाह्य गुणों का ज्ञान तब तक प्रदान करता रहता है जब तक आत्मा परम तत्त्व से संयुक्त होकर सुदृढ़ स्थिति में अवस्थित नहीं हो जाती एवं मोक्ष की आकांक्षा को नहीं भूलती और तब वह पूर्व वर्णित स्थिति में हो जाती है।

उक्त पद में श्री उमापति पूर्व पद के क्रम में बताते हैं कि चित्-शक्ति अर्थात् ज्ञान शक्ति, कृपा-शक्ति ही ईश्वर तक पहुँचने का एकमात्र उपाय है। यद्यपि सृष्टि के साथ ही अनादि काल से शिव-शक्ति आत्मा से सम्बद्ध होकर सर्वव्यापक रूप में विश्व प्रपंच में भी अन्तर्लीन है, परन्तु अज्ञानता के कारण आत्मा उसे जान नहीं सकती। पाशबद्ध आत्मा पशु-रूप होने के कारण ज्ञान-निष्ठा को तब तक प्राप्त नहीं कर सकती है, जब तक ईश्वर कृपा ही उस ओर संचालित न करती हो। शिव-कृपा के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण ही सत्य-ज्ञान का एकमात्र उपाय है। इसीलिए श्री उमापति कहते हैं कि मलावरण जनित बाधाओं

से युक्त होकर उक्त ज्ञान-निष्ठा को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन एवं साधन-लब्ध है। गहन साधना से ईश्वर की कृपा होती है एवं साधक पूर्ण आत्म समर्पण करते हुए ज्ञान निष्ठा में प्रतिष्ठित होता है। सृष्टि में आत्मा जब तनु, करण, भुवन, भोग में कर्म-पाश के द्वारा कार्य करती रहती है, तब तिरोधान शक्ति उसमें अनुस्यूत रहती है। परन्तु मलावरण के कारण आत्मा उसे जान नहीं सकती। ईश्वर प्रदत्त स्वतन्त्र शक्ति से प्रेरित होकर आत्मा पशुत्व में जो भी कार्य करती है, उसका प्रभाव उसके ऊपर संस्कार के रूप में पड़ता है। अच्छे कर्मों से अच्छे परिणामस्वरूप वह क्रमशः सत्य-ज्ञान की ओर प्रेरित होती है, जिससे पुनः अच्छे संस्कार की उत्पत्ति होती है। संस्कार एवं कर्म अन्योन्याश्रित है। अच्छे कर्म से अच्छा संस्कार उत्पन्न होता है पुनः अच्छे संस्कार से व्यक्ति अच्छे कर्मों की ओर प्रेरित होता है। इसी तरह से क्रमशः आध्यात्मिक प्रगति हो जाती है। आत्मा अज्ञात रूप में शिव-शक्ति की प्रेरणा से ईश्वरोन्मुख होती है। अंतर्लीन तिरोधान शक्ति ही आत्मा को निरन्तर सत्य की ओर प्रेरित करती है। अनेक अनुभवों से जब मल-परिपाक एवं कर्म-साम्य हो जाता है तब बाह्य विषयों के प्रति उदासीन होती हुई आत्मा सचेतन रूप से शिव-शक्ति के प्रति आत्म समर्पण करती है। शिव-शक्ति के प्रति आत्म समर्पण ही आत्मा को सुदृढ़ स्थिति प्रदान करती है क्योंकि जब तक आत्मा माया-कर्म के पाश में आबद्ध रहती है तब तक अचेतन मायाकर्म उसे कोई संरक्षण प्रदान तो कर ही नहीं सकता अपितु परिवर्तनशील नश्वर विषयों में भ्रमित कर देता है, जिससे आत्मा लक्ष्य-हीन हो जाती है। शिव-शक्ति ही उसका संरक्षक, आश्रय एवं एकमात्र उपाय है जिसकी सहायता से आत्मा पशुत्व से मुक्त होकर सच्चिदानन्द में अवस्थित हो जाती है। जब तक आत्मा अचेतन विषयों में भ्रमित होकर निरन्तर विषयों से विषयान्तरित होती रहती है तब तक उसे न तो सत्य का आभास होता है न ही वह बंधन मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करने के लिए प्रेरित होती है। बाह्य अचेतन पदार्थ उसके लिए मोह पाश है। चित्-शक्ति की कृपा से ही वह उस मोह-जाल से मुक्त हो सकती है। चित्-शक्ति ही ज्ञान-प्रकाश है जो विषयों के सत्यस्वरूप को उद्भासित करती है। आत्मा को उसकी नश्वरता एवं सत्य ज्ञान की प्राप्ति में उसकी अनुपयोगिता का सम्यक् बोध उत्पन्न होता है, अर्थात् आत्मा बाह्य विषयों को पाश के रूप में समझती है और उसका यह चैतन्य ही परिवर्तन का कारण बनता है। वह आत्मा बाह्य अचेतन विश्व-प्रपंच से विमुख होकर चेतन शाश्वत तत्त्व की ओर उन्मुख होती है एवं निरन्तर अधिक से अधिक शिव-शक्ति पर आश्रित हो जाती है। पूर्ण रूप से आश्रित होना ही पूर्ण समर्पण है एवं तभी पाश-मुक्त होकर पशुत्व का नाश भी होता है। पशुत्व का नाश ही मोक्ष है। शिव-शक्ति में निमज्जित होकर आत्मा शिवानन्द को प्राप्त करती है जो अनन्त ज्ञान एवं पूर्ण स्वतन्त्र भी है। शिव-शक्ति के साथ पूर्ण समन्वय से ही पूर्वोक्त ज्ञान-निष्ठा की स्थिति की प्राप्ति होती है। ज्ञान ही सत्य है, सत्य ही आनन्द है। अतः शिव-शक्ति के प्रति पूर्ण-समर्पण ही सच्चिदानन्द में निमज्जित होने का उपाय है।

पद नं. ८६

भावानुवाद

कल्पना करने के लिए मन इत्यादि की आवश्यकता होती है परन्तु वह उपकारी नहीं है। यदि तुम यह कहते हो कि तुम इन्द्रिय के बिना ही कल्पना करोगे तो वह एक भ्रम होगा। यदि तुम यह कहते हो कि कल्पना स्वत: ही होती रहती है तब (प्रश्न यह उठता है कि) तुम क्यों हो? कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ईश्वर की कृपा उन सबों को परिचालित करती है जो उनके चरण-कमल को आश्रय बनाते हैं।

यह स्पष्ट है कि बाह्य प्रपंच के सभी विषय व्यवहारिक करणों से ज्ञात होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ एवं मन विषयों को ग्रहण करते हैं। दशों इन्द्रियाँ बाह्य विषयों को ग्रहण करती हैं एवं मन संकल्पात्मक इन्द्रिय है। दशों इन्द्रियाँ मन से संयुक्त होकर ही विषयों को ग्रहण करती हैं। ये सभी करण हैं। वास्तव में आत्मा ही ज्ञाता है। आत्मा अन्तस्थ: है। इसीलिए सांसारिक अनुभवों में उसकी विद्यमानता सूचित नहीं हो पाती। करणों की क्रियाशीलता से ऐसा प्रतीत होता है कि ये ही ग्रहीता है। परन्तु ऐसा नहीं है। वास्तविक रूप में ज्ञाता आत्मा है परन्तु अज्ञानाच्छादित होने के कारण वह स्वतन्त्र रूप से स्वप्रकाश ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकती। पाशबद्ध आत्मा पशुरूप में उक्त करणों के द्वारा विषय का अनुभव करती है। करण अचेतन माया प्रसूत तत्त्व है, इसीलिए वे ज्ञाता नहीं बन सकते। आत्मा ही जान सकती है। सृष्टि प्रपंच चित्-शक्ति द्वारा संचालित होने के कारण पाश-बद्ध जीव करणों के सहयोग से विषयों का अनुभव करता है। व्यवहारिक अनुभव में करण से संबद्ध होना आवश्यक है क्योंकि अचेतन करणों के द्वारा ही अचेतन विश्व से सम्बद्ध हुआ जा सकता है। श्री उमापति कहते हैं कि कल्पना, चिन्तन, स्मृति इत्यादि विभिन्न प्रकार की मानसिक प्रक्रियाओं के लिए मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त रूपी अन्त:करण की आवश्यकता है, क्योंकि मानसिक वृत्तियाँ अन्त:करण की ही कार्य है। अन्त:करण के सहयोग से संकल्प इत्यादि मानसिक वृत्ति-जन्य कार्यों को सम्पन्न किया जाता है, परन्तु वे स्वत: हमारे लिए ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकते, क्योंकि वे अचेतन है। पशु ही करणों को संचालित करता हुआ उसके उपयोग से विभिन्न प्रकार के अनुभवों को प्राप्त करता है। अत: यह स्पष्ट है कि करणादि स्वयं क्रियाशील नहीं हो सकते एवं अनुभवों को प्रदान करते हुए ज्ञान को भी उत्पन्न नहीं कर सकते। आत्मा चित्-तत्त्व है। वही ज्ञाता एवं ग्रहीता है। चित्-शक्ति के अंतर्लीन होने के कारण ही वह क्रमश: सत्य ज्ञान को प्राप्त करती है, यही ईश्वर की कृपा है। शिव-शक्ति ही सृष्टि का निमित्त कारण है, उसी की अन्त:प्रेरणा से आत्मा में ज्ञान प्रकाशित होता है। केवल परमार्थिक ज्ञान ही नहीं, ईश्वर ने आत्मा को विश्व-प्रपंच एवं उसके ज्ञान को भी प्रदान किया है। करणादि

केवल अचेतन माध्यम हैं। वे न तो ज्ञान-उत्पन्न कर सकते हैं और न ही स्वयं ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। शिव-शक्ति द्वारा प्रदत्त तनु, करण, भुवन, भोग इत्यादि के अनुभवों को प्राप्त करने के लिए ईश्वर ने करणरूपी साधनों को प्रदान किया है परन्तु ये साधन ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकते। ज्ञान को उत्पन्न करने वाला एकमात्र साधन चित्-शक्ति है, जो इसका सहयोग लेता है वही सत्य को प्राप्त कर सकता है। इसके बिना ईश्वर को प्राप्त करने का और कोई उपाय नहीं है, क्योंकि अन्य सभी साधन अचेतन है, अत: ये परम चैतन्य तक पहुँच नहीं सकते। साधक शिव-शक्ति को आश्रय बनाकर ही शिव तक पहुँचता है। शिव-शक्ति ही उस परमपद को प्रदान कर सकती है। इसीलिए श्री उमापति कहते हैं कि करणादि मात्र व्यवहारिक उपयोग के साधन है, परमार्थिक सत्ता तक इनकी कोई गति नहीं है। भ्रमवश ही ये सक्रिय, सचेतन एवं उपकारी प्रतीत होते हैं। ये तो कर्ता या अधिकारी भी नहीं है। ईश्वर की कृपा से आत्मा ही पशुत्व का परित्याग करती है एवं सत्य ज्ञान का अधिकारी बनती है क्योंकि आत्मा ही ज्ञाता स्वरूप है। अचेतन करण ज्ञाता नहीं बन सकते। उक्त पद में श्री उमापति अनात्मा से आत्मा की भिन्नता को बताते हुए ज्ञान के संदर्भ में ईश्वर कृपा की अवश्यम्भाविता को सूचित करते हैं।

पद नं. ८७

भावानुवाद

एक (ब्रह्म) दो बनता है पुन: वही एक बन जाता है। यदि ये दो होते तो उनमें से एक नष्ट हो जाता, यदि वे संयुक्त न होकर अलग विद्यमान रहते, तब वे एकत्व के आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते। यदि उसे (आत्मा को) अग्नि में डाला जाए तो वह लोहा अग्नि नहीं बन सकता, क्योंकि तब उसमें पंचकृत्य की शक्ति होनी चाहिए। जब वह (आत्मा) कृपा से संयुक्त होती है तभी सत्य को प्राप्त करती है, जैसा कि वह पहले आणव से संयुक्त थी।

उक्त पद में श्री उमापति सच्चिदानन्द ब्रह्म एवं जीव के साथ उसके सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म एवं जीव दो सत्ताएँ हैं। अनन्त असीम ब्रह्म सत्ता में विद्यमान होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव प्राप्त करता है, जबकि "ब्रह्म सत्ता" सच्चिदानन्द सत्ता है। वह स्वरूपत: अनादि, अनन्त, स्वयं-प्रकाश ज्ञान एवं आनन्द सत्ता है। जीव उस अनन्त चैतन्य से समन्वित, एक, अभेद होकर उस शाश्वत-ज्ञानानन्द का आस्वादन करता है। उक्त विषय में श्री उमापति ब्रह्म से जीव के सम्बन्धित संदर्भ में प्रस्तुत किये गये दृष्टिकोणों की आलोचना करते हुए कहते हैं कि जिस सिद्धान्त में जीव एवं ब्रह्म का तादात्म्य माना गया है उसके अनुसार प्रथमत: अनन्त, असीम, सच्चिदानन्द ब्रह्म अनेक

भागों में जीव के रूप में विभाजित होकर विद्यमान रहता है। तदनन्तर मोक्ष की स्थिति में जीव का ब्रह्म से तादात्म्य हो जाने के फलस्वरूप इसका एकीकरण हो जाता है। जैसे नमक की गुड़िया जब समुद्र में विलीन हो जाती है तब उसका पृथक रूप में कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। उक्त दृष्टिकोण मायावादियों का है। इसकी आलोचना करते हुए श्री उमापति कहते हैं कि उक्त मतानुसार ब्रह्म प्रथमत: खण्डित होता है, तदनन्तर जीवों का अन्त हो जाता है। इसीलिए यह दृष्टिकोण मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि यदि जीव का नाश ही हो जाता है तो प्रश्न है कि मोक्ष कौन प्राप्त करता है? उक्त प्रश्न का कोई तर्कसंगत उत्तर नहीं मिलता। श्री उमापति कहते हैं कि जीव जो अज्ञानता से ग्रसित है वहीं ईश्वर की कृपा से परम ज्ञान में प्रतिष्ठित होता है। वही उसकी मोक्ष-स्वरूप स्थिति है। अज्ञानता ही बन्धन है एवं अज्ञानता का दूर होना ही बन्धन-मुक्ति है। केवल द्वैत का उपरोक्त विवेचन श्री उमापति को मान्य नहीं है, क्योंकि उक्त सिद्धान्त के अनुसार जीव की कोई सत्ता नहीं है। बन्धन की स्थिति में ब्रह्म ही विखण्डित हो जाता है, जो कदापि मान्य नहीं हो सकता। यदि उसे मान भी लिया जाय तो मोक्ष की अवधारणा निरर्थक हो जाती है, क्योंकि उक्त स्थिति में जीव की पृथक रूप में कोई सत्ता ही नहीं रहती। ब्रह्म स्वयं ही बन्धन एवं मोक्ष दोनों स्थितियों को प्राप्त करता है। उक्त दृष्टिकोण शैव-सिद्धान्त के अनुसार मान्य नहीं हो सकता। शैव-सिद्धान्त का सम्पूर्ण दर्शन ही जीव के प्रति ईश्वर की कृपा-प्रत्यय पर आधारित है। अज्ञानाच्छादित जीव के प्रति ईश्वर असीम कृपाशील होकर सृष्टि करता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि जीव के प्रति ईश्वर की करुणा की अभिव्यक्ति है जो स्वाभाविक रूप से स्वत: प्रकाशित होती है, क्योंकि ईश्वर कृपा-स्वरूप है। अज्ञानता जीव को ग्रसित करती है और ईश्वर सच्चिदानन्द सत्ता है। अज्ञानता उसे कदापि प्रभावित नहीं कर सकती। अत: मायावादियों के अनुसार अज्ञानता ग्रसित ब्रह्म का जीवत्व रूप, शैव-सिद्धान्त को मान्य नहीं हो सकता। जैसा पहले बताया गया है कि मोक्ष की स्थिति में जीव-सत्ता विलुप्त हो जाती है अत यहाँ मोक्ष का कोई सन्दर्भ ही उत्पन्न नहीं हो सकता। दूसरी ओर, भेदवादियों के अनुसार ब्रह्म एवं जीव दो स्वतन्त्र भिन्न सत्तायें हैं जो कि बन्धन एवं मोक्ष दोनों स्थितियों में अपने पृथकत्व को बनाये रखती हैं। उक्त स्थिति में भी मोक्ष की कोई आनन्दानुभूति भी नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म से पृथक् सत्ता के रूप में जीव को कोई आनन्द-बोध प्राप्त नहीं हो सकता। ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है वह अनन्त ज्ञानानन्द है। उससे भिन्न रूप में विद्यमान होकर जीव कदापि उस ज्ञानानन्द का कोई अनुभव प्राप्त नहीं कर सकता। जब तक जीव उस अनन्त ज्ञानानन्द में विद्यमान होकर उस परम तत्त्व से अद्वैत, अनन्य नहीं हो जाता, तब तक उस परम सत्ता का आस्वादन एवं उपभोग प्राप्त नहीं कर सकता है।

ईश्वर एवं जीव के अभेद सम्बन्ध की व्याख्या के लिए ईश्वर शक्ति की मान्यता

आवश्यक है। चित्-शक्ति अथवा कृपा-शक्ति वह माध्यम है जिसके द्वारा ईश्वर एवं जीव अद्वैत अभेद-सत्ता के रूप में अवस्थित रहते हैं। ईश्वर ही चित्-शक्ति के रूप में साधक के हृदय में अन्तर्भूत होकर उसे अपने में सम्मिलित कर लेता है। साधक को उसके परम प्रेय एवं श्रेय अद्वैतानन्द को प्रदान करने के लिए ईश्वर पंचकृत्य करता है। आत्म-तत्त्व मूलत चित्-तत्त्व है इसलिए अनन्त-चैतन्य से उसका मिलन ही परम लक्ष्य है। ईश्वर के साथ जीव के सम्बन्ध के सन्दर्भ में तीन प्रकार के वर्णन पाये जाते हैं–१. तादात्म्यता, २. भिन्नता, ३. भेद में अभेदता। 'अद्वैत' एक नकारात्मक शब्द है, जिसमें दो तत्त्वों की पृथकता की अस्वीकृति है अर्थात् दो तत्त्व भिन्न रूप में विद्यमान नहीं हैं करन अभिन्न, अभेद, अनन्य है। शास्त्र ग्रन्थ में 'एकमेवाद्वितीयम्'–इस प्रकार से अद्वैत-सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ एकम् शब्द से जीव एवं ब्रह्म का अभेद सम्बन्ध सूचित होता है। शैव-सिद्धान्त 'अद्वैत' शब्द की व्याख्या इस प्रकार से करता है–अद्वैत अर्थात् न-द्वैत 'न' शब्द के तीन तात्पर्य हो सकते हैं–(१) अभाव (२) विरोध (३) एकल, अनन्य, केवल। अद्वैत वेदान्त अर्थात् मायावादिन् के अनुसार 'न' शब्द अभाव सूचक है इसीलिए उनके अनुसार ब्रह्म एवं जीव के मिलन में एक (जीव) का अभाव अर्थात् विलय सूचित होता है। यही कारण है कि केवलाद्वैत वेदान्त के अनुसार मोक्ष की स्थिति में जीवात्मा का परमात्मा में उसी प्रकार से विलय हो जाता है जैसे नमक का ढेला समुद्र के पानी में घुल-मिलकर एकाकार हो जाती है। घटाकाश घट-रूपी आवरण के नष्ट होने पर महाकाश में विलुप्त हो जाता है। इस प्रकार अद्वैत मिलन में केवल एक (ब्रह्म) की सत्ता विद्यमान रहती है दूसरे (जीव) की सत्ता का अभाव हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म एवं जीव का मूलत: तादात्म्य है। अर्थात् ब्रह्म ही जीव है। उक्त दृष्टिकोण के अनुसार अद्वितीयता (केवल) ही एकमात्र तात्पर्य है।[१] द्रष्टव्य यह है कि द्वैतवादियों ने भी अपने विशेष दृष्टिकोण से अद्वैत शब्द का प्रयोग किया है। जिसमें दोनों की सत्ता मानी गयी है। उन्होंने 'न' शब्द का प्रयोग विरोध के अर्थ में किया है। उक्त सिद्धान्त के अनुसार दो तत्त्वों के पारस्परिक समन्वय उनकी संख्यात्मक भिन्नता बनाये रखते है। उपरोक्त दोनों दृष्टिकोण की स्पष्टता के लिए दो दृष्टान्त दिये जा सकते हैं–(१) अप्रकाश, (२) एवं अधर्म। अ-प्रकाश शब्द से प्रकाश का अभाव सूचित होता है। जबकि अ-धर्म शब्द 'धर्म का अभाव' बोधक है। 'अप्रकाश' शब्द 'प्रकाशकत्व का अभाव एवं 'अधर्म' शब्द 'धर्म' का विरोध सूचित करता है।

शैव सिद्धान्त में उपरोक्त दो दृष्टिकोणों को अतिवादी माना गया है एवं उनसे भिन्न

---

१. एको ही रूद्रो न द्वितीयायतस्यु–श्वेताश्वेतर उपनिषद
श्री कुमार 'एकम्' शब्द का तात्पर्य अद्वितीयम् से बताते हैं। इसके विपरीत अघोर शिव ने उक्त शब्द का द्वैतवादी दृष्टिकोण प्रदान किया।

दृष्टिकोण अपनाया गया है। 'अद्वैत' शब्द का तात्पर्य 'न अन्य' अर्थात् 'अनन्य' के रूप में ग्रहण किया गया है। 'अनन्यत्व' से दूसरे (जीव) के स्वतन्त्र, भिन्न अस्तित्त्व को अस्वीकार किया गया है। उक्त तात्पर्य के अनुसार दूसरे की सत्ता की अस्वीकृति नहीं है, वरन् उसकी भिन्नता स्वतन्त्रता, द्वैतता की अस्वीकृति है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार 'अद्वैत' शब्द से न तो 'अभाव' है। जीव सत्ता अस्तित्त्ववान है परन्तु सर्वव्यापक ब्रह्म सत्ता में अन्तर्भूत होकर अस्तित्त्ववान् है। ब्रह्म वह सर्वव्यापकता है जिसके साथ पशु एवं जगत प्रपंच 'अनन्य' सम्बन्ध से विद्यमान हैं। अन्यान्य सत्ताओं की भिन्नता, स्वतन्त्रता अमान्य है, जिससे द्वैतवाद की उत्पत्ति हो सकती है परन्तु उक्त सत्ताओं की अभिन्नता, अद्वैतता एवं भावात्मक-अस्तित्त्वसूचक 'अनन्यता' से ब्रह्म एवं जीव का महामिलन सूचित होता है। ब्रह्मन् एवं आत्मन् दो होते हुए भी 'द्वैत' नहीं है वरन 'न द्वैत' अर्थात् 'अद्वैत' है।[1] उक्त दृष्टिकोण की स्पष्टता के लिए कई दृष्टान्त दिये गये है–अब्राह्मण ('अ' ब्राह्मण), अनश्व ('अन्' अश्व), अनेकम् ('अन्' एकम्) इत्यादि। अ-ब्राह्मण शब्द इस प्रकार के व्यक्ति को सूचित करता है जो जातिगत रूप से तो ब्राह्मण है परन्तु जीवन प्रणाली के अनुसार ब्राह्मण नहीं है। अन-अश्व: शब्द से खच्चर जाति का पशु सूचित होता है। 'अन् एकम्' शब्द के द्वारा 'एक' से भिन्नता सूचित होती है जो 'एक' का अस्तित्त्व खण्डित नहीं करती, वरन् 'एक' की भिन्नता को खण्डित करती है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार अद्वैतवाद की व्याख्या यह स्पष्ट करती है कि किस प्रकार से आत्मन् एवं ब्रह्मन् सत् तत्त्व होते हुए भी 'अनन्य' रूप में विद्यमान रहते हैं। ब्रह्मन् आधार रूप में, आश्रय रूप में, सार तत्त्व के रूप में आत्म तत्त्व में, अद्वैत रूप में अनुस्यूत है। यह ऐसा विशिष्ट सम्बन्ध है जो 'भेद का अभाव' सूचित करता है। ये दो इस प्रकार से अभेद है कि 'पृथक' नहीं हो सकते। यह सम्बन्ध 'ऐक्य' अथवा 'तादात्म्य' नहीं है, जिसमें 'एक' का 'अभाव' हो जाने से वास्तव में 'सम्बन्ध' ही सूचित नहीं होता है। मायावादिन का उक्त दृष्टिकोण शैव-सिद्धान्त को इसलिए मान्य नहीं है कि तादात्म्य में जीव सत्ता का अभाव हो जाने के फलस्वरूप ज्ञानानन्द का अनुभव नहीं हो सकता एवं मोक्ष का सन्दर्भ ही निरर्थक हो जाता है। अत: शैव-सिद्धान्त के अनुसार 'अनन्य', 'पृथकत्व-विहीन' सत्ता ही ब्रह्मानन्द का अनुभव कर सकती है। 'न' अन्य भाव से जीव ब्रह्म में विद्यमान होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार 'एकम्' शब्द का तात्पर्य 'एक होकर' अर्थात् उससे अभेद होकर उसका आस्वादन करना है। अनन्यता ही वास्तविक अद्वैतता है जिसमें जीव पाश-मुक्त होकर ब्रह्मानन्द की स्थिति का आस्वादन करता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार

१. शिव ज्ञानकोष की व्याख्या वचलंकार दीपम के अनुसार इस सिद्धान्त में अद्वैत शब्द से 'सादृश्य' का तात्पर्य ग्रहण किया गया है। न इव युक्तम् अन्ध सादृशाधिकरणे तर्थाद्वर्यीधिगति।

'एकम्' शब्द का तात्पर्य 'एक होकर' अर्थात् उससे अभेद होकर उसका आस्वादन करना है। अनन्यता ही वास्तविक अद्वैतता है जिसमें जीव पाश-मुक्त होकर ब्रह्मानन्द की स्थिति का आस्वादन करता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार औपनिषदिक महा वाक्य 'तत्त्वमसि' में 'तत्' (ब्रह्मण्) एव 'त्वम्' (आत्मन्) का संयोग 'असि' से किया गया है जिसका तात्पर्य अद्वैत, अनन्यत्व एवं 'भेदराहित्य' है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार अभाव एवं भेद ये दोनों ही सम्बन्ध को सूचित करने में असमर्थ होते हैं। केवल भेदरहित सत्तायें ही अद्वैत सम्बन्ध को सूचित कर सकती है जिससे जीव एवं ब्रह्म की भिन्नता, स्वतन्त्रता, गुणात्मकता के दृष्टिकोण से 'आधारभूत सत्ता' (ब्रह्म-सत्ता) से उसकी पृथकता ही मात्र खण्डित होती है। सर्वव्यापक मूल सत्ता में उसका अस्तित्त्व नहीं होता एवं दोनों सत्ताओं की अनन्यता अर्थात् वास्तविक 'अ-द्वैतता' सूचित होती है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार उक्त स्थिति को प्राप्त करने के लिए ईश्वर कृपा ही एकमात्र अवलम्बन है। चित्-शक्तिरूपी ईश्वर कृपा ही जीव को सच्चिदानन्द से 'अनन्य' रूप से सम्बन्धित कर सकती है। बद्धावस्था में जैसे आत्मा आणवाधृत स्थिति में 'असत्-रूप' में रहती है उसी प्रकार से मुक्तावस्था में शिव-शक्ति में निमज्जित होकर शिवानन्द को प्राप्त करती हुई 'सत्' रूप में अवस्थित रहती है। शैव-सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित 'अद्वैत' की व्याख्या अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट है।

पद नं ८८

भावानुवाद

(आणव) पाश नष्ट हो जाता है–ऐसा कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह नित्य है, वह नष्ट नहीं होता। ऐसा मत सोचो कि वह ज्ञान को प्राप्त करता है। उसकी शक्ति का नाश हो जाता है। चूँकि वह शाश्वत है इसलिए वह नष्ट नहीं होता। सूर्य की किरण से अन्धकार दूर हो जाता है किन्तु उसके (आणव के) नष्ट होने की स्थिति नहीं आती, वह विलुप्त नहीं होता।

उक्त पद में श्री उमापति आत्मा की मोक्षावस्था की स्थिति का विवेचन आणवमल के अस्तित्त्व के सन्दर्भ में करते हुए कहते हैं कि 'मोक्ष' पाश बन्धन से मुक्त होकर शिव-ज्ञान की प्राप्ति है। अनादि काल से आत्मा आणव पाश के द्वारा आबद्ध रहने के कारण 'पशु' कहलाती है। पाशत्व का नाश ही मोक्ष है जिसे आत्मा एक मात्र पति-ज्ञान से ही प्राप्त करती है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार पति, पशु एवं पाश ये तीनों नित्य तत्त्व हैं। अतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मोक्षावस्था में जब आत्मा पति-ज्ञान को प्राप्त करती हुई उससे अनन्य हो जाती है तब आणवमल का अस्तित्त्व कहाँ और कैसे रहता है? वस्तुतः आणवमल अज्ञानान्धकार है जो आत्मा से सम्बद्ध रहकर उसकी ज्ञान स्वरूपता को आवृत्त

करता है। अत: ईश्वर की कृपा से जब आत्मा सत्य ज्ञान को प्राप्त करती है तब उससे आणवमल की सम्बद्धता कैसे रह सकती है? पुन: यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि आणवमल तिरोहित हो जाता है तब उसका तात्विक स्वरूप नाशवान है, ऐसा मानना पड़ेगा। यदि वह नष्ट नहीं होता तो आणवमल की विद्यमानता के उपरान्त आत्मा सत्य-ज्ञान को कैसे प्राप्त करती है? स्पष्ट है कि उभय स्थिति में ही समस्या जटिल है। उक्त समस्या के समाधान के सन्दर्भ में श्री उमापति कहते हैं कि सर्व-शक्तिमान ईश्वर से तादात्म्य चित्-शक्ति सर्वव्यापक एवं सत्य-संकल्परूप है। यह वह कृपा-शक्ति है जिसके अन्तर्भूत होने से आत्मा में मलावरण छिन्न होकर ज्ञान प्रकाशित हो जाता है। शिव-शक्ति की अन्त:प्रेरणा से जब मल-परिपाक एवं कर्म साम्य पूर्ण हो जाते हैं, तभी तीव्र-शक्ति निपात से आत्मा में सत्य ज्ञान उद्भासित हो जाता है। तीव्र-शक्ति-निपात ईश्वर की वह अनुग्रह शक्ति है जिससे आत्मा पूर्णत: अज्ञानता से मुक्त हो जाती है। आणवमल अज्ञानता को उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाते हैं क्योंकि ईश्वर-कृपा उज्ज्वल परम प्रकाश है जिसके समक्ष आणवमल शक्ति हीन हो जाता है। सर्व-शक्तिमान ईश्वर की कृपा-शक्ति आणव को सम्पूर्ण रूप से अभिभूत कर लेती है। श्री उमापति कहते हैं कि तत्त्व के रूप में उसका अस्तित्व भले ही विद्यमान हो, किन्तु चित्-शक्ति के आविर्भाव से उसमें अज्ञानता को बनाये रखने का सामर्थ्य नहीं रहता। चित्-शक्ति के ज्ञान-प्रकाश से मलान्धकार उसी प्रकार तिरोहित हो जाता है जिस प्रकार सूर्य की किरणों से अन्धकार। सूर्य की किरणों के अभाव में अन्धकार पुन: आविर्भूत हो जाता है। अत: स्पष्ट है कि अन्धकार नष्ट नहीं होता, केवल प्रकाश के आविर्भाव से वह छिपा रहता है, अभिभूत रहता है, अप्रकाशित रहता है। ठीक उसी प्रकार से चित्-शक्ति के आविर्भाव से मलान्धकार तिरोहित हो जाता है एवं मल शक्ति-हीन होकर शिव-शक्ति के सर्वव्यापक ज्ञान प्रकाश से अभिभूत रहता है। श्री उमापति कहते हैं कि मल का अस्तित्व रहने पर भी उसका कोई दुष्प्रभाव नहीं रहता। शिव-शक्ति के ज्ञान प्रकाश में आत्मा जब निमज्जित हो जाती है तब वह नित्य शाश्वत ज्ञानानन्द की स्थिति को प्राप्त करती है। अत: मल प्रभाव से उसकी पुन: अज्ञानता की स्थिति को प्राप्त करने का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता, क्योंकि कृपा-शक्ति शाश्वत तत्त्व है उसमें आत्मा का नित्य आश्रय हो जाता है। उससे प्रत्यावर्तित होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। शिव-ज्ञान वह पूर्ण प्रकाश है जो सदा के लिए अन्धकार को दूर कर देता है। आत्मा जब परम ज्ञान में अवस्थित हो जाती है तब सभी विषय उसके लिए तत्त्व-रूप हो जाते हैं किसी का कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ सकता, क्योंकि शिव-शक्ति वह परम ज्ञान है जिसके ऊपर मल का कोई प्रभाव पड़ ही नहीं सकता। अत: यह स्पष्ट है कि मोक्षावस्था में मल तत्त्व विद्यमान रहता है परन्तु मल-शक्ति के अभाव का नाश हो जाता है। जब तक आत्मा सापेक्ष अहं-तत्त्व के आवरण में अपने को आवद्ध रखती है तब तक वह मलान्धकार से

ग्रसित रहती है। जब वह क्षुद्र अहं को पूर्ण तत्त्व में समर्पित कर देती है तब वह पूर्ण प्रकाश में विद्यमान हो जाती है। सापेक्षता का बन्धन नष्ट हो जाने के कारण मलान्धकार तिरोहित हो जाता है एवं आत्म चित्-प्रकाशमय हो जाता है। अत: सभी तत्त्व अपने मौलिक तात्त्विक रूप में विद्यमान रहते हैं। आत्मा चित् रूप है, परम तत्त्व सच्चिदानन्द ही उसका मूल आश्रय स्थल है।

पद नं. ८९

भावानुवाद

दो कर्म असंख्य जन्मों को प्रदान करते हैं। संयोग मात्र से ही अग्नि बीज को जला देती है। पूर्व कर्मों के अनुसार शरीर प्राप्त होता है जो पाप-पुण्य के उपभोग के उपरान्त नष्ट हो जाता है। पूर्व जीवन के पाप के अनुसार कर्म (आगाम्य) की वृद्धि होती है एवं वे दो कर्मों को संचित करते रहते हैं (प्रारब्ध एवं आगाम्य), जो सूर्य के प्रकाश से रात्रि के अन्धकार की तरह तिरोहित हो जाते हैं। ज्ञानाग्नि के द्वारा वह (कर्म) निश्चित रूप से तिरोहित होता है।

उक्त पद में श्री उमापति कहते हैं कि कर्म का नियम सार्वभौम है। अच्छे एवं बुरे इन दो कर्मों के अनुसार प्रत्येक को निश्चित रूप से परिणाम प्राप्त होते हैं। भारतीय दर्शन में ही नहीं अपितु, सम्पूर्ण विश्व के आध्यात्मिक शास्त्रों में कर्म का नियम एक अप्रतिहत सार्वभौम नियम के रूप में प्रतिपादित किया गया है। भारतीय दर्शन में तो कर्मवाद की पूर्ण व्याख्या के लिए जन्मान्तर के सिद्धांत को माना गया है। मनुष्य मृत्यु पर्यन्त जो भी कर्म करता रहता है उन सबों से उपयुक्त परिणाम को प्राप्त करने के लिए मृत्यु के उपरान्त भी उसके अस्तित्त्व की आवश्यकता होती है। भारतीय दर्शन आत्मा को अनश्वर, नित्य, शाश्वत सत्ता मानते हुए आत्मा का पुन: पुन: देह धारण करने के आधार पर जन्मान्तर एवं सार्वभौम कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार–जैसा कि पहले बताया गया है–ईश्वर आत्मा को बन्धन से मुक्त करने के लिए विश्व प्रपंच की सृष्टि करता है, एवं माया से उत्पन्न तनु, करण, भुवन, भोग एवं कर्म के द्वारा आत्मा को सम्बद्ध कर देता है। सृष्टि प्रक्रिया में आत्मा विभिन्न विषयों के उपभोग के द्वारा कर्म-पाश में आवद्ध रहती है। यह सर्वविदित है कि कर्म के अन्तर्भूत वासना एवं आसक्ति से ही फलोत्पत्ति होती है, एवं उस कर्म के फल को प्राप्त करने के सन्दर्भ में मनुष्य पुन: कर्म करता है, जिसका फिर से फल उत्पन्न होता है। इसी प्रकार से कर्म-शृंखला तब तक

---

१. भगवद्गीता (द्वितीय) ५६

चलती रहती है, जब तक कि उसमें अन्तर्निहित वासना को दूर न किया जाय। फलासक्ति ही कर्म-बन्धन है, अत: निष्काम कर्म माला की मोती की तरह स्वतंत्र एवं एक दूसरे से भिन्न होते हैं। कर्म एवं कर्म फल बीज एवं वृक्ष की कड़ी की तरह हैं परन्तु इस कड़ी के किसी भी बीज को यदि अग्नि में भून दिया जाय तो उससे आगे बीज-पेड़ के क्रम का अन्त हो जाता है। जैसे की सूत्र से अलग-अलग मोतियाँ माला के रूप में आबद्ध रहती हैं परन्तु कहीं से यदि सूत्र को छिन्न कर दिया जाय तो सारी मोतियाँ उस शृंखला से भिन्न होकर स्वतन्त्र एवं बन्धन मुक्त हो जाती हैं, उसी प्रकार से कर्म में अन्तर्निहित वासना या आसक्ति का यदि अन्त हो जाय तो अनेक कर्म करने पर भी कोई बन्धन उत्पन्न नहीं होता एवं साधक स्वतन्त्र निष्काम कर्म का सम्पादन करते हुए इसी विश्व प्रपंच में वीतराग के रूप में अवस्थित रहता है। अत: यह स्पष्ट है कि कर्म में अन्तर्भूत राग जनित फलाकांक्षा ही मूल बन्धन है। फलाकांक्षा रहित कर्म, बन्धन रहित स्वतन्त्र कर्म है जिसके सम्पादन को ही निष्काम कर्म योग कहा गया है।[१] कर्म के प्रति इस वीतराग, अनासक्ति अर्थात् समत्व भाव को ही शैव-सिद्धान्त में कर्म-साम्य कहा गया है। उक्त पद में श्री उमापति यह विवेचना करते हैं कि कर्म के सन्दर्भ में यह समत्व भाव सत्य-ज्ञान से उत्पन्न होता है। ज्ञान ही वह अग्नि है जिससे माया-प्रसूत अचेतन विषयों के प्रति कामना दग्ध हो जाती है। शैव-सिद्धान्त के शास्त्र ग्रन्थों में उक्त विषय का विशद विवेचन हुआ है कि ज्ञान ही मोक्ष का साधन एवं साध्य है क्योंकि मलावरण जनित अज्ञानता के अन्धकार को चित्-शक्ति ही दूर कर सकती है एवं चित्-शक्ति के आश्रय से ही आत्मा परमगति को प्राप्त करती है।

ज्ञान ही मोक्षदायक अन्तिम स्थिति है। साधन एवं साध्य दोनों ही ज्ञान-स्वरूप हैं।[२] मलावरण अज्ञान-स्वरूप है, ज्ञान-प्रकाश ही उस अन्धकार को तिरोहित कर सकता है। श्री उमापति कहते हैं कि रात्रि का अन्धकार कितना ही प्रगाढ़ क्यों न हो सूर्य के प्रकाश से वह निश्चित रूप से तिरोहित हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञानाग्नि के द्वारा अज्ञानता प्रसूत मोह, राग, इत्यादि भी भस्मसात हो जाते हैं एवं साधक शुभ-अशुभ के प्रति अनुद्विग्न चित्त से कार्य करता है अत: उसका कोई बन्धन नहीं हो सकता तथा आगामी कर्म उत्पन्न नहीं होते। केवल भूतकाल के कर्मों के परिणाम को प्रारब्ध के रूप में प्राप्त कर लेने के उपरान्त साधक सम्पूर्ण रूप से कर्म-बन्धन-मुक्त हो जाता है और यह स्पष्ट है कि ज्ञान के आश्रय से ही अज्ञानता रूपी अन्धकार का अन्तर्धान होना सम्भव है। बन्धन अज्ञानता-रूप है, और मोक्ष ज्ञान-स्वरूप है। सच्चिदानन्द ज्ञान-सत्ता है। मलावरण से मुक्त होकर उसे (ईश्वर को) प्राप्त करना अन्धकार से प्रकाश में जाना है। यह प्रकाश ज्ञान-प्रकाश

१. 'योग कर्मसुकौशलम्' भगवद्गीता, द्वितीय ५०
२. भगवद्गीता–चतुर्थ ३४

है जो सत्य-स्वरूप है। अत: यह निर्विवाद सत्य है कि चित्-शक्ति अर्थात् ज्ञान-शक्ति की सहायता से ही ज्ञान सत्ता को प्राप्त करना ही पाश रहित परम स्थिति को प्राप्त करना है।

पद नं. १०—पंचाक्षर-महिमा

भावानुवाद

मल को तिरोहित करने का उपाय

भौतिक देह से प्रारब्ध कर्म दूर नहीं होता। इन दोनों कर्मों के (संचित एवं आगाम्य) स्वरूप तथा कार्य हींग की तरह हैं। पंचाक्षर का कोई आदि एवं अन्त नहीं है। गुरु की कृपा एवं शिवज्ञानियों के उपदेश से ही कर्म (प्रारब्ध) का कोई प्रभाव नहीं होता है एवं कर्म (आगम्य) कोई जन्म उत्पन्न नहीं कर सकता।

अनादि काल से सृष्टि के साथ ही आत्मा को माया से उत्पन्न तनु, करण, भुवन, भोग के साथ कर्म भी प्राप्त है। कर्म के द्वारा ही काल चक्र में घटित अनुभवों को आत्मा प्राप्त करती है। अज्ञानता से ग्रसित होने के कारण आत्मा पाश युक्त रहती है एवं पशु कहलाती है। इस स्थिति में उसे सत् असत् का सम्यक् बोध नहीं रहता जिससे वह माया प्रसूत विषयों के प्रति आकर्षित होती हुई उन अचेतन तत्त्वों से सम्बद्ध रहती है। विषयासक्ति से प्रेरित होने के कारण कर्म बन्धन होता है अर्थात् सकाम कर्म आगामी कर्म फल को उत्पन्न करता है एवं उसके उपभोग के सन्दर्भ में आत्मा पुन: कर्म करती है। इसी प्रकार से यह कर्म बन्धन चलता रहता है, जैसा कि पहले विवेचन किया गया है कि भूतकाल के कार्यों के जो परिणाम प्राप्त हो रहे हैं उन्हें प्रारब्ध कहा जाता है, एवं भूतकाल के वे कर्म जो अभी तक फलित नहीं हुए एवं वर्तमान में किये जाने वाले कर्म जो भविष्य में फलित होने वाले हैं, दोनों ही आत्मा के लिए बन्धन हैं, क्योंकि कर्म फल वह सार्वभौम विषय है जो अप्रतिहत गति से अनिवार्य रूप से प्राप्त होते हैं। इसी संदर्भ में श्री उमापति कहते हैं कि भौतिक देह से प्रारब्ध कर्म दूर नहीं होता अर्थात् इसे इस प्रकार से कहा जा सकता है कि जब तक प्रारब्ध कर्म फलित होता रहता है तब तक भौतिक देह विद्यमान रहती है। महापुरुषों के जीवन में भी यह देखा गया है कि प्रारब्ध कर्म का अन्त करने के लिए ही वे मोक्ष (जीवन मुक्ति) प्राप्त करने के उपरांत भी देह में विद्यमान रहते हैं। प्रारब्ध कर्म का अन्त होने पर जब देहान्तर होता है तब साधक विदेह मुक्ति को प्राप्त करता है। इस संदर्भ में ज्ञातव्य है कि कुम्भकार के चक्र से हाथ उठा लेने पर भी जैसे चक्र अपनी गति के अनुसार घूमता रहता है उसी प्रकार से कर्म-पाश खण्डित हो जाने पर भी अर्थात् साधक के निष्काम स्थिति को प्राप्त करने के उपरांत भी पूर्व संस्कारवशात् देह तब तक क्रियाशील रहता है जब तक प्रारब्ध कर्म का अन्त नहीं हो जाता। शैव-सिद्धान्त के अनुसार समत्व भाव के उपरान्त अर्थात् कर्म साम्य हो जाने पर आगाम्य-कर्म उत्पन्न नहीं होते।

कर्म में अन्तर्भूत आसक्ति का नाश हो जाने पर भूने हुए बीज की तरह उसका परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकता। साधना से आत्मा जब चित्-शक्ति से समन्वित हो जाती है तब ईश्वर की कृपा से संचित कर्म का नाश हो जाता है। उक्त संदर्भ में श्री उमापति कहते हैं कि इन दो कर्मों के नाश हो जाने पर भी ये आत्मा को उसी प्रकार से आबद्ध रखना चाहते हैं जैसे कि हींग के न रहने पर भी उसका गन्ध बर्तन में विद्यमान रहता है। हींग का स्वभाव ही ऐसा है कि जिससे वह सम्बन्धित होता है उस पर उसका अमिट प्रभाव पड़ा रहता है। हींग के न रहने पर भी उसका गन्ध वहाँ विद्यमान रहता है। संचित एवं आगाम्य कर्म के स्वभाव भी इसी प्रकार के है। साधक में विश्व प्रपंच के प्रति अनासक्ति भाव आने पर भी कर्म-पाश उसे छोड़ना नहीं चाहता। आकांक्षारूपी बीज का नाश हो जाने पर भी कर्म-पाश आत्मा में हींग की महक की तरह विद्यमान रहता है। श्री उमापति कहते हैं कि गुरुकृपा ही एकमात्र उपाय है जिससे कर्म पाश का समूल नाश हो सकता है। गुरु के माध्यम से पशु-रूपी आत्मा में ईश्वर कृपा प्रवाहित होती है जिसके होने से आत्मा से आबद्ध 'हींग' की महक की तरह कर्म-पाश सदा के लिए तिरोहित हो जाता है। ईश्वर की कृपा वह सर्वव्यापक ज्ञान प्रकाश है जिससे पशु पाश रहित होकर शुद्ध ज्ञान-सत्ता के रूप में परम चैतन्य के साथ अभिन्न हो जाता है। श्री उमापति उक्त उपलब्धि के साधन के रूप में पंचाक्षर मंत्र का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि पंचाक्षर अनादि एवं अनन्त हैं। नाम एवं नामी तादात्म्य है। अत: शिव नाम ही शिव-स्वरूप है। उसकी महिमा अपार एवं अवर्णनीय है। पंचाक्षर शिव-स्वरूप है। इसीलिए एकमात्र उसका आश्रय लेने पर पाश से मुक्ति प्राप्त करना सम्भव है। गुरुकृपा ही शिव कृपा है। सकल स्थिति में ईश्वर गुरु के रूप में कृपा की वर्षा करता है। शिव-भक्त, शिव-भक्ति से अभेद होने के कारण सत्य ज्ञान-सम्पन्न है।

अत: उक्त पद में श्री उमापति पंचाक्षर मन्त्र की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह मन्त्र पाँच अक्षरों के माध्यम से सम्पूर्ण तत्त्वों का प्रतीक है। 'न' वर्ण तिरोधान शक्ति एवं 'म' वर्ण मल-पाश का द्योतक है। 'शि' शिव एवं 'व' शक्ति तत्त्व को सूचित करते हैं। 'न' एवं 'म' अर्थात् तिरोधान एवं मल-पाश एक ओर तथा दूसरी ओर 'शि' एवं 'व' के रूप में शिव और शक्ति रहते हैं। इन दो तत्त्वों के साथ 'य' रूपी आत्म-तत्त्व विद्यमान रहता है। "नम: शिवाय" पंचाक्षर "स्थूल पंचाक्षर" कहलाता है, क्योंकि उक्त स्थिति में आत्मा बद्धावस्था में रहती है। 'न' एवं 'म' 'य' से पहले रहने के कारण आत्मा आणवमल जनित अज्ञानता के आवरण में आबद्ध रहती है तथा तिरोधान शक्ति में अवस्थित रहती है जिसे अज्ञानता के कारण वह जान नहीं पाती। अनादि काल से आत्मा आणवाधृत होने के कारण अज्ञानता-पाश में आबद्ध रहती है। परम करूणामय ईश्वर आत्मा को अज्ञानता से मुक्ति दिलाने के लिए विश्व की सृष्टि करता है। सृष्टि माया-कर्म से समन्वित है। ईश्वर-शक्ति आच्छादित रूप से सृष्टि में अनुस्यूत रहती है इसीलिए आत्मा

पाश-बद्ध होने के उपरान्त भी चित्-शक्ति की अन्त:प्रेरणा से ज्ञान की ओर अग्रसर होती है, परन्तु अज्ञानता रूपी अन्धकार इतना प्रगाढ़ है कि मलावरण शिथिल होने के लिए अनेक जन्मों की आवश्यकता होती है। अज्ञानता प्रसूत रोग-मोह से प्रेरित होकर आत्मा इस असत्य विश्व-प्रपंचों के विषयों में आसक्त रहती है। जिसके फलस्वरूप निरन्तर कर्म फल उत्पन्न होते जाते हैं एवं जन्म मृत्यु का प्रवाह चलता रहता है। माया प्रसूत विषय परिवर्तनशील, नाशवान एवं असत्य है। जब आत्मा इन विषयों के प्रति आसक्त रहती है तब उसकी गति अज्ञानता एवं असत्य की ओर होती है परन्तु सृष्टि में आत्मा के लिए यही एकमात्र गति नहीं है। ईश्वर शक्ति आवृत्त रूप में, तिरोधान शक्ति के रूप में इस विश्व प्रपंच में अन्तर्लीन है। आत्मा जब मिथ्या, असत्य प्रपंच से विमुख होकर चित्-शक्ति के प्रति उन्मुख होती हुई उसे ही एकमात्र आश्रय एवं उपाय के रूप में अपनाती है तब अज्ञानता का आवरण दूर होकर उसके बन्धन शिथिल हो जाते हैं। तदनन्तर ईश्वर की कृपा से अज्ञानता सदा के लिए तिरोहित हो जाती है। "नम: शिवाय" रूपी पंचाक्षर आत्मा की सापेक्ष, द्वन्द्वात्मक, खण्डित एवं उनकी कृपा भी असत्य के अन्धकार को दूर करने के लिए वैसे ही फलप्रसू है। यह स्पष्ट है कि पशु यद्यपि अपने साधन से मोक्ष की ओर अग्रसर होता है परन्तु पाशबद्ध होने के कारण वह अपने प्रयास से सम्पूर्ण सफलता को प्राप्त नहीं कर सकता। ईश्वर कृपा ही सभी पाश बन्धनों से आत्यन्तिक मुक्ति प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है। केवल आणवमल ही नहीं कर्म एवं माया मल से मुक्ति भी ईश्वर ही प्रदान करता है। ईश्वर की कृपा से जब पाश-बन्धन सम्पूर्ण रूप से छिन्न हो जाते हैं तब और जन्म नहीं होते क्योंकि जन्म मृत्यु शृंखला के कारणों का नाश हो जाता है। शिव-शक्ति पशु को सब पाशों से मुक्त करती हुई अपने में सम्मिलित कर लेती है। तब कर्म करने पर भी पुन: बन्धन नहीं हो सकता। गुरु द्वारा प्रदत्त 'पंचाक्षर' मन्त्र ही शिव-शक्ति रूप है। गुरु के माध्यम से शिव-शक्ति आविर्भूत होती है। पंचाक्षर मन्त्र अनादि अनन्त है, एकमात्र चैतन्य प्रकाश है जिससे पाश बन्धन खण्डित हो जाता है। इसीलिए श्री उमापति कहते हैं कि पंचाक्षर मन्त्र के साधन से ही सभी बन्धनों का नाश हो जाता है एवं पुनर्जन्म की कोई सम्भावना नहीं होती। शिव-शक्ति ही मन्त्र के रूप में गुरु के माध्यम से आविर्भूत होती है, जो एकमात्र उपाय है।

पद नं. ९१

भावानुवाद

श्री 'पंचाक्षर' पाँच अक्षरों से सम्पन्न है। आत्मा (य) तिरोधान (न) मल (म) शिव-शक्ति (वा) शिव (शि) इन पाँचों से परिवेष्ठित होकर आत्मा इनके मध्य विद्यमान रहती है। अनादिकाल से यह 'म' एवं 'न' द्वारा (मल एवं तिरोधान शक्ति द्वारा) आच्छादित है

एवं 'वा' तथा 'शि' (शक्ति एवं शिव) के बिना अर्थात् प्रेम (कृपा) के बिना निरन्तर विकसित मल (पाश) के कारण आत्मा भँवर की तरह जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमती रहती है। जिनमें ईश्वर कृपा के प्रति प्रेम है उन्हें ही पंचाक्षर की शिक्षा दी जा सकती है।

पाशाबद्ध स्थिति यह सूचित करता है कि जिसमें 'न' रूपी तिरोधान शक्ति एवं 'म' रूपी मल तत्त्व प्रारम्भ होने के कारण 'य' रूपी आत्म तत्त्व 'शि' एवं 'वा' (शिव एवं शक्ति) तत्त्व के अस्तित्त्व के बोध को प्राप्त नहीं कर सकती। आत्मा की उक्त व्यवहारिक सापेक्ष स्थिति को समझाने के लिए शैव-सिद्धान्त दर्शन में 'ऊननडनम्' शब्द का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि विश्व-प्रपंच में आत्मा द्वारा किये गये सकाम कर्म एवं उनके परिणामों को प्राप्त करने के संदर्भ में पुन: किये गये कर्म इत्यादि संसार-नृत्य अथवा शारीरिक-बद्धावस्था जनित क्रियाशीलता को सूचित करते हैं अर्थात् इस प्रकार के कर्म मोक्षदायक नहीं है, वरन् बन्धन की स्थिति को ही सूचित करते हैं। जब आत्मा चित्-शक्ति में आश्रित होकर उसी को एकमात्र उपाय के रूप में ग्रहण करती है, तभी सांसारिक मोह से मुक्त होकर ज्ञान प्राप्त करती है। चित्-शक्ति आत्मा के लिए एक मात्र श्रेय तथा प्रेय की उपाय है। इसके आश्रय के बिना आत्मा जन्म-मृत्यु के भँवर में घूमती रहती है जो अत्यन्त कष्टदायक एवं अवांच्छित है। ईश्वर कृपा ही आत्मा को उक्त अवांच्छित स्थिति से मुक्त कर सकती है। ईश्वर की अनुकम्पा, प्रेम ही आत्मा के लिए एकमात्र साधन एवं साध्य है। जब आत्मा माया को छोड़कर ईश्वर-शक्ति को अपनाती है तब मिथ्या के मोह से मुक्त होकर सत्य पर आश्रित हो जाती है। यह आत्मा की ज्ञानात्मक स्थिति है। उक्त स्थिति में पंचाक्षर परिवर्तित होकर "शिवाय नम:" हो जाता है जिसमें 'य' रूपी आत्मा से पहले 'शि' एवं 'वा' अर्थात् शिव-शक्ति रहते हैं। आत्मा से पहले शिव एवं शक्ति का होना आत्मा की ज्ञानात्मक स्थिति को सूचित करती है। आत्मा जब शिव-शक्ति के आश्रय में रहती है तब 'न' एवं 'म' पीछे चले जाते हैं अर्थात् आणवमल एवं तिरोधान आत्मा को प्रभावित नहीं कर पाते। ईश्वर-शक्ति अनुग्रह के रूप में प्रकाशित होती है। "शिवाय नम:" पंचाक्षर "ज्ञाननडनम्" अर्थात् ज्ञाननृत्य को सूचित करता है। यह आत्मा की अज्ञानता से मुक्त होकर ज्ञानावस्था में अवस्थित होने की ओर संकेत करता है। इसे सूक्ष्म 'पंचाक्षर' कहते हैं। तदनन्तर ईश्वर की कृपा से अज्ञानता सम्पूर्ण रूप से तिरोहित होकर पूर्ण-ज्ञान की प्राप्ति कराती है, जो शिवाय नम: मुक्ति पंचाक्षर द्वारा सूचित होता है।

पद नं. ९२

भावानुवाद

आणवमल एक मुख्य (विशेष) दोष है। तिरोधान भी दूरीभूत नहीं होता। यदि (तुम) 'शिव' को पहले रखकर पंचाक्षर उच्चारित करते हो एवं न तथा म को पीछे (अन्त में)

रखते हो तब ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है। पुनः ईश्वर की कृपा 'वा' (शक्ति या कृपा) तथा (शिव) के साथ विशेष रूप से प्राप्त होती है एवं आत्मा के साथ विद्यमान रहती है जो आत्मा आणवाधृत है वही ईश्वर से एकत्व प्राप्त करती है। यही पंचाक्षर की श्रेष्ठता है।

पंचाक्षर मंत्र की महिमा का ज्ञान कराते हुए श्री उमापति पुनः कहते हैं कि आत्म-तत्त्व अनादि काल से आणवाधृत रहने के कारण अज्ञानान्धकार से आवृत्त रहता है। पंचाक्षर मन्त्र के साधन से वही आत्मा अज्ञान से मुक्त होकर शिव प्रकाश को प्राप्त करती है। पंचाक्षर मन्त्र शिव-शक्ति स्वरूप है। इसीलिए वह आत्मा को मलावरण से मुक्त कर शिव-स्वरूप में अवस्थित कर देता है। जैसा कि पूर्वपद में बताया गया है स्थूल पंचाक्षर "नमः शिवाय" की साधना बद्धात्मा पशु रूप में करती है। जिसमें 'न' एवं 'म' के रूप में तिरोधान तथा मल का प्रभाव आत्मा के ऊपर सम्पूर्ण रूप से विद्यमान रहता है। 'न' एवं 'म' के बाद 'शि' तथा 'वा' अर्थात् शिव एवं शक्ति रहते हैं। इसीलिए शिव-शक्ति आच्छादित रूप में रहती है परन्तु ईश्वर की कृपा आत्मा के प्रति सामान्य रूप से रहती है, जिससे आत्मा अज्ञानाच्छादित होने पर भी विभिन्न अनुभवों के माध्यम से विषयों के सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करती है एवं क्रमशः असत्य से सत्य की ओर प्रेरित होती है। ईश्वर की कृपा से आत्मा में मल परिपाक एवं कर्म-साम्य की स्थिति उत्पन्न होने पर पशु-आत्मा माया-प्रसूत असत्य विषयों के प्रति निस्पृह होकर परम-सत्य-ज्ञान की ओर उन्मुख होती है एवं तभी आच्छादित तिरोधान शक्ति पूर्ण प्रकाशित होकर अनुग्रह शक्ति के रूप में आत्मा को ज्ञान प्रकाश से आप्लावित कर देती है। जब आत्मा माया जनित विषयों की निःस्सारता को समझती हुई शिव-शक्ति के प्रति समर्पित हो जाती है, तब ईश्वर की अनुकम्पा से अज्ञानान्धकार दूर होकर पंचाक्षर मन्त्र "शिवाय नमः" के रूप में रूपान्तरित हो जाता है। उक्त स्थिति में 'य' रूपी जीव के सम्मुख 'शि' एवं 'वा' की अवस्थिति आत्मा के प्रति ईश्वरीय अनुकम्पा सूचित करती है। ईश्वर की कृपा से ही तिरोधान एवं आणव-रूपी पाश बन्धन पीछे छूट जाते हैं। उक्त संदर्भ में श्री उमापति कहते हैं कि जब व्यक्ति टॉर्च के प्रकाश को सामने की ओर रखता है तब सभी विषय उसी प्रकाश से प्रकाशित दिखते हैं।[1] उसी प्रकार जब आत्मा शिव-शक्ति के प्रति सम्पूर्ण रूप से समर्पित हो जाती है तब सभी विषय उसी सत्य ज्ञान प्रकाश से प्रकाशित हो जाते हैं। तिरोधान एवं आणवमल आत्मा को और अज्ञान-पाश से आबद्ध नहीं कर सकते। वे निष्क्रिय एवं निष्प्रभ होकर पीछे छूट जाते हैं। "शिवाय नमः" पंचाक्षर अनुकम्पा से पूर्ण उत्तर स्थिति को सूचित करती है। अतः ईश्वर की कृपा से आत्मा पूर्णतः शिव-ज्ञान में अवस्थित होकर शिवानन्द

१. तिरूवरूटपयम् ७, ६८

का अनुभव करती है। आणवमल के निष्प्रभ एवं अप्रभावित हो जाने के कारण पाशबन्धन शिथिल हो जाते हैं। साधक सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द परमेश्वर शिव का अनुभव करता है। उक्त स्थिति का द्योतक मुक्ति पंचाक्षर व "शिवाय शिव" है जिसमें शिव से भिन्न अन्य किसी सत्ता की चेतना नहीं होती है यही सर्वोच्च अद्वैत, अभेद अथवा अनन्य स्थिति है।

उक्त पद में श्री उमापति पंचाक्षर की महत्ता को बताते हुए कहते हैं कि यद्यपि पशु-आत्मा अनादि काल से आणवाधृत है परन्तु शिव-शक्ति की अनुकम्पा से वह आणव पाश से मुक्त होकर शिवानन्द का अनुभव कर सकती है क्योंकि शिव-शक्ति भी अनादि काल से आत्मा में अनुस्यूत है। शिव-शक्ति प्रकाश-रूप है। सर्वशक्तिमान परम करुणामय ईश्वर अपनी चित्-शक्ति के द्वारा आणवान्धकार को दूर कर देता है। आत्मा के प्रति ईश्वर की यह अनुकम्पा अतुलनीय एवं वर्णनातीत है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार आत्मा सदसत् रूप है। वह या तो असत् (अज्ञानता) नहीं तो सत् (ज्ञान) से सम्बद्ध रहती है। ईश्वर की अनुकम्पा ही आत्मा को अज्ञानता से ज्ञान प्रकाश की ओर ले जाती है। पंचाक्षर मन्त्र इसी अनुकम्पा का प्रतीक है।

पद नं. ९३—उन्नत व्यक्ति का स्वरूप

भावानुवाद

दोषयुक्त मायेय शरीर की कोई प्रगति नहीं होती। कर्मों को तीन उपायों से (मनसा, वाचा, कायेन) दूर किया जा सकता है। मूल मल तिरोहित नहीं होता। मन का घनीभूत अन्धकार महान ज्ञान से दूरीभूत हो जाता है एवं (आत्मा) मन में आनन्दघन स्थिति को प्राप्त कर गहन निद्रा (समाधि) के साक्षात् रूप से उस एक (शिव) के साथ संयुक्त होकर परम शांति को प्राप्त करती है। यह अनाच्छादित स्थिति है।

उक्त पद में श्री उमापति पाश बन्धन के दोष एवं ईश्वर-कृपा की अपरिहार्यता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि अनादि मल आणव से मुक्त होने के लिए ईश्वर-कृपा ही एकमात्र साधन है। कर्म, जो शुभ एवं अशुभ हैं, यद्यपि निरन्तर परिणाम उत्पन्न करते हैं परन्तु कामना या वासना को त्याग देने से निष्काम कर्म फल उत्पन्न नहीं कर सकता। निष्काम कर्म भुने हुए बीज की तरह है। जिससे वृक्ष रूपी परिणाम की उत्पत्ति नहीं हो सकती। मनुष्य कायिक वाचिक एवं मानसिक–इन तीनों साधनों से कर्म करता है, वास्तव में कर्म में अन्तर्भूत मानसिक अभिप्राय के साथ कायिक एवं वाचिक सहयोग से कर्म सम्पन्न होते हैं। अच्छे अभिप्राय से किये गये कर्म शुभ कर्म एवं बुरे अभिप्राय से किये गये कर्म अशुभ कर्म कहलाते हैं। इन दोनों कर्मों का फल प्राप्त करना अनिवार्य है। कर्म चाहे जैसा भी हो उसके परिणाम को अवश्य ही ग्रहण करना पड़ता है एवं इसीलिए जन्म

भी होता है। यही कारण है कि शास्त्रीय ग्रन्थों में निष्काम अर्थात् कामना रहित अनासक्त कर्म करने का सन्देश दिया गया है। आसक्ति ही फलोत्पत्ति का कारण है अत: अनासक्त कर्म निर्बाध स्वतन्त्र कर्म है, जिससे बन्धन की उत्पत्ति नहीं हो सकती। मनुष्य जब कर्म फल को ईश्वर के प्रति अर्पित कर देता है अर्थात् जब शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के प्रति उसकी समत्व दृष्टि होती है तब कर्म से कोई फलोत्पत्ति नहीं होती है एवं इस प्रकार के अनासक्त निष्काम कर्म से बन्धन नहीं हो सकता है। शैव सिद्धान्त के अनुसार शुभ एवं अशुभ कर्म के प्रति समत्व दृष्टि कर्म-साम्य की स्थिति है जो पुन: मल परिपाक से उत्पन्न होती है। जगत प्रपंच के अनेक अनुभवों के माध्यम से चित्-शक्ति की अन्त:प्रेरणा रूपी अनुकम्पा से पशु आत्मा में बाह्य विषयों की नि:स्सारता का बोध उत्पन्न होता है। जिससे इन व्यावहारिक मिथ्या विषयों से विमुख होकर आत्मा क्रमश: चित्-शक्ति के प्रति समर्पित होती जाती है जिससे मूल-मल आणव से उत्पन्न अज्ञानता प्रसूत मोह बन्धन शिथिल हो जाता है। शैव-सिद्धान्त में उक्त स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए दो दृष्टान्त दिये गये हैं। पूर्ण परिपक्व आम का पेड़ की शाखा से बन्धन जब शिथिल हो जाता है तब थोड़े से स्पर्श मात्र से वह पेड़ की शाखा से अलग होकर गिर पड़ता है उसी प्रकार से मल परिपाक हो जाने से आत्मा स्वत: चित्-शक्ति के प्रति निर्भरशील हो जाती है। अज्ञानता-प्रसूत मोह-बन्धन शिथिल हो जाने के फलस्वरूप आत्मा अन्य विषयों के प्रति विमुख हो जाती है एवं विश्व प्रपंच में निष्काम भाव से कर्म करती रहती है। अत: यह स्पष्ट है कि चित्-शक्ति की अन्त: प्रेरणा से आत्मा में मल-परिपाक एवं कर्म साम्य की स्थिति उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में ही ईश्वर के परम अनुग्रह से अज्ञानता का अन्धकार सम्पूर्ण रूप से तिरोहित हो जाने पर आत्मा उज्ज्वल शिव-ज्ञान में निमज्जित हो जाती है। उक्त सन्दर्भ में श्री उमापति जी कहते हैं कि अचेतन माया पाश रूप होने के कारण ज्ञान प्रदान करने में समर्थ नहीं हो सकती एवं मलावरणयुक्त होने के कारण आत्मा बन्धन में आबद्ध हो जाती है। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो रहा है कि ईश्वर की अनुकम्पा से ही आत्मा माया एवं कर्मरूपी पाश बन्धन से मुक्त हो सकती है। स्वरूपत: माया एवं कर्म पाश बन्धन हैं परन्तु चित्-शक्ति के अन्तर्लीन होने के कारण वे आत्मा की आध्यात्मिक प्रगति में सहायक सिद्ध होते हैं। आत्मा चित्-शक्ति के प्रति समर्पित होकर माया एवं कर्म का उचित उपयोग कर सकती है परन्तु आणवमल के प्रभाव से मुक्त होने के लिए तीव्र शक्ति निपात की आवश्यकता होती है। ईश्वर-शक्ति माया एवं कर्म के साथ आच्छादित रूप में विद्यमान रहती है। इसीलिए तिरोधायी कहलाती है। उक्त स्थिति में आत्मा को शिव-शक्ति का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं रहता परन्तु मल-परिपाक एवं कर्म-साम्य की स्थिति में जब तीव्र-शक्ति निपात होता है तब परिपक्व आम एवं मोतियाबिन्द की तरह अज्ञानता दूर हो जाती है। परिपक्व स्थिति में जैसे सामान्य स्पर्श से आम पेड़ से अलग

हो जाता है एवं अनायास मोतियाविन्द भी आँख से निकल जाता है एवं पेड़ तथा शरीर की कोई हानि नहीं होती उसी प्रकार से कर्म साम्य एवं मल परिपाक की स्थिति में तीव्र-शक्ति निपात से आत्मा आणव मल के प्रभाव से मुक्त हो जाती है। अज्ञानता सदा के लिए तिरोहित हो जाती है एवं आत्मा सच्चिदानन्द की आनन्दघन स्थिति में निमज्जित हो जाती है। यह पूर्ण ज्ञान एवं पूर्ण आनन्द की स्थिति है उक्त स्थिति में शिव-शक्ति पूर्ण रूप से अनाच्छादित रूप से प्रकाशित होती है। जिसमें आत्मा पूर्ण ज्ञानानन्द की अनुभूति में निमज्जित रहती है। यही ईश्वर की परम अनुकम्पा है।

पद नं. १४

भावानुवाद

पवित्र स्थान, पवित्र समय, दिशा, आसन, सत्य-सहानुभूति संपन्न मतवाद, जाति, जातिगत गुण, विशेष व्रत (आचार अनुष्ठान) शील, तपस, जप, ध्यान इत्यादि सभी विषयों को पालन करते हुए एवं पुनः अस्वीकार या त्याग करते हुए आत्मा सत्य में उसी प्रकार से अवस्थित रहती है जैसे निद्रित व्यक्ति के हाथ से वस्तु छूट जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा के हाथ से शिव ज्ञान के अतिरिक्त सभी विषय छूट जाते हैं।

उक्त पद में श्री उमापति साधना की स्थिति में हुए परिवर्तन के सन्दर्भ में कहते हैं कि साधना चर्या एवं क्रिया के विभिन्न नियमों के पालन करने से शुरू होती है परन्तु जैसे-जैसे साधक को आध्यात्मिक उच्च स्थिति की प्राप्ति होती है उसके व्यक्तित्व में बाह्य एवं आन्तरिक परिवर्तन आते रहते हैं। ईश्वर प्रणिधान के संदर्भ में बताया गया है कि एकाग्र चित् होकर ध्यान करने के लिए कई पालनीय विषय होते हैं, जैसे पवित्र स्थान, पवित्र स्थान के वातावरण की पवित्रता का प्रभाव साधक के चित्त में ध्यान के लिए अनुकूलता की स्थिति को उत्पन्न करता है। उसी प्रकार पवित्र समय एवं दिशा का ध्यान रखना आवश्यक है क्योंकि जिस समय, जिस ग्रह एवं नक्षत्र का प्रभाव अधिक होता है उससे साधक का चित्त भी प्रभावित होता है। अतः शुभ संयोग निश्चित रूप से साधना में अनुकूलता उत्पन्न करता है। जैसा सर्वविदित है कि साधना में विभिन्न प्रकार के आसनों का उपयोग किया जाता है, जैसे पद्मासन, सुखासन, कूर्मासन, मत्स्यासन इत्यादि। आसन, प्राणायाम इत्यादि के अभ्यास से देह एवं चित्त में ध्यान की गहनता के लिए शक्ति एवं उपयुक्तता का विकास होता है। सत्य सहानुभूति सम्पन्न मतवाद व्यक्ति के अध्यात्मिक उन्नयन के लिए सहायक होते हैं और प्रेरणादायी होते हैं। जाति एवं जातिगत गुणों का ध्यान रखना आवश्यक है क्योंकि ये मनुष्य में आधारभूत तत्त्व होते हैं। जिनके द्वारा मनुष्य प्रगति करता है। व्यक्तित्व के अन्तर्गत मौलिक तत्त्वों को छोड़कर अथवा उनसे सम्पूर्ण

भिन्न रूप में आध्यात्मिक प्रगति नहीं की जा सकती है, क्योंकि आध्यात्मिक प्रगति सम्पूर्ण व्यक्तित्व का रूपान्तरण है, उसके आंशिक परिवर्तन का नहीं। साधना की प्रक्रिया में विशेष व्रत, आचार, अनुष्ठान, शील, तपस इत्यादि भी अत्यन्त महत्वपूर्ण माने गये हैं। विभिन्न प्रकार के व्रतों में, अष्टव्रत इत्यादि द्वारा शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि होती है एवं क्रमश: चित्त की चंचलता, विकार आदि प्रशमित होकर, चित्त ईश्वर प्राणिधान के लिए उपयुक्त बनता है। पंचाग्नि इत्यादि तपस् भी व्यक्ति को बाह्य आकर्षणों से मुक्त करते हुये ईश्वर के प्रति केन्द्रित कर देते हैं तथा शारीरिक एवं मानसिक रूप से कठोर साधना के लिए उपयुक्त वना देते हैं। इनके अतिरिक्त जप एवं ध्यान साधना का सार्वभौम विधान है। आध्यात्मिक, प्रगति के संदर्भ में शास्त्र एवं महापुरुषों द्वारा प्रदत्त ऐसे अनेक विधान अर्थात् चर्या एवं क्रिया हैं जिनकी निरन्तर साधना से साधक क्रमश: पाश बन्धन से मुक्त होने का प्रयास करता है। ईश्वर की कृपा से उक्त विधानों से साधक में जो आध्यात्मिक प्रगति होती है, उससे साधक में चित्त विकार दूर होकर चित्त की शुद्धि होती है एवं वह क्रमश: ईश्वर पर आश्रित होता जाता है। चर्या क्रिया रूपी विभिन्न उपायों से साधक सत्य की ओर प्रेरित होता है। श्री उमापति कहते हैं कि ज्ञान ही सत्य है। उपरोक्त सभी साधन ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त ही प्रयुक्त होते हैं। मात्र ज्ञान ही अज्ञानता रूपी मलान्धकार को दूर कर सकता है। ईश्वर सच्चिदानन्द है। ज्ञान ही उसका स्वरूप है अत: ज्ञान के द्वारा ही आत्मा ईश्वर को प्राप्त कर सकती है। शैव-सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान ही मोक्ष का स्वरूप है। उक्त सभी साधन प्रणालियाँ ज्ञान रूपी साध्य को प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त होती है। ईश्वर की करुणा से ही जीव ज्ञान को प्राप्त कर सकता है और अन्य कोई उपाय नहीं है। ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त चर्या, क्रिया इत्यादि अन्य साधन साधक के लिए अनावश्यक हो जाते हैं। साधक के ज्ञान में निमज्जित हो जाने से अन्यान्य साधन स्वत: वैसे ही छूट जाते हैं, जैसे कि निद्रित व्यक्ति के हाथ से कोई वस्तु छूट जाती है। जब तक व्यक्ति जाग्रत स्थिति में बाह्य विषयों के प्रति सजग रहता है तब तक वह हाथ से पकड़े हुए वस्तु का ध्यान रखता है, परन्तु निद्रित स्थिति में व्यक्ति बाह्य विषयों के प्रति सचेत न होने के कारण हाथ से पकड़े हुए विषय या वस्तु का भी ध्यान नहीं रख सकता है एवं हाथ के शिथिल हो जाने से विषय स्वत: छूट जाते हैं, उसी प्रकार से सत्य ज्ञान को प्राप्त किया हुआ व्यक्ति बाह्य सांसारिक नि:स्सार विषयों के प्रति उदासीन हो जाने के कारण चर्या, क्रिया इत्यादि साधन प्रणालियों के द्वारा उनसे सम्बन्धित नहीं रह सकता है। ज्ञान साधक को सांसारिक विषयों की द्वैत भूमि से अद्वैत भूमि में पहुँचा देता है ज्ञान ही ईश्वर स्वरूप है, परम प्राप्ति का उपाय एवं उपेय है अत: ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद और किसी साधन प्रणाली की आवश्यकता नहीं रह जाती। व्रत, तपस, ध्यान इत्यादि का साधक तब तक अनुपालन करता रहता है जब तक ज्ञान-रूपी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो जाती। ज्ञान-प्रकाश को प्राप्त

करते हुए साधकगण नित्य शाश्वत रूप से ईश्वर से अनन्य होकर अद्वैतानुभूति को प्राप्त करते हैं। उक्त स्थिति में किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि ईश्वर से अनन्यता ही साध्य है। साधक जब इस अद्वैत भूमि में चला जाता है तब द्वैत स्थिति के द्योतक उक्त साधनों का स्वत: अन्त हो जाता है और साधक ईश्वर से अनन्य होकर ज्ञानानन्द को प्राप्त करता है। उक्त पद में श्री उमापति साधक के द्वैत स्थिति से अद्वैत स्थिति को प्राप्त करने की विवेचना करते हैं।

पद नं. ९५

भावानुवाद

आन्तर एवं बाह्य दो प्रकार की अर्चनाएँ इस विश्व में की जाती हैं। तम गुणात्मक सभी व्यक्ति इन दो अर्चनाओं के बिना इस विश्व में संतुष्ट रहते हैं जो पशु ज्ञानी है। इन्ही व्यक्तियों में इन आन्तर एवं बाह्य अर्चना के बिना ही ज्ञान प्रकाशित होता है वे शुभ व्यक्ति हैं।

पूर्व पदों में श्री उमापति ने शिव आराधना के विभिन्न उपायों जैसे–सत्य, सहानुभूति, समान मतवाद, व्रत (आचार, अनुष्ठान), शील, तपस, जप, ध्यान एवं सत् सम्बन्धी अन्यान्य विषयों की चर्चा की है। उक्त प्रकार की उपासना के सभी उपाय चर्या, क्रिया योग के अंतर्गत हैं जो आत्मा को क्रमश: ज्ञान की ओर प्रेरित करते हुए उसे पूर्ण रूप से धारण करने योग्य बनने में सहायक सिद्ध होते हैं। इसीलिए इन बाह्य अर्चनाओं की आवश्यकता है। पूर्व पद में पंचाक्षर की महिमा का वर्णन करते हुए श्री उमापति ने उसे शिव-शक्ति स्वरूप कहा है जिसका साधक आध्यात्मिक प्रगति के विभिन्न स्तरों में विशेष रूप से साधना करता है एवं उसकी सत्यता को प्राप्त करता है। उक्त संदर्भ में यह ज्ञात है कि पंचाक्षर मन्त्र के साधन के साथ साधक एक दूसरे प्रकार की अर्चना को अपनाता है, जिसे आन्तर्पूजा अथवा अन्तर्याग पूजा कहते हैं। यद्यपि ईश्वर पर-तत्त्व है परन्तु वह अन्तर्यामी भी है। इसीलिए हृदय कमल में उसे अधिष्ठित करता हुआ साधक अपने में उसकी पूजा करता है। हृदय कमल विश्व प्रपंच के छत्तीस तत्त्वों का सूक्ष्म प्रतीक है। परमेश्वर शिव की कल्पना उस कमल पर अधिष्ठित देवता के रूप में की जाती है। पृथ्वी-तत्त्व से शक्ति तत्त्व तक पूरे छत्तीस तत्त्वों को हृदय-कमल के विभिन्न अवयवों में विद्यमान माना जाता है। नाभि-कमल में पृथ्वी का मूल एवं पृथ्वी से लेकर प्रकृति माया के अन्यान्य इस विकसित कमल के ऊपर में अवस्थित माने जाते हैं। सात विद्या तत्त्व एवं शिव-तत्त्व की शुद्ध विद्या ये अष्टदल कमल की आठ पंखुड़ियाँ मानी जाती हैं। ईश्वर एवं सदा शिव तत्त्व कमल में अन्तर्भूत रेणु के ऊपर सूक्ष्म, पूर्ण एवं शक्ति तत्त्व फूल रेणु (बीज का क्षेत्र) तथा शिव-तत्त्व को बीज (इक्यावन) के रूप में माना गया है। उक्त कल्पना की पूर्णता

के लिए साधक ने माया को हृदय-कमल के रूप में, कर्म को कमल के जड़ में रहने वाले मिट्टी के रूप में एवं मल को जलाशय के रूप में कल्पित किया है। उक्त हृत् पुण्डरीक को स्थान के रूप में मानकर, शिव की अर्चना स्थानीय रूप में की जाती है। अन्तर्भूत इस पूजा स्थान में पंचाक्षर मन्त्र के रूप में शिव को अधिष्ठित किया जाता है। साधक इस अन्तर्योग पूजा के माध्यम से भावना, मन्त्र एवं क्रिया अर्थात् भावात्मक, ज्ञानात्मक एवं संकल्पात्मक पक्षों का शुद्धिकरण करता है। आत्म-शुद्धि की उक्त प्रक्रिया की पूर्णता से साधक को शिव-योग एवं तदनन्तर शिव-योग की स्थिति प्राप्त होती है। श्री उमापति कहते हैं कि साधक अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि के अनुसार उक्त दोनों अर्चना विधियों को अपनाकर ईश्वर की कृपा से परम-पद को प्राप्त करता है। यह साधना का क्रम है। परम पद को प्राप्त कर लेने के बाद साधक जब शिव-मय हो जाता है तब उसे और उपासना की कोई आवश्यकता नहीं रहती। यह स्वप्रकाशित पूर्ण ज्ञान की अद्वैत स्थिति है। कोई द्वैत-भाव न रहने के कारण अर्चना नहीं हो सकती। यह अर्चना के परे पूर्ण-ज्ञान-सत्ता के साथ पूर्ण मिलन की नित्य स्थिति है। इसके विपरीत तमोगुणात्मक व्यक्ति अज्ञानता रूपी आवरण के द्वारा आच्छादित रहने के कारण सम्पूर्ण मलाच्छादित रहता है। मलाच्छादित इस स्थिति में आत्मा पशु कहलाती है एवं माया प्रसूत अचेतन पाशों से आबद्ध होकर मोह युक्त संतोष की स्थिति में रहती है जो शिव-ज्ञान की विपरीत स्थिति है। उसे यह मालूम भी नहीं रहता है कि वह सत्य की विपरीत दिशा में है। ईश्वर की कृपा से ही व्यक्ति इस स्थिति से मुक्त हो सकता है। उपरोक्त पूर्ण प्रकाश एवं इस तमोगुणात्मक स्थिति के मध्य साधक की जीवन प्रणाली है, जो ईश्वर की अनुकम्पा से संचालित होती है।

पद नं. ९६—ज्ञान-योग

भावानुवाद

जैसे विश्व प्रपंच में सब कुछ है एवं विश्व प्रपंच सब विषयों से संबंधित है, उसी प्रकार से उपयुक्त ज्ञान के द्वारा सब विषयों को उसी पूर्णता के दृष्टिकोण से देखा जाता है—विश्व प्रपंच के निर्माता (सृष्टि-कर्ता) के शरीर के रूप में, इसमें कोई संदेह नहीं है।

शिव-शक्ति माया उपादान के द्वारा विश्व प्रपंच की सृष्टि करती है एवं उसमें अनुस्यूत रहती है। इसीलिए श्री उमापति कहते हैं कि सृष्टि में सभी विषय परस्पर सम्बन्धित हैं। सृष्टिकर्ता अन्तर्यामी रूप में सृष्टि में अनुस्यूत है। ज्ञानी व्यक्ति सृष्टि को ईश्वर के शरीर के रूप में एवं ईश्वर को अन्तर्यामी रूप में देखता है। साधक को जब सत्य का ज्ञान होता है तब सर्वव्यापी चित् सत्ता के बोध से सम्पूर्ण सृष्टि में चैतन्य सत्ता के अन्तर्यामीत्व का बोध होता है, इसीलिए ज्ञानी व्यक्ति अचेतन माया-प्रसूत विषयों की

स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं करता क्योंकि उसे सर्वव्यापी चित्-शक्ति का ज्ञान होता है। शैव-सिद्धान्त में सृष्टि एवं सृष्टिकर्ता के सम्बन्ध को सूचित करने के लिए कई दृष्टान्तों के प्रयोग किये गये हैं। उनमें शरीर एवं आत्मा एक है। जिस प्रकार से आत्मा जब शरीर को धारण करती है तब सम्पूर्ण शरीर को धारण करती है और सम्पूर्ण शरीर के ऊपर उसका नियंत्रण रहता है, वह कर्तृत्व शक्ति के रूप में शरीर में व्याप्त रहती है। शरीर का संचालन आत्मा की इच्छा शक्ति ही करती है इसीलिए धारक के रूप में आत्मा अन्तर्यामी है। उसी प्रकार से शिव-शक्ति विश्व की सृष्टि करती हुई विश्व में अन्तर्यामी रूप में व्याप्त रहती है। अचेतन माया न तो स्वयं सृष्टि के रूप में विकसित हो सकती है न ही आवश्यकता के अनुसार संचालित हो सकती है। शिव-शक्ति ही निमित्त कारण है जो सृष्टि को उत्पन्न करती हुई उसमें समवेत रहती है। शिव-शक्ति के संचालन से ही सृष्टि गतिशील रहती है। केवल यही नहीं शिव-शक्ति आत्मा के मलावरण को भेद करती हुई आत्मा की चैतन्य सत्ता से भी सम्बद्ध रहती है। शिव-शक्ति की सर्वव्यापकता से सम्पूर्ण विश्व एकतानता में आबद्ध रहता है। साधक जब शिव-शक्ति से अधिक से अधिक समन्वित होता है तब उसको सर्वव्यापकता के सत्यज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान-निष्ठा से ईश्वर के अनन्त चैतन्य स्वरूप का बोध होता है एवं सृष्टि में अन्तर्यामी ईश्वर का ज्ञान भी उत्पन्न होता है। उक्त स्थिति में साधक विषयों की विभिन्नता के स्थान पर उनमें अनुस्यूत एकता की चेतना को प्राप्त करता है एवं सभी विषय सम्बद्ध, सुनियंत्रित एकतानता में आबद्ध प्रतीत होते हैं। सामान्य दृष्टि एवं अद्वैत चेतना की इस दृष्टि में यही अन्तर है कि सामान्य ज्ञान में सभी विषय भिन्न स्वतन्त्र भेद-युक्त प्रतीत होते हैं परन्तु ज्ञान निष्ठ व्यक्ति भिन्नता में अनुस्यूत एकता के बोध को प्राप्त करता है। श्री उमापति कहते हैं कि ज्ञानी-व्यक्ति विश्व के प्रत्येक कण में सर्व व्यापक चित्-शक्ति के बोध को प्राप्त करता है, क्योंकि वह स्वयं चित्-शक्ति में समवेत होकर उसकी व्यापकता के चैतन्य को प्राप्त करता है। विश्व के सभी विषय उसे सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। चित्-शक्ति में समर्पित होकर ज्ञानी व्यक्ति भेद-भूमि से अभेद भूमि में उन्नत होता है एवं सर्वमय अनन्त चैतन्यसत्ता के रूप में शिव-शक्ति के बोध को प्राप्त करता है।

पद नं. १७—ज्ञान-क्रिया

भावानुवाद

पृथ्वी तत्त्व से लेकर सभी तत्त्व दोषयुक्त एवं असत्य हैं। कृपादृष्टि से सभी विषयों को इस (सम्यक्) दृष्टिकोण से देखा जाता है। पंचाक्षर का क्रम विपरीत बनाकर (शिवाय नमः), ईश्वर की सत्ता का सर्वत्र अनुभव करना, उस पवित्र एवं महान् की उपासना करना ही ज्ञान-पूजा है—ऐसा शिवागम् में कहा गया है।

पूर्व पदों के सन्दर्भ को विस्तृत रूप से बताते हुए श्री उमापति कहते हैं कि सत्य-ज्ञान की प्राप्ति से साधक विषयों को सम्यक् दृष्टिकोण से देखता है। विश्व प्रपंच अचेतन मायारूपी उपादान के द्वारा एवं शिव-शक्ति रूपों में निमित्त कारण के द्वारा सृष्ट है। ईश्वर शक्ति के रूप में विश्व प्रपंच में व्याप्त है। शिव-शक्ति ही सत्य है। माया पाश-रूप अचेतन तत्त्व है अत: उससे सम्बद्ध होना अज्ञानता है। आत्मा चैतन्य स्वभाव है। अत: ईश्वर चैतन्य अर्थात् शिव-शक्ति ही उसका एकमात्र आश्रय है। पृथ्वी तत्त्व से लेकर शुद्ध माया से उत्पन्न शिव-तत्त्व तक सभी परिवर्तनशील अर्थात् नश्वर हैं। चित्-शक्ति ही एकमात्र नित्य सर्वव्यापी चैतन्य है। वह परमेश्वर का स्वरूप है। अत: चित्-शक्ति पर आश्रित होना ही परम प्राप्ति का एकमात्र साधन है।

उक्त तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति ईश्वर की कृपा से ही हो सकती है। अत: श्री उमापति कहते हैं कि जब साधक अपने को शिव-शक्ति पर समर्पित कर देता है तब उसकी कृपा से उसे सत्य ज्ञान का बोध होता है कि शिव-शक्ति ही एकमात्र सर्वव्यापी सत्य है। ईश्वर की सत्यता की चेतना को प्राप्त करते हुए साधक सम्पूर्ण रूप से शरणागत हो जाता है एवं ईश्वर की सर्वव्यापकता के बोध को प्राप्त करते हुए साधक सर्वत्र उसका ही दर्शन करता है। वही एकमात्र सार तत्त्व है इस चेतना को प्राप्त करने के फलस्वरूप साधक माया से उत्पन्न अचेतन वस्तुओं के नि:स्सारता एवं असत्यता का अनुभव करता है। इस स्थिति में साधक नित्य-अनित्य वस्तु विवेक के द्वारा सम्यक् सत्य ज्ञान का अवलम्बन करता हुआ चित्-शक्ति का शरणापन्न होकर "शिवाय नम:" पंचाक्षर मन्त्र की उपासना करता है। उक्त स्थिति में साधक क्रमश: चित्-शक्ति के ज्ञान प्रकाश से आप्लावित होता रहता है एवं सर्वत्र ईश्वर शक्ति का दर्शन करता है। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य विषय उसके लिए मिथ्या प्रतीत होते हैं। ईश्वर की अनुकम्पा से ईश्वर अन्तर्यामी रूप में ज्ञात होते हैं इसीलिए साधक "नम: शिवाय" रूपी पूर्व स्थिति जिसमें 'य' (आत्मा) से पहले 'न' एवं 'म' (तिरोधान एवं मल) रहता है, को त्यागकर शिवाय नम: जिसमें य (आत्मा) से पहले 'शि' (शिव) एवं 'वा' (शक्ति) विद्यमान रहती है, को ग्रहण करता है।[१] साधक को आध्यात्मिक उपलब्धि के साथ ही पंचाक्षर मन्त्र का यह परिवर्तन होता है। साधक पाश से विमुक्त होकर ईश्वर कृपा का शरणागत होकर ईश्वर चैतन्य से आप्लावित हो जाता है एवं निरन्तर शाश्वत रूप से उक्त सत्य ज्ञान में अवस्थित हो जाता है। साधक सर्वव्यापी ईश्वर चैतन्य से अपने को सम्मिलित करता हुआ सभी विषयों में ईश्वर का दर्शन करता है उसके लिए ईश्वर ही एकमात्र सर्वव्यापी ज्ञान-तत्त्व है। यही साधक की ज्ञान-पूजा है। श्री उमापति कहते हैं कि आगम शास्त्र में भी यही प्रतिपादित किया गया है।

१. तिरूवरूट्पयम्; अध्याय ९

पद नं. १८–ज्ञान-चर्या

भावानुवाद

भक्तगण एवं देवलोक के निवासी उस पवित्र रूप की ही निरन्तर उपासना कर रहे हैं, जगत-प्रपंच के लोगों ने तुम्हें देखा नहीं है–ऐसा कहते हुए वे साश्रुनयन से एवं अवरूद्ध वाणी से प्रणाम करते हैं। उस सत्य स्वरूप का वर्णन उन्हीं लोगों के द्वारा हो सकता है जिन्होंने ज्ञान-समुद्र में अपने को निमज्जित किया है।

उक्त पद में श्री उमापति ईश्वर के प्रति प्रणति ज्ञापन करते हुए कहते हैं कि पाशावरोध से मुक्त होकर ज्ञान-नेत्र से उस सच्चिदानन्द सत्ता का अवलोकन किया जा सकता है। ईश्वर की कृपा से अज्ञानता का अन्धकार जब तिरोहित हो जाता है तब भक्त ज्ञान नेत्र से ज्ञान-स्वरूप का अवलोकन करता है।[१] देवलोक के निवासी भी उसी परमेश्वर का दर्शन उसी की अनुकम्पा से निरन्तर करते रहते हैं। परमेश्वर ज्ञान स्वरूप एवं कृपा स्वरूप है। इसीलिए भक्त के प्रति कृपा परवश होकर जब वह अपने को भक्त को प्रदान करता है तब भक्त उसके अनन्त प्रेम से कृतकृत्यता का अनुभव करते हुए अश्रुपूर्ण नेत्र से चिर कृतज्ञ होकर उस प्रेम स्वरूप के प्रति आत्म समर्पण करता है। शरणागति ही परमेश्वर को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। ज्ञान से ही ज्ञानस्वरूप के चैतन्य को प्राप्त किया जा सकता है। परमेश्वर की करूणा मूर्ति चित्-शक्ति, ज्ञान-शक्ति है। भक्त के प्रति उसकी कृपा से ज्ञानालोक प्रकाशित होता है, इसीलिए भक्त स्वरूपत: ज्ञानी होता है एवं ज्ञान शक्ति से समवेत होकर वह परमज्ञान को प्राप्त करता है। श्री उमापति उक्त पद में भक्त के साथ पाशबद्ध जीव की तुलना करते हुए कहते हैं कि अज्ञानता रूपी मलावरण के कारण सामान्य मनुष्य ईश्वर की चैतन्य सत्ता को जान नहीं सकता, जबकि भक्त ईश्वर की कृपा अर्थात् ज्ञान-शक्ति को प्राप्त करने के कारण उस प्रेममय परमेश्वर के साक्षात्कार को प्राप्त करता है एवं उस अनन्त प्रेम में अपने को विलीन कर देता है। भक्त के साथ सामान्य मनुष्यों की यही भिन्नता है कि सामान्य मनुष्य अज्ञानता के कारण अचेतन से सम्बद्ध होते हुए मोहवश कर्तृत्व बुद्धि से प्रेरित होकर सच्चिदानन्द के प्रति विमुख रहता है, जबकि भक्त ईश्वर की ज्ञान-शक्ति को प्राप्त करते हुए ईश्वर के प्रति समर्पित होकर अपने कर्तृत्व का परित्याग करते हुए ईश्वरानन्द में निमज्जित हो जाता है। सत्य प्रकाश से ही भक्त सत्य स्वरूप से समवेत हो जाता है। यही नित्य शाश्वत, ज्ञानानन्द की स्थिति है।

---

१. तत् स्वरूपममूर्तं चेत् कथं तज्ज्ञायते पुनः।
सुखदुःखादिक तद्वज्ज्ञानं किं न विभाण्यते ॥८७॥ पराख्य तन्त्र, १४ पटल

पद नं. ९९—ग्रन्थ का वक्तव्य

भावानुवाद

स्थूल विश्व प्रपंच के ज्ञाताओं से लेकर शैव-विधि को पालन करने वाले तक, विभिन्न विषयों के विशद् आदान-प्रदान के उपरान्त, वेद का प्रतिपाद्य विषय अर्थात् आनन्द स्वरूप का निर्दोष रूप से प्रतिपादन किया गया है एवं ईश्वर की कृपा के द्वारा मुक्ति इत्यादि के संदर्भ में भी हमने स्पष्ट रूप से विवेचन प्रस्तुत किया है।

उक्त पद में श्री उमापति संक्षिप्त रूप से पूर्व कथित विषयों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि उपासना के विभिन्न विषयों तथा चरणों के संदर्भ में संक्षिप्त रूप में सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सामान्य पाशबद्ध पशुरूप जीव विश्व प्रपंच के माया प्रसूत भेदोत्पादक विषयों से सम्बद्ध रहता है। जिसके फलस्वरूप माया-कर्म की प्रणाली में उसे जन्म-मृत्यु के चक्र में आवर्तित होना पड़ता है परन्तु चित्-शक्ति की अन्त:प्रेरणा से वह विभिन्न शैव-विधियों का पालन करते हुए अनेक अनुभवों को प्राप्त करते हुए, गुरुपोदेश एवं स्वाध्याय के द्वारा शास्त्र प्रणोदित तत्त्व ज्ञान को प्राप्त करते हुए ईश्वर की कृपा से क्रमश: पाश अवरोध शिथिल होता जाता है एवं अन्ततः ईश्वर की परम अनुकम्पा से अज्ञानता का पाश छिन्न होकर शाश्वत-ज्ञान उद्भासित हो जाता है। पूर्व पदों में श्री उमापति ने साधना के विभिन्न क्रमों एवं प्रतिपाद्य विषयों का वर्णन किया है। चित्-शक्ति की प्रेरणा से साधक किस प्रकार मलावरण से मुक्त होकर सच्चिदानन्द स्वरूप में निमज्जित हो जाता है उसका सम्यक् वर्णन पूर्वपदों में किया गया है। साधक की सम्पूर्ण अध्यात्मिक यात्रा में ईश्वर की करूणा ही एक मात्र पाथेय है, जो समस्त बाधाओं को दूर करते हुए उसे सच्चिदानन्द रूपी गन्तव्य तक पहुँचाता है। साधना से सम्बन्धित विभिन्न तत्त्व एवं अध्यात्मिक उन्नयन के विभिन्न स्तरों का समुचित वर्णन पूर्व पदों में किया गया है। श्री उमापति कहते हैं कि भक्त उल्लिखित इन विभिन्न चरणों को पार करता हुआ परमपद को प्राप्त कर सकता है। सम्पूर्ण प्रक्रिया में ईश्वर की कृपा ही एकमात्र अवलम्बन है।

पद नं. १००—उपदेश का साधन

भावानुवाद

गुरु कृपा को प्राप्त करने के उपरान्त एवं इस शिवप्रकाशम् नामक शुभ ग्रन्थ में प्रतिपादित कार्य कारण के विवरण के ज्ञान को प्राप्त कर, चार विशेष उपकरणों के द्वारा, विशेष गुण के द्वारा समस्त भ्रमों को दूर करने के बाद ही स्पष्ट ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है।

उक्त अन्तिम पद में श्री उमापति सत्य को प्राप्त करने की योग्यता का विवेचन करते हुए कहते हैं कि गुरु कृपा को प्राप्त करने के उपरांत जो व्यक्ति अपने सुविचार के द्वारा शिवप्रकाशम् नामक ग्रन्थ में प्रतिपादित तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन करने में समर्थ होता है एवं अपने विशिष्ट गुणों के द्वारा समस्त भ्रमों को तिरोहित कर देता है, वहीं सत्य ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी माना जा सकता है। यह सर्व-विदित है कि शैव-दर्शन के अनुसार दीक्षा वह मूल प्रणाली है जिसके माध्यम से शिव कृपा का आविर्भाव होता है जो मलाच्छादन को भेद करती हुई आत्मा में ज्ञान-प्रकाश रूप में समाविष्ट हो जाती है। इस शक्ति समावेश से ही साधक उपयुक्त साधन प्रणाली को अपनाता हुआ क्रमशः आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में अग्रसर होता है। कार्य कारण सम्बन्ध के बोध को भी साधक इसी अग्रगति के क्रम में सूक्ष्म बौद्धिक उपलब्धि के रूप में प्राप्त करता है। शास्त्र ग्रन्थों के अध्ययन एवं मनन के द्वारा वह उनमें प्रतिपादित तथ्यों के सम्यक् बोध को प्राप्त करता है। शिव-कृपा के प्रति शरणागत होकर उपयुक्त साधन प्रणालियों के माध्यम से साधक की सम्पूर्ण सत्ता तब सत्य-ज्ञान को प्राप्त करने के लिए मुमुक्षुत्व की स्थिति में आ जाती है। श्री उमापति कहते हैं कि तभी उसे यथार्थ में इस सत्य ज्ञान को प्रदान करना चाहिए। साधन के क्रम में साधक विभिन्न गुणों का अधिकरी भी हो जाता है। इस सन्दर्भ में कई उपमाओं के प्रयोग से श्री उमापति साधक की आध्यात्मिक शक्ति की व्यापकता, गहनता एवं तीव्रता को समझाने के लिए कहते हैं कि जब उसका केश घने बादल की तरह विस्तृत हो जायेगा, हाथ वृक्ष की शाखा की तरह दीर्घ हो जायेगा, ज्ञान की आकांक्षा से वह शेर की तरह कूद सकेगा, 'अव' फूल की तरह जब उसका वर्ण स्वर्णिम हो जायेगा तभी साधक उक्त सत्य-स्वरूप शास्त्र-ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी होगा। तात्पर्य यह है कि साधन क्रम को अपनाकर ईश्वर की अनुकम्पा से जब साधक विशिष्ट गुणों से सम्पन्न होकर शक्ति-समन्वित होता है, तभी उसके अधिकारित्व के अनुकूल शास्त्र ज्ञान को प्रदान करना चाहिए। भारतीय चिन्तन परम्परा में उक्त नियम सार्वभौम रूप में दिखलायी पड़ते हैं।

॥ ॐ नमः शिवाय ॥

*

உ
திருச்சிற்றம்பலம்

7

உமாபதி சிவாசாரியார்
அருளிய

சிவப்பிரகாசம்

காப்பு

ஒளியான திருமேனி உமிழ்தானம் மிகமேவு
களியார வரும்ஆனை கழல்நாளும் மறவாமல்
அளிஆளும் மலர்தூவும் அடியார்கள் உளம்ஆன
வெளியாகும் வலிதாய வினைகூட நினையாவே.

பாயிரம்

கூத்தர்

1. ஓங்கொளியாய் அருள்ஞான மூர்த்தி ஆகி
உலகம்எலாம் அளித்துஅருளும் உமையம்மை காணத்
தேங்கமழும் மலர்இதழி திங்கள் கங்கை
திகழ்அரவம் வளர்சடைமேல் சேர வைத்து
நீங்கல்அரும் பவத்தொடர்ச்சி நீங்க மன்றுள்
நின்றுஇமையோர் துதிசெய்ய நிருத்தம் செய்யும்
பூங்கமல மலர்த்தாள்கள் சிரத்தின் மேலும்
புந்தியினும் உறவணங்கிப் போற்றல் செய்வாம்.

சிவகாமி அம்மை

2. பரந்தபரா பரைஆதி பரனது இச்சை
பரஞானம் கிரியைபர போக ரூபம்
தரும்கருணை உருவாகி விசுத்தா சுத்தத்
தனுகரண புவன போகங்கள் தாங்க
விரிந்தஉபா தானங்கள் மேவி ஒன்றாய்
விமலமாய் ஐந்தொழிற்கும் வித்தாய் ஞாலத்து
அரந்தைகெட மணிமன்றுள் ஆடல் காணும்
அன்னைஅருள் பாதமலர் சென்னி வைப்பாம்.

விநாயகர்

3. நலம்தரல்நூல் இரும்தமிழின் செய்யுள் குற்றம்
நண்ணாமை இடையூறு நலியாமை கருதி
இலங்கும்இரு குழைஅருகு பொருதுவரி சிதறி
இணைவேல்கள் இகழ்ந்தகயல் கன்னியொடும் இறைவன்
கலந்துஅருள வரும்ஆனை முகத்தான் மும்மைக்
கடம்அருவி எனநிலவு கணபதியின் அருளால்
அலந்துமது கரமுனிவர் பரவவளர் கமலம்
அனையதிரு அடியிணைகள் நினைதல் செய்வாம்.

முருகக்கடவுள்

4. வளம்நிலவு குலம்அமரர் அதிபதியாய் நீல
மயில்ஏறி வரும்ஈசன் அருள்ஞான மதலை
அளவில்பல கலைஅங்கம் ஆரணங்கள் உணர்ந்த
அகத்தியனுக்கு ஒத்துஉரைக்கும் அண்ணல்விறல் என்னாது
உளம்மருவு சூரன்உரம் எனதுஇடும்பை ஓங்கல்
ஒன்றுஇரண்டு கூறுபட ஒளிதிகழ்வேல் உகந்த
களபம்மலி குறமகள்தன் மணிமுலைகள் கலந்த
கந்தன்மலர் அடியிணைகள் சிந்தை செய்வாம்.

சந்தான பரம்பரை

5. தேவர்பிரான் வளர்கயிலைக் காவல் பூண்ட
திருநந்தி அவர்கணத்தோர் செல்வர் பாரில்
பாவியசத் தியஞான தரிசனிகள் அடிசேர்
பரஞ்சோதி மாமுனிகள் பதியாம் வெண்ணெய்
மேவியசீர் மெய்கண்ட திறலான் மாறா
விரவுபுகழ் அருணந்தி விறலார் செல்வத்
தாவில்அருள் மறைஞான சம்பந்தர் இவர்இச்
சந்தானத்து எமையாளும் தன்மை யோரே.

குருவணக்கம்

6. பார்திகழ வளர்சாம வேதம் மல்கப்
பராசரமா முனிமரபு பயில ஞானச்
சார்புதர வந்துஅருளி எம்மை ஆண்ட
சைவசிகா மணிமருதத் தலைவன் அந்தண்
கார்மருவு பொழில்புடைசூழ் மதில்மீதே மதியம்
கடவாமை நெடும்கொடியின் கரம்தகையும் கடந்தைச்
சீர்நிலவு மறைஞான சம்பந்தன் எந்தை
திருவளரும் மலரடிகள் சென்னி வைப்பாம்.

சிவப்பிரகாசம்

நுதலிய பொருள்

7. புறச்சமயத் தவர்க்குஇருளாய் அகச்சமயத்து ஒளியாய்ப்
புகல்அளவைக்கு அளவாகிப் பொன்பணிபோல்
அபேதப்
பிறப்புஇலதாய் இருள்வெளிபோல் பேதமும்சொற் பொருள்
போல்
பேதாபேதமும் இன்றிப் பெருநூல் சொன்ன
அறத்திறனால் விளைவதாய் உடல்உயிர் கண் அருக்கன்
அறிவொளிபோல் பிறிவுஅரும் அத்துவிதம் ஆகும்
சிறப்பினதாய் வேதாந்தத் தெளிவாம் சைவ
சித்தாந்தத் திறன்இங்குத் தெரிக்கல் உற்றாம்.

தீக்கை முறை

8. முவகைஆர் உயிர்வர்க்கம் மலத்தார் கன்ம
மூலமலத்தார் மூன்றும் உடையார் அன்றே
தீவகமாம் எனஉருவாய் வந்து நாதன்
திருநோக்கால் பரிசத்தால் திகழும் வாக்கால்
பாவனையால் மிகுநூலால் யோகப் பண்பால்
பரவிவரும் ஔத்திரியால் பாச நாசம்
மேவஅருள் உதவும் அவுத்திரி இரண்டு திறனாம்
வியன்கிரியை ஞானம்என விளம்பும் ஆறே.

9. விரும்பியமந் திராதிகாரம் அர்ச்சனா திகாரம்
மேவும் யோகாதிகாரம் எனச்சமய விசேடம்
வரும்பொருவில் நிருவாண மந்திரங்கள் பதங்கள்
வன்னங்கள் புவனங்கள் தத்துவங்கள் கலைகள்
இரங்குஅடைவில் தொகைபதினொன்று எண்பத்தொன்று
ஐம்பத்தொன்று
இருநூற்றோடு இருபத்து நால் ஆறாறு ஐந்தில்
பரந்தநெறி அறுவகையும் ஒருவிநினைவு அரிதாம்
பரபதத்துள் உயிர்விரவப் பயிற்றும் அன்றே.

10. கிரியைஎன மருவும்அவை யாவும் ஞானம்
கிடைத்தற்கு நிமித்தம்எனக் கிளக்கும் உண்மைச்
சரியை கிரியா யோகத் தன்மை யோர்க்குச்
சாலோக சாமீப சாருபங்கள்
மருவியிடும் உயர்ஞானம் இரண்டாம் மாறா
மலம்அகல அகலாத மன்னு போதத்
திருவருள்ஒன்று ஒன்றுஅதனைத் தெளிய வோதும்
சிவாகமம்என்று உலகறியச் செப்பும் நூலே.

நூல்வழியும் நூற்பெயரும்

11. தெரித்தகுரு முதல்வர்உயர் சிவஞான போதம்
செப்பினர்பின்பு அவர்புதல்வர் சிவஞான சித்தி
விரித்தனர்மற்று அவர்கள்திரு அடிகள் போற்றி
விளம்பியநூல் அவைஇரண்டும் விரும்பி நோக்கிக்
கருத்தில்உறை திருவருளும் இறைவன் நூலும்
கலந்துபொது உண்மைஎனக் கருதி யானும்
அருத்திமிக உரைப்பன்வளர் விருத்தம் நூறும்
ஆசில்சிவப் பிரகாசம் ஆகும் அன்றே.

அவையடக்கம்

12. தொன்மையவாம் எனும்எவையும் நன்றுஆகா இன்று
தோன்றியநூல் எனும்எவையும் தீதுஆகா துணிந்த
நன்மையினார் நலங்கொள்மணி பொதியும்அதன் களங்கம்
நவைஆகாது எனஉண்மை நயந்திடுவர் நடுவாம்
தன்மையினார் பழைமைஅழகு ஆராய்ந்து தரிப்பர்
தவறுநலம் பொருளின்கண் சார்வுஆராய்ந்து அறிதல்
இன்மையினார் பலர்புகழில் ஏத்துவர் ஏதிலர்உற்று
இகழ்ந்தனரேல் இகழ்ந்திடுவர் தமக்குஎன ஒன்று
இலரே.

பொது அதிகாரம்

முதல் சூத்திரம்

பதி இலக்கணம்

13. பலகலை ஆகமம்வேதம் யாவையினும் கருத்துப்
பதிபசுபாசம் தெரித்தல் பதிபரமே அதுதான்
நிலவும்அரு உருஇன்றிக் குணம்குறிகள் இன்றி
நின்மலமாய் ஏகமாய் நித்தம் ஆகி
அலகில்உயிர்க்கு உணர்வாகி அசலம் ஆகி
அகண்டிதமாய் ஆனந்த உருவாய் அன்றிச்
செலவுஅரிதாய்ச் செல்கதியாய்ச் சிறிதாகிப் பெரிதாய்த்
திகழ்வதுதற் சிவம்என்பர் தெளிந்து ளோரே.

14. நீடுபரா சத்திநிகழ் இச்சா ஞானம்
நிறைகிரியை தரஅதனை நிமலன் மேவி
நாடுஅரிய கருணைதிரு உருவம் ஆகி
நவின்றுபல கலைநாத விந்து ஆதி
கூடும்ஒளி வளர்குடிலை மாயை மேவிக்
கொடுவினைகொள் தனுகரணம் புவனம் போகம்
பீடுபெற நிறுவிஅவை ஒடுக்கும் மேனி
பிறங்கிய நிட்கள சகளப்பெற்றி ஆமே.

சிவப்பிரகாசம்

15. ஈங்குஇதுஎன்றது கடந்த இயல்பி னாலும்
ஈறுமுதல் நடுஒன்றும் இலாமை யாலும்
ஓங்கிவளர் ஞானமயன் ஆத லாலும்
உண்மைபிறர்க்கு அறிவரிய ஒருமை யாலும்
தாங்குஅரிய வெறுப்பினொடு விருப்பும் எல்லாம்
சார்வுஅரிய தனிமுதல்வன் ஆத லாலும்
நீங்கல்அரும் உயிர்க்கு உயிராய் நிற்ற லாலும்
நிறுத்திடுவன் நினைந்தஉரு நிமலன் தானே.

16. உலகம்எலாம் ஒருவனோடு ஒருத்தி ஒன்றுஎன்று
உளதாகி நின்றுஅளவில் ஒடுங்கும் பின்னும்
மலம்அதனால் உளதாகும் உருவம் மாறி
வருவதுபோவது செல்வது ஆத லாலும்
அலைவில் அசேதனம் மாயை ஆத லாலும்
அணுக்கள்உரு அடையும்அறிவு இலாமையாலும்
நிலவுதொழில் மருவிஉரு நிற்ற லாலும்
நின்றுஎவையும் அளித்திடுவன் நிமலன் தானே.

17. கந்தமலர் அயன்படைக்கும் உலகம் எல்லாம்
கண்ணன்அளித்திடும் அவைஎம் கடவுள் தானே
அந்தம்உற அழித்திடுவன் ஆத லாலே
அயன்அரியும் அவனதுஉயர் அதிகா ரத்து
வந்தமுறை தன்தொழிலே மன்னுவிப்பன் எல்லாம்
வருவிப்பன் விகாரங்கள் மருவான் வானில்
முந்துஇரவி எதிர்முளரி அலர்வுறும்ஒன்று அலர்வான்
முகையாம்ஒன்று ஒன்றுஉலரும் முறையின் ஆமே.

18. ஏற்றஇவை அரன்அருளின் திருவிளையாட்டு ஆக
இயம்புவர்கள் அணுக்கள்இடர்க் கடல்நின்றும்
எடுத்தே
ஊற்றம்மிக அருள்புரிதல் ஏது ஆக
உரைசெய்வர் ஒடுக்கம்இளைப்பு ஒழித்தல் மற்றைத்
தோற்றம்மல பாகம்வரக் காத்தல் போகம்
துய்ப்பித்தல் திரோகாயி நிறுத்தல் ஆகும்
போற்றல்அரும் அருள்அருளே அன்றி மற்றுப்
புகன்றவையும் அருள்ஒழியப் புகல் ஒணாதே

இரண்டாம் சூத்திரம்

பசு இலக்கணம்

19 எண்அரிதாய் நித்தமாய் இருள்மலத்தில் அழுந்தி
இருவினையின் தன்மைகளுக்கு ஈடான யாக்கை
அண்ணல்அருளால் நண்ணி அவைஅவராய் அதனால்
அலகில்திகழ் போகங்கள் அருந்தும் ஆற்றால்

மெய்கண்ட சாத்திரம்

புண்ணியபாவம் புரிந்து போக்குவரவு உடைத்தாய்ப்
புணரும்இருள் மலபாகம் பொருந்தியக்கால் அருளால்
உள்நிலவும் ஒளியதனால் இருள்அகற்றிப் பாதம்
உற்றிடும்நற் பசுவருக்கம் எனஉரைப்பர் உணர்ந்தோர்.

பாச இலக்கணம்

20 ஏகமாய்த் தம்கால எல்லைகளில் மீளும்
எண்அரிய சத்தியதாய் இருள்ஒளிர இருண்ட
மோகமாய்ச் செம்பில்உறு களிம்புஏய்ந்து நித்த
மூலமலமாய் அறிவு முழுதினையும் மறைக்கும்
பாகமாம் வகைநின்று திரோதாயி சத்தி
பண்ணுதலால் மலம்எனவும் பகர்வர்அது பரிந்து
நாகம்மா நதிமதியம் பொதிசடையான் அடிகள்
நணுகும்வகை கருணைமிக நயக்கும் தானே.

21. உன்னல்அரும் பரசிவன்தன் அருளாலே நாதம்
உதிக்கும்மிகும் குடிலைதனில் விந்துவரும் நாதம்
தன்னில்அதின் ஒளிவளரும் சதாசிவராம் அவரில்
தயங்கவரும் ஈசர்வித்தை தனைஅளிப்பர் அதனால்
மன்னுவர்இவ் வகைஐவர் வாய்மையினால் முன்னே
வந்திடும்என்று உரைசெய்த விந்துவழா வகையே
முன்உதவும் சூக்குமாதி ஒருநான்கும் என்று
மொழிந்திடுவர் அரும்கலைகள் முதிர்ந்துளோரே.

22. உருவாதி சதுர்விதமாய் ஒன்று ஒன்று ஒவ்வா
உண்மையதாய் நித்தமாய் ஒன்றாய் என்றும்
அருவாகிக் கன்மம்ஆர் அணுக்கள் யார்க்கும்
ஆவாரமாய் அசித்தாய் அசலம்ஆகி
விரிவாய தன்செயலின் வியாபியாய் எல்லாம்
விரிந்தவகை புரிந்துஅடைவில் மேவிஅவை ஒடுங்க
வருகாலம் உயிர்கள் எல்லாம் மருவுஇடமாய் மலமாய்
மன்னியிடும் அரன்அருளால் மாயை தானே.

23. என்னைஇது எனில்உலகுக்கு உபாதானம் இல்லை
இறைவன்அலது எனில்அசித்துச் சித்தினிடத்து உதியா
மன்னிஉளதேல் முதல்வன் என்கொல் என்னில்
மாயைதான் அசித்து உருவாய் மருவ மாட்டாது
அன்னவனும் இதுவொழிய ஆக்க மாட்டான்
அசத்தனாம் எனில் அதுவும் அவன்போல் நித்தம்
முன்னவன்அவ் அசித்தைவிரித்து எவையும் ஆக்கும்
முதன்மைஅது கொடுத்ததுஎன மொழிந்திடாரே.

24. படைத்ததுஒரு படிஇன்றிப் பறவைபசு நரராய்ப்
பண்ணியதுஎன் முன்னைவினைப் பான்மை என்பர்
அடுத்தவினை உளதாயின் இறைஏன் என்னில்
அசேதனம் மற்று அவைஆவிக்கு அமைத்தது ஆகும்

சிவப்பிரகாசம்

எடுத்தவினை உருஉறுவது உயிரேல் தானே
இருவினைக்குத் தக்கஉடல் எய்தும் என்னில்
சடத்திரளும் அகர்த்தாவாய் அறிவு ஒன்று இல்லாத்
தன்மையனும் கூடஒரு சங்கை இன்றே.

25. அல்லல்மிக உயிர்க்குஇவைதான் அனைத்தது ஈசன்
அருவினைகள் அருந்துதற்கோ வினையோ அன்றிச்
சொல்லிவரும் மாயையோ அணுவை முந்தச்
சூழ்ந்ததுஎனும் உரைமுதல்ஓர் தொடக்கு இலார்பால்
ஒல்லைவரும் எனில்உளதாம் உயிர் உண்டாவே
உளதுமலம் மலம்உளதாய் ஒழிந்த எல்லாம்
நெல்லின்முளை தவிடுஉமிபோல் அனாதி யாக
நிறுத்திடுவர் இதுசைவம் நிகழ்த்தும் ஆறே.

26. அருத்திமிகும் கலைகாலம் நியதியுடன் வித்தை
அராகம்இவை அனந்தரால் மாயைதனில் ஆகும்
உருத்திரரால் கலைஅதனில் பிரகிருதி குணங்கள்
உளவாகும் ஆங்காரம் புந்திதனில் உதிக்கும்
தெரித்தஇது திரிவிதமாம் தைசத வைகாரி
திகழ்தரு பூதாதிஎனத் திருந்திய சாத்துவிதம்
விரித்தகுணம் மனம்புத்தி இந்திரியம் என்று
விளம்பிய சோத்திராதிமுதல் விளங்கியிடும் விரிந்தே.

27. மன்னியகன் மேந்திரியம்ஆன இராசதம்சேர்
வாக்குஆதி வைகாரி மருவிவரும் சத்தம்
தன்னைமுதல் ஆகிய தாமதம் மிகுமாத்திரை பின்
தரும்இதனில் வான்அநிலம் அனல்புனல் மண்சத்தம்
முன்னதனில்வெளி ஆதிஒன்றுஒன்று ஆகும்
முறையில்உறும் இருமைஅயன் முடிவாம் முன்னே
உன்னுசதா சிவர்ஆதி அதிபதிகள் ஒடுக்கம்
உதித்தஅடைவு என உரைப்பர் உணர்ந்துளோரே.

28. நண்ணியிடும்உரு அதனுக்கு ஏது ஆகி
நானா போகங்களாய் நாசோற்பத்தி
பண்ணிவரும் ஆதலால் அனாதி ஆகிப்
பலவாகி அணுக்கள்தொறும் படர்வது ஆகி
எண்ணிவரும் மனம்வாச கன்மத்தால் இயற்றும்
இயல்பினதாய் மதிகதமாய் இருபயனாம் பாவ
புண்ணியமாய்ப் புலர்காலை மாயை மேவிப்
பொருந்தும்இது கன்மமலம் புகலும் ஆறே.

29. கன்மநெறி திரிவிதம்நற் சாதிஆயுப் போகக்
கடன்அதுஎன வரும்மூன்றும் உயிர்ஒன்றில் கலத்தல்
தொன்மையது ஊழ்அல்லது உணவுஆகா தானும்
தொடங்குஅடைவில் அடையாதே தோன்றும் மாறித்

தன்மைதரு தெய்விகம் முற்பௌதிகம் ஆன்மிகமாம்
தகையில்உறும் அசேதன சேதனத்தாலும் சாரும்
நன்மையொடு தீமைதரு சேதனனுக்கு இவன்ஊன்
நாடில்அதன் ஊழ்வினையாய் நணுகும் தானே.

30. மேலைக்கு வருவினைஏது என்னில் அங்கண்
விருப்புவெறுப்பு எனஅறி அவ்வினைவும் எல்லாம்
மூலத்த வினைப்பயில்வாம் என்னில் நாம்மேல்
முற்றிஅதன் பயன்உளக்கு முளைக்கும் என்பர்
ஞாலத்து வினைகள் இருதிறன் ஆகும் புந்தி
நண்ணாத வினைநணுகும் விளைஎன ஒன்று இரண்டாம்
ஏலத்தான் இதம்அகிதமாம் இதனால் வழுவாது
எய்தியிடும் புண்ணிய பாவங்கள் என்றே.

31. உற்றதொழில் நினைவுஉரையின் இருவினையும் உளவாம்
ஒன்றுஒன்றால் அழியாது ஊண்ஒழியாது உன்னில்
மற்றுஅவற்றில் ஒருவினைக்குஓர் வினையால் வீடு
வைதிக சைவம்பகரும் மரபில் ஆற்றப்
பற்றியது கழியும்இது விலையால் ஏற்கும்
பான்மையுமாம் பண்ணாது பலிக்கும் முன்னம்
சொற்றருநூல் வழியில்வரில் மிகுதி சோரும்
சோராதுஅங்கு அதுமேலைத் தொடர்ச்சி ஆமே.

32. மோகம்மிக உயிர்கள்தொறும் உடனாய் நிற்கும்
மூலஆணவம் ஒன்று முயங்கி நின்று
பாகம்மிக உதவுதிரோ தாயி ஒன்று
பகர்மாயை ஒன்றுபடர் கன்மம் ஒன்று
தேகம்உறு கரணமொடு புவன போகச்
செயல்ஆரும் மாமாயைத் திரட்சி ஒன்று என்று
ஆகமலம் ஐந்துஎன்பர் ஐந்தும் மாறாது
அருளென்பது அரிதுஎன்பர் அறிந்து ளோரே.

அவத்தை இலக்கணம்

கேவல அவத்தை

33. ஓங்கிவரும் பலஉயிர்கள் மூன்றுஅவத்தை பற்றி
உற்றிடும் கேவலம்சகலம் சுத்தம்என உணர்க
ஈங்குவரும் கலாதியொடு குறிஉருவம் ஒன்றும்
இன்றிமலம் அன்றிஒன்றும் இல்லைஎனும் இயல்பாய்
ஆங்குஅறிவை அறிவுஅரியன் அறிகருவி அணையா
ஆதலினால் இருள்மருவு மலர்விழிபோல் அதுவாய்
நீங்கும்வகை இன்றிநித்த வியாபகமாய் அங்கண்
நிற்பது கேவலம்என்று நிகழ்த்தும் நூலே.

சிவப்பிரகாசம்

34. இன்மைமலம் மாயைகன்மம் என்றுஇரண்டே இறைதான்
இலங்குபல உயிர்களும்முன் புரிந்த இருவினையின்
தன்மைகளால் எவர்களுக்கும் தனுகரணம் புவனம்
தந்திடும்இங்கு அதனாலே இருபயனும் சார்ந்து
கன்மம்எலாம் நேராக நேர்ஆதல் மருவக்
கடவுள்அருளால் எவையும் கழித்திடுவன் அதனால்
பின்மலம் ஆனவை அனுகா பெருகுஒளிமுன்பு உளதே
பெற்றிடும்என்று இத்திறம்என் பேசும் ஆறே.

35. மாயைமுதல் எனவினையின் பான்மைமுதல் எனவே
மன்றுபனை விதைமரபின் மயங்கும்மலம் சுத்தற்கு
ஏயும்நெறி என்கொல்அதன் இயல்புஆயின் முத்தி
என்பதுஎன் மற்று இவைநிற்க இரும்கலாதி உணர்வாய்
மேயபினர்த் தன்உருவம் விளங்காமை விளக்கும்
மிகும்உலகம் தனில்என்னில் இவைவிடுங்கால் உணர்வுள்
தோயும்நெறி இலதாதல் அறியாமை எனநீ
சொல்லியது மலம்என்பர் துணிந்துளோரே.

36. அன்னியம்ஆனவை உணர்த்தி அனன்னியமாய் நிறைந்த
அறிவு அறியாமையினாலும் அருள்நிலவும் காலம்
தன்னில் அவனே யாவுமாய் நின்ற தொன்மை
தாம்உணர்த லாலும்உயிர் தான்எனஒன்று இலதாய்
மன்னியிடும் மலம்மாயை கன்மங்கள் மாறி
வந்திடும்இங்கு இதுவழுவாது ஆதலினால் மனத்தால்
உன்னரிய திருவருளை ஒழியமலம் உளதுஎன்று
உணர்வுஅரிதால் அதன்உண்மை தெரிவுஅரிதாம் உனக்கே.

சகல அவத்தை

37. புகலும்மலம் ஒழித்தற்குக் கலாதிமுதல் மாயை
பொருந்தியிடும் அரன்அருளால் போதம் தீபம்
சகலம்எலாம் உடன்ஆய வாறு போலத்
தரும்அருளை மலம்உயிர்கள் சாராமல் மறைக்கும்
இகல்இவரும் இவைஉணரில் இருள்வெளியாம் தன்மை
எய்தும்இவை தன்செய்தி இலங்கும் விந்து
பகர்வுஅரிய உணர்வாகி ஒளியாய் உள்ளப்
பான்மையினால் ஒருநாதம் படரும் தானே.

38. வந்துஅடைந்து பின்னமாய் வன்னங்கள் தோற்றம்
வரும்அடைவு படஒடுக்கி மயில்அண்ட சலம்நேர்
சிந்தைதனில் உணர்வாகும் பைசந்தி உயிரில்
சேர்ந்துவரும் அவைமருவும் உருஎவையும் தெரித்து
முந்தியிடும் செவியில்உறா உள்உணர்வாய் ஓசை
முழங்கியிடும் மத்திமைதான் வைகரியில் உதானன்
பந்தம்உறும் உயிர்அணைந்து வந்தமொழி செவியின்
பால்அணைய நினைந்தபொருள் பகரும் தானே.

39. இத்தகைமை இறைஅருளால் உயிர்அறியும் அறிவுக்கு
ஈடாக வாடாதே ஈர்இரண்டில் உரைத்த
வித்தைமுதல் ஐவரால் விளங்கும் ஞானம்
மேவியிடும் எனஉரைப்பர் அசுத்த மாயை
வைத்தகலை தான்மூல மலம்சிறிதே நீக்கி
மருவும்வகை தெரிவிக்கும் வாயில்களின் பயனைப்
புத்திதர வித்தைஇடை நின்றுஅறிவை உயிர்க்குப்
பொருந்தியிடும் வகைபுணரும் புனிதசத்தி புணர்ந்தே.

40. பேசரிய அராகம்தன் கன்மத்துக்கு ஈடாய்ப்
பெற்றதனில் ஆசைதனைப் பெருகுவிக்கும் நியதி
தேசம்மிகும் அரசர்தரும் ஆணை செய்தி
செய்தவரைத் துய்ப்பிக்கும் செய்கை போல
நேசம்உறும் தம்கன்மம் நிச்சயித்து நிறுத்தும்
நிகழ்காலம் கழிகாலம் எதிர்காலம் என்றே
ஓசைதர வரும்காலம் எல்லைபலம் புதுமை
உறுவிக்கும் இறைசத்தி உடனாய் நின்றே.

41. ஐவகையால் உறுபயன்கள் நுகரவரும் காலம்
அதுபுருட தத்துவம் என்று அறைந்திடுவர் அறிந்தோர்
மெய்வகைய கலாசுத்தி தனில்இதற்கும் சுத்தி
மேவியிடும் வகைதானும் விரும்பியநூல் விளம்பும்
செய்வகையின் தொடர்ச்சி இங்குத் தோன்றுவிக்கும்
குணத்தின்
சேர்வுபுரி பிரகிருதி திரிகுணமாம் அவைதாம்
இவ்வகையில் சாத்துவித ராசத தாமதமாய்
இயம்புவர்கள் ஒன்றுஇரண்டு குணம்ஏற்க உடைத்தே.

42. அலகில்குணம் பிரகாசம் லகுதை வியாபிருதி
அடர்ச்சிமிகும் கௌரவம் அநியமம் இவை அடைவே
நிலவியிடும் மும்மூன்றும் உயிர்ஒன்றில் கலந்தே
நிற்கும்இவை நிறைபுலனின் பயன்எவையும் கவரும்
குலவிவரு போகங்கள் இடமாய் மாறாக்
குறைவில் ஒளியாம் அலகில் புலனிடத்தின் ஒருமை
பலவகையும் உடையதாய்ப் பரன்அருளால் புந்தி
பஞ்சாசற் பாவகமும் பண்ணுவிக்கும் தானே.

43. ஆனதனு அதனில்உறும் அநிலனையும் இயக்கி
ஆங்காரம் நீங்காத அகந்தைக்கு வித்தாய்
யான்அலது பிறர்ஒருவர் எனைஒப்பார் புவியில்
இல்லைஎனும் இயல்பினதாய் இந்திரியம் புலன்கள்
தான்நுகரும் அளவில் அதில் முந்திஉறும் இச்சை
தான்உருவாய்ச் சங்கற்ப சதாகதியும் தந்து
மானதம் ஆனதுநிற்கும் சிந்தைநினைவு ஐயம்
வந்துதரும் மனம் ஒழிய வகுப்பு ஒணாதே.

44. சொன்னமுறை செவிதுவக்கு நோக்கு நாக்குத்
துண்டம்இவை ஐந்திற்கும் தொகுவிடயம் ஆக
மன்னிய சத்தப்பரிச ரூபரச கந்தம்
மருவியிடும் இவை அடைவே வாக்குப் பாதம்
பின்னர்வரு பாணிமிகு பாயுவினோடு உபத்தம்
பேசல்உறும் ஐந்திற்கும் பிறங்குஒலிகொள் வசனம்
உன்னரிய கமனதான விசர்க்க ஆனந்தம்
உற்றதொழில் பெற்றிடுவது உண்மை ஆமே.

45. முந்திய ஐம்பூதங்கள் வான்ஆதி யாக
முயங்கியநற் செவிநாசி கண்ணாம்மெய்ம் முறையால்
இந்தவயின் நின்றுவரும் ஐம்புலனும் உயிர்தாம்
எய்தும்வகை தம்உருவில் இலங்கியிடும் புறத்தும்
வந்துஅடைய இடம்கொடுக்கும் நிரந்தரமாய் வானும்
வாயுமிகச் சலித்து எவையும் திரட்டும் தீ வெஃமை
தந்தவைசுட்டு ஒன்றுவிக்கும் நீர்குளிர்ந்து பதமே
தரும்உரத்துத் தரிக்கும்மிகு தரணி தானே.

46. இந்திரையில் ஐந்துசுத்தம் ஏழ்சுத்தா சுத்தம்
என்மூன்றும் அசுத்தம்எனும் இவைமுப்பத்து ஆறாம்
மன்னிய தத்துவங்கள்இடை மயங்கிநெடும் துயர்தாம்
மருவும் உருநிலைஅழிய வரும்பொழுது வரியார்
பன்னகம் அண்டசம் கனவு படர்வகையே முன்னம்
பகரவரும் கலாதிநிலை பரவிய சூக்குமம் ஆம்
தன்உருவில் அணைந்துபயன் அருந்தி அரன் அருளால்
தரையின்இடை வரும்என்று சாற்றும் நூலே.

47. தோற்றியிடும் அண்டசங்கள் சுவேதசங்கள் பாரில்
துதைந்துவரும் உற்பீசம் சராயுசங்கள் நான்கில்
ஊற்றமிகு தாபரங்கள் பத்தொன்பது என்றும்
ஊர்வ பதினைந்து அமரர் பதினொன்றோடு உலவா
மாற்றருநீர் உறைவனநற் பறவைகள் நாற்காலி
மன்னியிடும் பப்பத்து மானுடர் ஒன்பதின்மர்
ஏற்றிஒரு தொகை அதனில் இயம்புவர்கள் யோனி
எண்பத்து நான்குநூறாயிரம் என்று எடுத்தே.

சுத்த அவத்தை

48. இனையபல பிறவிகளில் இறந்து பிறந்து அருளால்
இருவினைகள் பிரிந்து அருந்தும் இதுசகலம் அகலா
முனம்மருவும் இருபயனும் ஒருகாலத்து அருந்த
முந்துநுகர் உந்துபயன் அந்தம்உற வந்த
வினையும் எதிர்வினையும் முடிவினைஉதவு பயனால்
நேராக நேர்ஆதல் மேவும் கால்முன்
சினம்மருவு திரோதாயி கருணை ஆகி
திருந்திய சத்திநிபாதம் திகழும் அன்றே.

49. நாடிய சத்திநிபாதம் நாலு பாதம்
நண்ணும்வகை எண்ணரிய ஞான பாதம்
கூடுமவர் தமக்குஉணர்வாய் நின்ற ஞானக்
கூத்தன்ஒரு மூர்த்திகொடு குறுகி மோக
நீடிய கேவலசகலம் நிகழா வாறு
நிறுத்திமலம் அறுக்கும்அது நிலையார் சுத்தம்
கேடில்புகழ் தரும்சரியை கிரியா யோகக்
கேண்மையரேல் இவைஉணர்த்தக் கிளக்கும் நூலே.

முத்தி பேதங்களின் இயல்பு

50. அரிவையர்இன் புறும்முத்தி கந்தம் ஐந்தும்
அறும்முத்தி திரிகுணமும் அடங்கும் முத்தி
விரிவுவினை கெடும்முத்தி மலம்போம் முத்தி
விக்கிரக நித்தமுத்தி விவேக முத்தி
பரவும்உயிர் கெடுமுத்தி சித்தி முத்தி
பாடாண முத்திஇவை பழிசேர் முத்தி
திரிமலமும் அகலஉயிர் அருள்சேர் முத்தி
திகழ்முத்தி இதுமுத்தித் திறத்தது ஆமே.

உண்மை அதிகாரம்

51. இங்குஇவை பொது இயல்பு
என்பர்கள் இதன்மேல் ஆன்மாத்
தங்கிய அஞ்சு அவத்தை
தன் உண்மை உணர்த்தும் தன்மை
பொங்குஒளி ஞான வாய்மை
அதன்பயன் புனிதன் நாமம்
அங்குஅதில் அணைந்தோர் தன்மை
அறைகுவன் அருளி னாலே.

மூன்றாம் சூத்திரம்

ஆன்ம இலக்கணம்

52. செறிந்திடும் உடலுள் மன்னிச்
சேர்புலன் வாயில் பற்றி
அறிந்துஅதில் அழுந்தும் ஒன்றும்
அறிந்திடா அறியும் தன்மை
பிறிந்துஅடை அஞ்சு அவத்தை
பெருகிய மலத்தால் பேணி
உறும்தனி அதீதம் உண்மை
உயிர்க்குஎன உணர்த்தும் அன்றே.

சிவப்பிரகாசம்

53. உருஉணர்வு இலாமை யாலும்
ஓர்ஒரு புலன்கள் ஆக
மருவிநின்று அறித லாலும்
மனாதிகள் தம்மில் மன்னித்
தருபயன் நுகர்த லாலும்
உயிர்சடம் ஆத லாலும்
அருவினை உடலுள் ஆவி
அறிவினால் அறியும் அன்றே.

54. அறிவுஎனில் வாயில் வேண்டா
அன்றுஎனில் அவைதாம் என்னை
அறிவதை உதவும் என்னில்
அசேதனம் அவைதாம் எல்லாம்
அறிபவன் அறியும் தன்மை
அருளுவன் என்னில் ஆன்மா
அறிவுஇலது ஆகும் ஈசன்
அசேதனத்து அளித்தி டானே.

55. அறிவினால் அறிந்த யாவும்
அசத்துஆதல் அறிதி என்றும்
அறிவினால் அறியொணாதேல்
ஆவதொன்று இன்மை தொன்மை
அறிவுதான் ஒன்றை முந்தி
அதுஅது ஆகக் காணும்
அறிவுகாண் அசத்து மற்றுஅது
அறிவினுக்கு அறியொண்ணாதே.

56. எவ்அறிவு அசத்து அறிந்தது
எனில் உயிர் அறியாது ஈசன்
அவ்அறிவு அறியான் அல்லது
அசேதனம் அறியாது ஆவி
செவ்விய கருவி கூடித்
தெரிவுறாது அருளில் சேரா
ஒவ்இரு வகையது என்னில்
ஒளிஇருள் ஒருங்கு உறாவே.

57. சத்து இதுஎன்று அசத்துத்
தான் அறியாது அசத்தைச்
சத்து அறிந்து அகல வேண்டா
அசத்து இது சத்துஇது என்று ஓர்
சத்து இருள் ஒளி அலாக்கண்
தன்மைய தாம் அசத்தைச்
சத்துடன் நின்று நீக்கும்
தன்மையால் சதசத்து ஆமே.

58. கண்ணொளி விளக்கு அளித்துக்
காட்டிடும் என்னில் முன்னம்
கண்ணொளி ஒன்றும் இன்றாம்
விளக்கொளி கலந்து அவற்றைக்
கண்ணொளி அகல நின்றே
கண்டிடும் வேறு காணா
கண்ணொளி விளக்கின் சோதி
கலந்திடும் கருத்து ஒன்று அன்றே.

59. ஓர்இடத்து இருத்தல் மாயா
உருநிறைந் திடுதல் ஒன்றாம்
பேர்இடத்து உறைதல் தானே
பிறங்கு அறிவாகி நிற்றல்
சோர்வுடைச் சடம் நிகழ்த்தல்
எனும் இவை சொல்லார் நல்லோர்
ஓர்விடத்து உணரும் உண்மை
ஒளிதரும் உபலம் போலும்.

நான்காம் சூத்திரம்

அவத்தைத் தன்மை

60. எண்ண ஒன்று இலாது அதீதம்
எய்திய துரியத்து ஒன்று
நண்ணிடும் சுழுத்தி தன்னில்
நயந்துளது ஒன்று பின்னும்
அண்ணிடும் கனவு தன்னில்
ஆறேழாம் சாக்கி ரத்தில்
கண்உறும் அஞ்சு ஆறாய
கருவிகள் காணும் தானே.

61. இவ்வகை அவத்தை தன்னில்
எய்திடும் கரணம் எல்லாம்
மெய்வகை இடத்தில் உற்று
மேவுமா கண்டு மிக்க
பொய்வகைப் பவம் அகற்றப்
புரிந்திடில் அருளால் ஆங்கே
ஐவகை அவத்தை உய்க்கும்
அறிவினால் அறிந்து கொள்ளே.

62. நீக்கம்இல் அதீத மாசு
நிறைந்த கேவலமாம் நீர்மை
சாக்கிரம் கலாதி சேர்ந்த
சகலமாம் தன்மை யாகும்

சிவப்பிரகாசம்

நீக்கமில் இரண்டும் கூடாது
ஒழிய ஓர் நிலையில் நீடும்
சாக்கிர அதீதம் சுத்தத்
தகைமையது ஆகும் தானே.

ஐந்தாம் சூத்திரம்

உணர்த்தும் முறைமை

63. மருவிய பொறியில் ஒன்றும்
மாபூதம் ஐந்தில் ஒன்றும்
கருவிகள் நான்கும் நீங்காக்
கலாதிகள் ஐந்தும் கூடி
ஒருபுலன் நுகரும் இந்த
ஒழுங்கு ஒழிந்து உயிரும் ஒன்றைத்
தெரிவுறாது அவன் ஒழிந்து அத்
திரள்களும் செயல் இலாவே.

64. தனக்குஎன அறிவு இலாதான்
தான்இவை அறிந்து சாரான்
தனக்கு அறிவுஇலாத வாயில்
தான் அறியாது சார;
தனக்குஎன அறிவு இலாதான்
தத்துவ வன்ன ருபன்
தனக்குஎன அறிவானால் இச்
சகலமும் நுகரும் தானே.

65. கண்டுஅறி புலன்கள் காணும்
கருத்தினால் ஒருத்தன் ஞானம்
கொண்டுஉளம் அறியும் என்னில்
கொள்பவன் முதலி ஆகும்
மண்டிய உணர்வு உயிர்க்கா
மன்னிநின்று அறியும் என்னில்
உண்டிட வேண்டு வானுக்கு
ஒருவன்வேறு உண்டல் ஆமே.

66. இருள்நனி இரவி தான்வந்து
இரித்தலும் இரவில் என்னும்
பொருள்நிலை கண்டு மாந்தர்
பொருந்திடு மாறு போல
மருள்நிலை எங்கும் நீங்க
மகிழ்ந்துஉயிர் தன்னுள் மன்னும்
அருளையும் ஒழிய ஞாலத்து
அறிந்தவாறு அறியும் அன்றே.

67. அறிந்திடும் மனாதி வாயில்
ஆனவை அவன் தனாலே
அறிந்திடும் என்றும் ஒன்றும்
அறிந்திடா அவைபோல் யாவும்
அறிந்திடும் அறியும் தன்மை
அறிந்திடா கன்மத் தொன்மை
அறிந்து அவை நுகருமாறும்
அருளுவன் அமலன் தானே.

ஆறாம் சூத்திரம்

தன் உண்மை உணர்த்தும் தன்மை

68. காட்டிடும் கரணம் ஒன்றும்
இல்லையேல் காண் ஒணாதாம்
நாட்டிய இவற்றால் ஞானம்
நணுகவும் ஒன்னா முள்ளம்
ஈட்டிய தவத்தி னாலே
இறைஅருள் உருவாய் வந்து
கூட்டிடும் இவற்றை நீக்கிக்
குரைகழல் குறுகும் ஆறே.

ஏழாம் சூத்திரம்

ஞான வாய்மை

69. பல்நிறம் கவரும் தொன்மைப்
படிகநீடு ஒளியும் பன்மை
மன்இலங்கு இயல்பும் தந்த
வளர்ஒளி போல வையம்
தன்னகம் பயிலும் நற்சிற்
சடங்களின் தன்மை தாவா
நன்னலம் பெற நிறைந்த
ஞானமே ஞானம் என்பர்.

70. மாயைமா மாயை மாயா
வரும்இரு வினையின் வாய்மை
ஆயஆர் உயிரில் மேவும்
மருள்எனில் இருளாய் நிற்கும்
மாயைமா மாயை மாயா
வரும்இரு வினையின் வாய்மை
ஆயஆர் உயிரில் மேவும்
அருள்எனில் ஒளியாய் நிற்கும்.

எட்டாம் சூத்திரம்

ஞானவாய்மையின் பயன்

71. தேசுற மருவும் ஆன்ம
தெரிசனம் ஆன்ம சுத்தி
ஆசிலா ஆன்ம லாபம்
ஆகமூன்று ஆகும் மூன்றும்
பாசம் அதுஅகல ஞானம்
பற்றல்தான் பணியை நீத்தல்
ஏசில் நேயத்து அழுந்தல்
எனும்இவற்று அடங்கும் அன்றே.

ஆன்ம தரிசனம்

72. தன்அறிவு அதனால் ஏதும்
தனக்குஅறிவு இல்லையேனும்
தன்அறி வாக எல்லாம்
தனித்தனி பயன் அருந்தும்
தன்னறிவு அறியும் தன்மை
தன்னாலே தனை அறிந்தால்
தன்னையும் தானே காணும்
தான்அது ஆகி நின்றே.

73. தத்துவம் ஆன வற்றின்
தன்மைகள் உணரும் காலை
உய்த்து உணர்ந்திட உதிப்பது
ஒளிவளர் ஞானம் ஆகும்
அத்தன்மை அறியும் ஆறும்
அகன்றிட அதுவாய் ஆன்மா
சுத்தமாம் சுத்த ஞானத்து
ஒருமுதல் தோன்றும் அன்றே.

74. உறைதரும் உணர்வும் அன்றி
அதன்முதல் உள்ளது என்றுஇங்கு
அறைவது என்என்னில் அண்ணல்
அருள்எனும் அதுவே அன்றி
நிறைஒளி முதல்அது அன்றி
நின்றிடா நிமலன் ஆகும்
இறையவன் முதல் அவன்தன்
இலங்குஅருள் சத்தி ஆமே.

75. சுத்தமாம் சத்தி ஞானச்
சுடர்ஆகும் சிவம் ஒழிந்துஅச்
சத்திதான் இன்றாம் முன்னைத்
தகவுஇலா மலங்கள் வாட்டி

அத்தனை அருளும் எங்கும்
அடைந்திடும் இருள் அகற்றி
வைத்திடும் இரவி காட்டும்
வளர்ஒளி போல் மகிழ்ந்தே.

ஒன்பதாம் சூத்திரம்

ஆன்ம சுத்தி

76. புகல்அரும் அசத்தர் தம்பால்
பொருந்திய அலகையே போல்
அகிலமும் உணரும் ஈசன்
அருள்உயிர் மேவ லாலே
சகலமும் நிகழ வேண்டும்
தலைவன்ஐந் தொழிலும் தானே
இகல்அற இயற்றல் வேண்டும்
என்றது நன்றி இன்றே.

77. இன்றுநோக்கு உரை நடக்கும்
இயல்புஇலோர்க்கு இனைய வாய்ந்து
நின்றதோர் அலகை நேர்ந்தால்
நிகழ்வதுஎன் அதுபோல் உள்ளத்து
ஒன்றிய உணர்வு தம்பால்
உள்ளது நிகழ்த்தும் ஈசன்
தன்தொழில் நடத்தும் மேனி
தனக்குஎனக் கொண்டு தானே.

78. இந்நிலை தன்னில் மன்னி
எய்திடும் கலாதி போதம்
தன்அளவு அறிந்து நிற்கும்
தகவுஇலா மலங்கள் நீத்த
அந்நிலை கரணம் ஆகா
வகைஅதில் அறிவு அடங்கி
மன்னிட வியாபி யாய
வான்பயன் தோன்றும் அன்றே.

79. அடைபவர் சிவமே ஆகும்
அதுஅன்றித் தோன்றும் என்ற
கடன்அதுஏன் என்னில் முன்னம்
கண்டிடார் தம்மைப் பின்னும்
தொடர்வுஅரும் அருளி னாலும்
தோன்றுமா காணார் ஆயின்
உடையவன் அடிசேர் ஞானம்
உணர்தல்இன்று அணைதல் இன்றே.

தேசுறும் அதனால் முன்னைச்
சிற்றறிவு ஒழிந்து சேர்ந்து
நேசமோடு உயர் பரத்து
நிற்பது ஞான நிட்டை.

உபாய நிட்டை

85. விளம்பிய வகையில் நிட்டை
மேவிடல் அரிதேல் முன்னம்
அளந்துஅறிவு அளித்து அவற்றின்
அளவும்மற்று அவற்றி னாலே
உளம்கொளும் தனையும் உள்ள
படியும்உற்று உணர்ந்து செவ்வே
தளர்ந்திடாது உவப்ப மற்றுஅத்
தன்மையது ஆகும் தானே.

86. பாவிக்கில் மனாதி வேண்டும்
பயன்இலை கரணம் நீத்துப்
பாவிப்பன் என்னில் என்ன
பழுதுஉள பாவகத்தால்
பாவிக்க ஒண்ணான் என்று
பாவிப்பன் என்னில் நீஎன்
பாவிக்க வேண்டா ஆண்ட
பரன்அருள் பற்றி னோர்க்கே.

87. ஒன்றுஇரண்டு ஆகி ஒன்றின்
ஒருமையாம் இருமை ஆகி
ஒன்றில்ஒன்று அழியும் ஒன்றாது
என்னில்ஒன்று ஆகா தீயில்
ஒன்றுஇரும்பு உறழின் அன்றாம்
உயிரின்றுந் தொழிலும் வேண்டுமா
ஒன்றிநின்று உணரும் உண்மைக்கு
உவமை ஆணவத்தோடு ஒன்றே.

88. அழிந்திடும் பாசம் என்னில்
நித்தம்என்று' உரைத்தல் வேண்டா
அழிந்திடாது என்னில் ஞானம்
அடைவது கருதல் வேண்டா
அழிந்திடும் சத்தி நித்தம்
அழிந்திடா ஒளியின் முன்னர்
அழிந்திடும் இருளும் நாசம்
அடைந்திடா மிடைந்திடாவே.

:

சிவப்பிரகாசம்

89. எல்லைஇல் பிறவி நல்கும்
இருவினை எரிசேர் வித்தின்
ஒல்லையில் அகலும் ஏன்ற
உடல்பழ வினையது ஊட்டும்
தொல்லையில் வருதல் போலத்
தோன்றுஇரு வினையது உண்டேல்
அல்ஒளி புரையும் ஞானத்
தழலுற அழிந்து போமே.

ஐந்தெழுத்து அருள் நிலை

90. பந்தம் ஆனவை அறுத்துப்
பவுதிகம் உழலும் எல்லைச்
சந்தியாது ஒழியாது இங்குத்
தன்மைபோல் வினையும் சாரும்
அந்தம் ஆதிகள் இலாத
அஞ்சுஎழுத்து அருளி னாலே
வந்தவாறு உரைசெய் வாரை
வாதியா பேதி யாவே.

91. திருவெழுத்து ஐந்தில் ஆன்மா
திரோதம்மாசு அருள் சிவம்சூழ்
தரநடு நின்றது ஒன்றாம்
தன்மையும் தொன்மை ஆகி
வரும்மந மிகுதி யாலே
வாசியில் ஆசை இன்றிக்
கருவழிச் சுழலும் மாறும்
காதலார்க்கு ஓத லாமே.

92. ஆசுறு திரோதம் மேவாது
அகலுமா சிவ முன்னாக
ஓசைகொள் அதனில் நம்மேல்
ஒழித்துஅருள் ஓங்கும் மீள
வாசியை அருளும் மாயா
மற்றுஅது பற்றா உற்றுஅங்கு
ஈசனில் ஏகம் ஆகும்
இதுதிரு எழுத்தின் ஈடே.

பதினோராம் சூத்திரம்

அணைந்தோர் தன்மை

93. தீங்குறு மாயை சேரா
வகைவினை திரிவிதத்தால்
நீங்கிட நீங்கா மூல
நிறைஇருள் இரிய நேயத்து

ஒங்குஉணர்வு அகத்து அடக்கி
உளத்துள்இன்பு ஒடுங்க நேரே
தூங்குவர் தூங்கி ஏகத்
தொன்மையில் துகள் இலோரே.

94. குறிப்பிடம் காலம் திக்கு
ஆசனம்கொள்கை குலம் குணம்சீர்
சிறப்புறு விரதம் சீலம்
தபம்செபம் தியானம் எல்லாம்
மறுத்துஅற ஒழிதல் செய்தல்
மருவிடா மன்னு செய்தி
உறக்கு உறுபவர்போல் வாய்மை
ஒழிந்தவை ஒழிந்து போமே.

95. அகம்புறம் என்று இரண்டால்
அர்ச்சனை புரியும் இந்தச்
சகம்தனில் இரண்டும் இன்றித்
தமோமயம் ஆகி எல்லாம்
நிகழ்ந்திட மகிழ்ந்து வாழும்
நீர்மையார் போல ஞானம்
திகழ்ந்துஅகம் புறம் எனாத
செம்மையார் நன்மை யாரே.

ஞானயோகம்

96. அண்டம் மேவிட அனைத்தும்
அனைத்தையும் அண்டம் மேவிக்
கொண்டல்போல் எவையும் ஞானம்
குறைவுஇலா நிறைதலாலே
கண்டதோர் பொருளை அந்தக்
கருத்தினால் காணில் தானே
அண்ட நாயகனார் மேனி
ஆனதேல் ஐயம் இன்றே.

ஞானக் கிரியை

97. மண்முதல் கரணம் எல்லாம்
மறுஅசத்து ஆக்கி ஞானக்
கண்ணினில் ஊன்றி அந்தக்
கருத்தினால் எவையும் நோக்கி
எண்ணிஅஞ்சு எழுத்தும் மாறி
இறைநிறைவு உணர்ந்து போற்றல்
புண்ணியன் தனக்கு ஞான
பூசையாய்ப் புகலும் அன்றே.

பன்னிரண்டாம் சூத்திரம்

ஞானச் சரியை

98. தொண்டர்கள் இடத்தும் வானோர்
தொழும்திரு மேனி தானும்
அண்டரும் கண்டி லாத
அண்ணலே என வணங்கி
வெண்தர ளங்கள் சிந்த
விழிமொழி குழற மெய்யே
கண்டுகொண்டு இருப்பர் ஞானக்
கடல்அமுது அருந்தி னோரே.

நூல்கருத்து

99. நிலவு உலகாயத ஆதி
நிகழ் சிவாத்துவித அந்தத்துக்
குலவினர் அளவு அளாவாக்
கொள்கையது ஆகி வேதத்
தலைதரு பொருளாய் இன்பாய்த்
தாவில் சற்காரியத்தாய்
மலைவுஅறும் உணர்வால் பெத்த
முத்திகள் மதித்தாம் அன்றே.

நூல் உபதேச முறைமை

100. திருவருள் கொடுத்து மற்றுஇச்
சிவப்பிர காச நன்னூல்
விரிவது தெளியும் ஆற்றால்
விளம்பிய ஏது நோக்கிப்
பெருகிய உவமை நான்கின்
பெற்றியில் நிறுவிப் பின்முன்
தரும்மலைவு ஒழியக் கொள்வோன்
தன்மையில் சாற்றல் ஆமே.

சிவப்பிரகாசம் முற்றிற்று

'शिवप्रकाशम्' मूल रूप से तमिल भाषा में रचित है, जो कि 'शिवज्ञानबोधम्' एवं 'शिवज्ञानसिद्धपार' पर पूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है। यह ग्रन्थ शैव सिद्धान्त के मुख्य तत्त्वों का एक अद्‌भुत संग्रह है जिसमें सन्त उमापति शिवाचार्य द्वारा प्रतिपादित शैव सिद्धान्त का समावेश है। भारतीय धर्म दर्शन में शिवत्त्व की महत्ता अनवरत वन्दनीय रही है। जीवन के शाश्वत मूल्यों से जुड़े पक्षों की विवेचना का स्वरूप इस ग्रंथ में समाहित है। शैव दर्शन के सिद्धान्तों की यह कृति अपने में धर्म से लेकर आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं को भी समेटे है। इतना ही नहीं वाह्य और अंतर सिद्धांत, कर्म योग से लेकर शुद्ध माया तत्त्व तक की बृहद् चर्चा इस ग्रंथ में है। विदुषी डॉ. रमा घोष स्वयं दर्शन शास्त्र की आचार्या रही हैं उन्होंने स्व. कृष्णमूर्ति अय्यर से 'शिवप्रकाशम्' की तमिल भाषा में उपलब्ध व्याख्या को पढ़कर हिन्दी में भावार्थ एवं व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है जिसमें उन्होंने हर पक्ष को बहुत संयत ढंग से सँजोकर पिरोया है।

डॉ. रमा घोष



स्व. डॉ. रमा घोष धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में एक प्रसिद्ध विदुषी [illegible] ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में मास्टर्स डिग्री प्राप्त की। वर्ष १९७३ में उन्हें बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में सर्वश्रेष्ठ शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने के लिए 'बुच' पुरस्कार से सम्मानित किया गया। शैव सिद्धान्त पर शोध करने वाली एकमात्र विदुषी महिला डॉ. घोष बंगाल के बहुत सम्मानित परिवार से आती हैं। उन्होंने अपना पूरा जीवन अकादमिक क्षेत्र में वाराणसी के आर्य महिला पीजी कॉलेज में एसोसिएट प्रोफेसर के रूप में सेवा प्रदान की। उनका सम्पूर्ण जीवन भारतीय संस्कृति और दर्शन को समर्पित रहा।

PILGRIMS
PILGRIMS PUBLISHING
◆ Varanasi ◆
www.pilgrimsonlineshop.com
www.pilgrimspublishing.in

ISBN 978-93-5076-145-8
9 789350 761458